श्रेष्ठिदेवचन्द्र-लालभाई-जैनपुस्तकोद्धारके ग्रन्थाङ्कः १०५

श्रीमद्भद्रबाहुस्वामिप्रणीता सभाष्या श्रीजयकीर्तिसूरिशिष्यश्रीक्षमारत्नसूत्रिताऽवचूर्युपेता

श्रीपिण्डनिर्युक्तिः।

श्रीवीरगणिरचितायाः शिष्यहितायाः श्रीमाणेकशेखरसूरिकृताया,दिपीकाया आद्यन्तभागौ च।

सम्पादकः—आगमोद्धारकाणां उपसंपदाप्राप्तमुनिकंचनविजयः।

प्रसिद्धिकारक —सुरतवास्तव्यश्रेष्ठिदेवचन्द्रलालभाईजैनपुस्तकोद्धारकोशस्य
कार्यवाहकः–मोतीचंद मगनभाई चोकसी

वीरसं २४८४ विक्रमः २०१४ शाके १८८० खिस्ताब्दः १९५८

प्रथमं संस्करणम् निष्कयं रुप्यकत्रयम् प्रतयः ५००

१ ॥

इदं पुस्तकं श्रेष्ठि-देवचन्द्र-लालभाई-जैन-पुस्तकोद्धारसंस्थाया कार्यवाहक-मोतीचंद-मगनभाई-चोकसी
इत्यनेन भावनगर्यां महोदयमुद्रणमन्दिरे शा. गुलाबचंद लल्लुभाई द्वारा मुद्रापितम् ।

Printed by Gulabchand Lalubhai S'ha at the "Mahodaya Printing Press"
Danapetha, Bhavnagar (Saurashtra).

Published for Sheth Devachand Lalbhai Jain Pustakoddhar Fund, at Sheth Devchand Lalbhai Jain Boarding House for (Shree Ratnasagar Jain Boarding) Badekhan Chakla, Gopi-Pura Surat, by Hon : Trustee Motichand Maganbhai Chokasi

॥ १ ॥



श्रेष्ठी देवचन्द् लालभाई जव्हेरी.

जन्म १९०९ वैक्रमाब्दे कार्तिकशुक्लैकादश्यां (देवदीपावली सोमवासरे) सूर्यपूरे	निर्याणम् १९६२ वैक्रमाब्दे पौषकृष्णतृतीयायाम् (मकरसंक्रान्तमन्दवासरे) मुम्बय्याम्

The Late Sheth Devchand Lalbhai Javeri

Born 22nd Nov 1852 A D Surat,	Died 13th January 1906 A D Bombay

1000–11–1953

N S P

Sheth Devachand Lalbhai Jain Pustakodhar Fund, Series No. 105

Shree Pindaniruktihi

By

Shreemad Bhadrabahu Swami

Commentary By

Shree Kshamaratna Maharaj

Price Rs. 3--0--0

Vikrama Samvat 2014 Christian 1958

विषयसूची

॥ २ ॥

प्रकाशकीय निवेदन.

मलकना पिता श्रीशय्यंभवसूरिने नमस्कार करीने जणाववानु के मूळ सूत्रनी अंदर आवेला श्रीदशवैकालिकसूत्रमां पांचमु अध्ययन पिण्डैषणा नामनु छे तेनी निर्युक्ति श्रीभद्रबाहुस्वामी महाराजे करी पण ते निर्युक्ति मोटी होवाथी तेने जुदा ग्रंथरूपे राखी ते आ पिण्डनिर्युक्ति नामनो ग्रंथ छे

पिण्डनिर्युक्ति श्रीमलयगिरि महाराजनी टीका सहितनी पूर्वे अमारी संस्थाए ग्रन्थांक ४४ तरीके छपावी छे अने अत्यारे आ क्षमारत्ननी अवचुरि तेनी बीजी टीका ने दीपिकाना आदि अंत भाग साथे ग्रन्थांक १०५ तरीके छपावी छे

अमारी आ श्रेष्ठिदेवचंद्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धारक फंड नामनी संस्था श्रुतज्ञानना प्रकाशन माटे जे उद्देशथी स्थपाई छे, ते उद्देशे आज सुधीमां १०४ ग्रंथो प्रगट करी शकी छे अने १०५ मा श्रीपिण्डनिर्युक्तिअवचुरी नामना ग्रंथने प्रगट करे छे

परमपूज्य ध्यानस्थस्वर्गत आगमोद्धारक आचार्य श्रीआनंदसागरसूरीश्वरजी महाराजनी इच्छा एवी हती के अवचुरीनु साहित्य प्रगट थवु जोईए ए हेतुथी अने आगमपंचांगीना जे कोई अद्यावधि अमुद्रित ग्रंथो होय ते ग्रंथोने मुद्रित करावया उद्यम करवा नक्की कर्यु छे.

पिण्डनिर्युक्तिनु अवतरण, विषयः—सावद्य अने निरवद्य एवो आहार होय छे, परंतु मुनिराजोने निरवद्य एवो आहार लेवा लायक छे तेनु निरूपण करनारो ते आ ग्रंथ—आगम, ते पिण्डनिर्युक्ति. आनी अंदर पिण्डना उद्गम, उत्पादना, एषणा अने

ग्रासैषणाना दोषोनुं निरूपण करवामां आव्युं छे. ते दोषो टाळेली जे भिक्षा छे, ते भिक्षा संयमने गुणकारी छे. ते वात आ ग्रंथमां निरूपण कराइ छे.

पिण्डनिर्युक्तिना कर्ता श्रीभद्रबाहुस्वामी छे. तेनी निर्युक्ति गाथाओ ६७१ अने भाष्य गाथा ३७ छे. आनी श्रीमलयगिरिजीनी वृत्ति ६७०० श्लोकप्रमाण छे. ए निर्युक्ति, भाष्य अने वृत्ति आगमोद्धारक आचार्य श्रीआनंदसागरसूरिजीए संपादित करेली, अमारी ग्रंथमाळाना ४४ मा ग्रन्थाक तरीके प्रसिद्ध करवामां आवेली छे.

वृत्तिः—आचार्य श्रीहरिभद्रसूरिए आनी उपर शिष्यहिता नामनी टीका ग्रंन्थाग्र १३५० सुधी रची हती, बाकी रहेली श्रीदेवाचार्यना शिष्य वीराचार्ये १७५० श्लोकप्रमाण रची. आथी ते वृत्ति ३१०० श्लोकप्रमाण थई. तेनो आदि अने अंत भाग आ ग्रन्थना परिशिष्ट ९ मां आपवामां आवेलो छे.

चंद्रगच्छः—चंद्रगच्छीय सर्वांरगच्छीय ईश्वरगणिना शिष्य वीरगणिए दधीप्रद(दाहोद) मां ७६९१ श्लोकप्रमाणनी आनी वृत्ति रची छे. तेमां तेमना गुरुभाइओ महेन्द्रसूरि, पार्श्वदेवगणी, देवचंद्रगणी आधारभूत हता. आ वृत्तिने नेमिचंद्रसूरिए तथा जिनदत्तसूरिए अणहिलपूरपाटणमां संशोधन करी हती. तेनो रचना सं. ११६९ छे. आ प्रत हालमां छाणीना भंडारमां ताडपत्र उपर छे.

दीपिकाः—अंचलगच्छीय मेरुतुंगसूरिजीना शिष्य माणेक्यशेखरनी श्लोक २८३२ नी छे. जेनो आदिअंत भाग परिशिष्ट १० मां आपवामां आवेलो छे.

अवचुरीः—जयकीर्तिसूरिना शिष्य श्रीक्षमारत्नजीए रची छे जे अहीं आ ग्रन्थरूपे छे प्रसिद्ध करवामां आवे छे

बीजी एक वृत्ति जेना कर्तानो निर्देश नथी तेथी चार हजार श्लोकप्रमाण छे ते जेसलमेर, पाटण, सूरतना भंडारोमां उपलब्ध थशे

गुजराती भाषांतरः—मलयगिरिजीनी वृत्ति सहितनु गुजराती भाषांतर मुनिमहाराज श्रीहंससागरजी महाराज संस्कारित करी रह्या छे जे श्रीहंससागरजी म०ना पुण्यमां प्रसिद्ध थवा संभव छे

शिला-ताम्रपत्रः—पालीताणा आगममंदिरमां अने सूरत ताम्रपत्रआगममंदिरमां पिंडनिर्युक्ति मूळ मात्र क्रमे शिलामां अने ताम्रपत्रमां आरूढ थयुं छे

आ उपर प्रमाणेनु पिण्डनिर्युक्ति ग्रन्थना अंगेनु प्रोफेसर वेलणकरनु संपादन जिनरत्नकोषना आधारे छख्यु छे

आ पिण्डनिर्युक्ति अवचुरीने छपाववा माटे आगमोद्धारक आचार्य श्रीआनंदसागरसूरीश्वरजीना शिष्य मुनिमहाराज श्रीगुणसागरजी महाराजे प्रेसकोपी आपी हती अने मुनिराज कंचनविजयजी तथा मुनिराज क्षेमंकरसागरजी महाराजने आ ग्रंथ संपादननु कार्य सोंप्यु हतु, परंतु बे त्रण फरमा जेटलु कार्य थतां मुनि श्रीक्षेमंकरसागरजीनु स्वर्गगमन* थतां बाकीनु बधु कार्य मुनि कंचनविजयजीने ज पूरु करवु पड्यु छे

---

* संपादन कार्य चालतु हतुं ते अरसामां हींगनघाटथी कपडवणज आवतां रावली मुकामे (कपडवणजथी १५ माइल दूर) २०११ ना चैत्र वदी ०)) नी रात्रे अगीयार वागे टेरी आनवरना हाथथी मुनिश्रीक्षेमंकरसागरजी अवसान पाम्या तेओ उत्साही संशोधक मुनि हता तेओथी आचार्य

आ ग्रंथना गाथाना अकारादि विगेरेनां परिशिष्टो आठ आपेलां छे, तेमज अमुद्रित साहित्य तरीके जे वीरगणिए आनी उपर शिष्यहिता नामनी टीका रचीछे तेनो आदि अने अंत भाग परिशिष्ट नवमामां आपेल छे. जो के आखी टीका छपाय ते तो सारुं ज कहेवाय. वळी माणेक्यशेखरनी करेली दीपिका अमो मेळवी शक्या छीए, तेनो पण आदि अने अंत भाग परिशिष्ट दशमामां आप्यो छे. आवी रीते ते ते ग्रंथोमां तेनुं संपूर्ण साहित्य आपवुं उचित गणीये छीए.

विनंति—अमारी आ संस्था हालमां आगम पंचांगीना अप्रगट ग्रंथो प्रगट करवानी भावना राखे छे. जेथी श्रीश्रमण-संघने अमारी विनंति छे के जेओनी पासे तेवा ग्रंथोनी प्रेसकोपीओ होय, अगर अमे जे नामावळी अप्रगटनी बहार पाडी छे, ते सिवायनो कोई ग्रंथ पंचांगीमांनो अप्रगट जाणमां होय तो अमोने जणावे. जे मुनिराजाओने ते ग्रंथो पैकी कोई ग्रंथ संपादन करवानी इच्छा होय तो अमने जणावे, के जेथी अमारी आ संस्था ते कार्यमां आपनो सहकार ले अने बने तेटला वधारे ग्रंथो प्रगट करी शके.

आ ग्रंथना पृष्ठ १२० मां जे पुष्पिका बीजी मूकी छे, ते आचार्य श्रीकमलसूरिपुस्तकोद्धारकफंड तरफथी जेसलमेरनी प्रत उपरथी उतरावेली प्रतनी छे. आ रीते आ फंड तरफथी उतरावेली प्रतो छपाववाना उद्यमनी जरुर छे. जेमां अनेक अप्रगट ग्रंथो

श्रीआनंदसागरसूरीश्वरजीना समुदायमां उगता भानु गना हता. तेओश्रीए अमारी संस्थाना पन नीचे प्रमाणेना प्रकाशनोमां मुनिश्रीकनकविजयजीनी साथे संपादनकार्य कर्युं छेः–पंचाशकचूर्णी, वंदनप्रतिक्रमणअवचुरी, दशवैकालिकअवचुरी, अल्पपरिचितसैद्धान्तिकशब्दकोश भा० १लो. आ माटे संपादकश्रीए तेमना अंगे जुदी फुटनोट लखी छे. अमारी संस्था पन तेमना अवसान बदल खेद जाहेर करे छे अने तेमना आत्माने शांति इच्छे छे.

छपायेला पण छे.

आ ग्रंथना प्रकाशनमां अमोने जेमणे सहाय करी छे अने संपादनमां पण जेमणे जेमणे सहाय करी छे ते सर्वेनो अमो ट्रस्टीओ आ स्थळ तरफथी आभार मानीए छीए आ ग्रंथमां दृष्टिदोषथी के कोई कारणथी अशुद्धि रहेवा पामी होय तो शुद्ध करवा हमारी विनती छे.

लि० भवदीयः—
मोतीचंद मगनभाई चोकसी
लि० संस्थाना ट्रस्टीओ.

२०१४ कार्तकी पूर्णिमा.

संपादकीय निवेदन

श्रमण भगवान महावीर महाराजना शासनमां शासननी स्थापना वखते द्वादशांगीनी रचना कराई, तेमज समये समये चौद पूर्वधर विगेरेए अनेक आगमो रच्यां. तेनी अंदर शासन ज्यां सुधी चाले त्यां सुधी एटले के लगभग पांचमा आराना छेडा सुधी आवश्यक क्रिया विगेरे साधुनो आचार रहे, आथी जे सूत्रो आवश्यक उपयोगी तेवा चार सूत्रो जे दीर्घकाल रहेवानां छे, तेने मूळसूत्र तरीके संज्ञा आपी. तेनी अंदर आवेला श्रीदशवैकालिकसूत्रनी श्रुतकेवली मनकना पिता श्रीशय्यंभवसूरिए रचना करी छे.

आ श्रीदशवैकालिकनी अंदर छ महिना शेष आयुष्यवाळा एवा आठ वरसना मनकमुनि भणी शके अने समजी शके तेवी सरळ रचना कराइ छे. तेमां दश अध्ययनो छे अने पाछळथी बे चुलिकाओनो उमेरो थयो छे. आ श्रीदशवैकालिक उपर श्रीभद्रबाहुस्वामी महाराजे निर्युक्ति रची. तेमां पांचमुं अध्ययन पिण्डैषणा छे. जेमां साधुने आ शरीर टकाववाने माटे, संयम पाळवाने माटे आहारनी जरुर पडे तेथी आहार कया प्रकारे लाववो जोइए ते विगेरे व्यवस्थानी साधुने जरुर रहे. तेने जणावनार आ अध्ययन छे.

आथी श्रीभद्रबाहुस्वामी महाराजे आ अध्ययनती विस्तारपूर्वक निर्युक्ति करी अने विस्तारपूर्वकनी निर्युक्ति होवाना कारणे जुदा ग्रंथ तरीके ते राखी, तेनुं पिण्डनिर्युक्ति एवुं नाम राख्युं.

श्रीमलयगिरि महाराजनी टीका साथेनी पिंडनिर्युक्ति आ संस्थाए विक्रम सं. १९७४ मां आगमोद्धारक गुरुदेवश्री पासे संपादन करावी हती. पिण्डनिर्युक्ति उपरनी आ अवचुरी छे. अवचुरीका श्रीमान्क्षमारत्नजीए रची छे. अवचुरीनो उपसंहार

करती वखते अवचूरिकारे एक गाथा जणावी छे के—" गंभीर अर्थवाळी एवी मोटी वृत्तिने जोईने में आ प्रगट अर्थवाळी बनावी (अवचुरी पृष्ठ १२०) अर्थात् अवचुरीकारे मोटी वृत्तिने अनुसरीने आ अवचुरी रची छे

श्रीवीरगणिये शिष्यहिता नामनी वृत्ति रची छे ते वृत्तिने अनुसरीने आ अवचुरी रचाइ होय एवु कइ पण अनुमान थाय तेवुं नथी. वीरगणि जे पदवार टीका रचे छे, ते पद्धति मलयगिरि महाराजनी वृत्तिथी तद्दन निराळी छे परंतु आ अवचुरीकारे जे अवचुरी रची छे, ते मलयगिरि महाराजनी वृत्तिने अनुसरे छे जे जे स्थळे जोवानी जरुर पडे छे, ते ते स्थळे मलयगिरि महाराजनी वृत्तिने आधीने सुधारो करी शकाय छे सुज्ञजन आ अवचुरिने मलयगिरि महाराजनी वृत्ति साथे जो मेळवशे तो घणां केटलांये स्थळो मळशे के जे मलयगिरि महाराजनी वृत्तिने अक्षरे अक्षर मळतां आवशे, एटले " आ वृत्ति मोटी वृत्तिने अनुसरीने करी छे " एम जणाववाथी मलयगिरि महाराजनी वृत्तिने अनुसरीने करी छे एमज मानी शकाय

कर्ता—आ अवचुरीना कर्ता विधिपक्षगच्छना श्रीजयकीर्तिसूरिना शिष्य श्रीक्षमारत्नजी महाराज छे तेमणे आ अवचूरि क्यारे रची ते विषे खुलासो अवचूरिमां नथी. तेनु प्रमाण पाटणनी जे प्रत आधारे प्रेसकोपी थइ छे तेना आधारे १००१ नु छे. ज्यारे जेसलमेरनी प्रतना आधारे प्रमाण २८३२ छे

आनी प्रेस कोपी स. १९८२ मां शुक्लेवजीए पाटणमां करावी हती के जेना आधारे आ अवचुरी छपाववामां आवी छे आ प्रेसकोपी अमारे हींगनघाटमां स. २०१० मां शुद्ध करवी पडी हती आनी प्रेसकोपी अने आचार्यश्रीविजयकमलसूरीश्वरप्राचीन हस्तलिखित-पुस्तकोद्धारक तरफथी जेसलमेरनी प्रत उपरथी उतरावेली आ अवचुरीनी प्रत श्रीजैनानन्दपुस्तकालय(सुरत)मां

हती तेने पण प्रेसकोपी शुद्ध करती वखते साथे राखवामां आवी हती. जो के जेसलमेर उपरथी उतरावेली प्रत घणीज अशुद्ध हती, परंतु पाटणनी जे प्रत उपरथी प्रेसकोपी थई हती, ते प्रतमां कोई कोई जग्याए पाठो पडेला हता जे फंडनी प्रतमां हता. आथी ते पाठो चालुमां जरुरी छे एम मानि अमे ते पाठोने < > आवुं चिह्न आपी चालु अवचुरीमां आप्या छे.

गाथाओनी तुलनाः—अवचुरीकारे अने टीकाकारे जे गाथाओ मानी छे, तेनो सन्तुलन आ रीते थाय छे. पिण्डनिर्युक्तिमां निर्युक्ति गाथा ६७१ छे, भाष्य गाथा ३७ छे अने अनिर्दिष्टांक गाथा २ छे.

वीरगणिनी जे टीकावाली प्रत छे, तेमां गाथाओ आखी आपवामां आवी छे. अने भाष्य तेमज निर्युक्तिनी गाथाना संलग्न अंक आपवामां आव्या छे.

समजुतिः—गाथा २४२ (पृष्ठ ४८) पछी "छकायए" एम अवचुरीकारे गाथा मानी छे. पण ते गाथा आखी आपी नथी.

गाथा ३९१ (पृष्ठ ७३) " छन्नंमि " गाथा कोइ जगाए देखाती नथी एम अवचुरिकार कहे छे, पण मेलयगिरि महाराजे तेमज वीरगणिए तेनी व्याख्या करी छे.

गाथा ५४४ (पृष्ठ १००) नी टीकामां " पयमम " एम करीने अडधी गाथा अवचुरीकारे साक्षिमां आपी छे, पण मलयगिरि महाराजे मानेली गाथाओनी साथे आ गाथानो क्रम राख्यो छे तेथी फुटनोटमां संपूर्ण गाथा आपी छे अने तेनो अंक पण लीधो छे.

---

१ जुओ मलयगिरिटीका पत्र ११६.

गाथा ६०९ (पृष्ठ ११०)मां जे फुटनोट आपवामां आवी छे ते आगमोद्धारकश्रीए करेली छे.

गाथा ६३९ (पृष्ठ ११४) नी पछी " सज्जो " एम गाथा मानी तेनी अवचुरी करी छे पण आखी गाथा आपी नथी तेथी अमो आखी गाथा आपी शक्या नथी, तेमज अंक पण अमे गण्यो नथी

गाथा ६६४ (पृष्ठ ११८) ' इरिय ' एवी गाथा अवचुरीकारे मानी होय तेवुं लागतुं नथी परंतु मलयगिरि महाराजनी टीकाना अंको कायम राखवा माटे ते गाथानो अंक अने गाथा अमे आप्या छे

गाथा ६६८ (पृष्ठ ११९) " एएहिं " एम करीने अवचुरीकारे आखी गाथा आपी छे पण व्याख्या करी नथी मलयगिरि महाराजे ए गाथा मानी नथी, पण वीरगणिनी वृत्तिमां ए गाथा छे

आ रीतनी गाथाओनो समन्वय थाय छे

आनी अंदर मूळ तरीके जे अंगीकार कर्युं छे ते शिकाना आगम माटे तैयार करेली प्रतना आधारे लीधेलुं छे. < > आवी निशानीनी अंदर जे पाठ आपवामां आव्यो छे ते पाठ जेसलमेर नगरथी संवत २००८मां उतरावेली प्रतमांनो अवरी पाठ छे आवी अ तेने चालुमां लीधो छे ( ) आवा चिह्ननी अंदर जे पाठ आप्यो छे ते मलयगिरि महाराजनी टीकाना आधारे अवरी मानीने आप्यो छे [ ] आवाचिन्ह अंदर जे आपवामां आव्युं छे ते ते प्रतमां छे [illegible] पण बधबेसे तेवुं नथी

पिंडनिर्युक्तिमां (१)पिंडनुं निरूपण, (२)उद्गमना दोषो, (३)उत्पादनाना दोषो, (४)एषणाना दोषो अने (५)ग्रासे

१ जुओ मलयगिरि टीका पत्र १९५.

२

पणानो विषय छे. क्रमे गाथा ७२, ४०३, ५१५, ६२८, अने ६७१ मीए ते विषयो पूरा थाय छे.

परिशिष्ट १-८—पिंडनिर्युक्तिनी अंदर आ विषय उपरांत संपूर्ण विषयनी माहिति मळी शके ते माटे ग्रंथनी शरुआत पहेलां नंदीआदिना विषयानुक्रमना आधारे विषयानुक्रम आपवामां आव्यो छे. आ अवचूरिने शृंगारवा माटे तेमज अंदर आवेली वस्तुओनी माहीती मळे ते हेतुथी अवचूरि पछी आठ परिशिष्टो आपवामां आवेलां छे. ते आ प्रमाणे १-गाथाओने अकारादिक्रम, २-भाष्य गाथानां प्रतीक, ३-साक्षी ग्रन्थो, ४-साक्षी पाठोनो अकारादि, ५-व्याकरणआदि, ६-'अन्ने' विगेरे, ७-नामोनो अकारादि अने ८-उदाहरणोनां नामादि.

परिशिष्ट ९—वीरगणिनी शिष्यहिता नामनी वृत्तिनो आदिअंत भाग अहिं परिशिष्ट ९ मां आपवामां आव्यो छे. तेनी मूळ प्रत पाटणना भंडारनी मूळ गाथा सहितनी वृत्तिवाळी छे. आ प्रत पडिमात्रानी छे परंतु एटली बधी अशुद्ध छे के मारा क्षयोपशमना आधारे बने तेटली शुद्धि करतां पण एमां अशुद्धिओ पारावार रहेवा पामी छे, तो विद्वद्जनो बीजी प्रतनो समन्वय करीने शुद्ध करशे, एवी आशा तो जरुर रखाय.

अवचूरिनी अंदर परिशिष्ट तरीके विशाळकाय वृत्तिनो आदि अंतभाग आपवो ए खरेखर व्याजबी नथी, परंतु आ पण एक अद्यावधि अमुद्रित भंडारोमां सुरक्षित रहेली प्रत छे, एम जणाववाने माटे ए अयोग्य न गणाय.

परिशिष्ट १०—अंचलगच्छीय श्रीमेरुतुंगसूरिना शिष्य श्रीमाणिक्यशेखरसूरिए जे दीपिका रची छे, तेनो आदि अने अंतभाग आना परिशिष्ट१०नी अंदर आपवामां आव्यो छे. दीपिकाकार पोते ज ए वात जणावे छे के मलयगिरि महाराजनी

वृत्तिने जोड़ने में आ रची छे. जुओ परि० १० पृ १७७ प्र० श्लो० २ पटलु ज नहि पण मने मेळववा पणु देखाय छे के दीपिकानो घणो ज मोटो भाग मलयगिरि महाराजनी वृत्तिना अक्षरे अक्षर ज छे ते वात चोक्कस छे के दीपिकाकारे कईक कईक संक्षेप कर्यो छे

परिशिष्ट १०मां आपेलो दीपिकानो आदिअवभाग छे ते पूनानी प्रत परथी उतरावावामां आव्यो छे. ते प्रत त्रिपाठी के पचपाठीवाळी होवी जोइए कारण के तेनी प्रेसकोपी मूळ गाथाओना गुच्छक बायेली छे मारा हाथमां आ प्रत आवेली नथी, पण प्रेसकोपी परथी ए कोई प्रकार लेवुं छे आ प्रत पडिमात्रानी होय तेवो संभव छे ए प्रत कोई संयोगोमां दरेक पाने तुटेली या घसाइ गयेली छे जेथी जगो जगो पर चालु दीपिकामां त्रुटकता थई जाय छे आने जणाववा माटे अमे त्यां × × आवु चिह्न आप्यु छे

कोई शंका करे के आदि ने अंतभाग आपवो अने तेमा वची आखु त्रुटकपणु आपवु, ते कांइ योग्य छे ? आनु कहेवानुं जणाववु पडे के जे अवचूरि छपावीए छीए ते पंचागीना अमुद्रित साहित्यने मुद्रित कराववाना उद्देशथी छे, एटले आ दीपिका भंडारोमां पडेली अमुद्रित हती अने ते आ स्वरूपनी छे, ते जणाववा माटे आ अमारो प्रयत्न छे कोई भाग्यशाळी परिशिष्ट ९ अने १० मां आपेली वृत्ति अने दीपिकाने संपूर्ण छपाववानु करीने ज्ञान उपासनानो लाभ लेशे, एवी मारी आशा खोटी न गणाय.

बीजी जे एक वृत्तिनो प्रोफेसर वेलणकरमां जे निर्देश करवामां आवे छे, के जेनु प्रमाण ४००० श्लोक गणाववामां आवे छे अने जेमां जेसलमेर, पाटण, सुरतनो निर्देश करवामा आवे छे ते खरेखर ४००० श्लोकप्रमाण नहि परंतु ३००० श्लोकना प्रमाणनी अने क्षमारत्नजीवाळी अवचूरि ज होवी जोईए कारण के जेसलमेरनी प्रत परथी जे प्रत उतरावीने सुरत मूकवामां

आवी छे, ते क्षमारत्नजीवाळी ज छे. तेमज पाटणनी प्रत परथी जे प्रेसकोपी थई छे, के जेनो उपयोग अमे आ अवचूरि छपाववामां कर्यो छे. ते पण तेमनी ज छे. आथी ए त्रणे स्थळनी प्रतो जे अन्य वृत्तिना नामे निर्देश करी छे, ते भिन्न न होतां क्षमारत्नजीवाळी अवचूरि केम न होय ?

शंकाः—आचार्य श्रीहरिभद्रसूरिए 'स्थापना' द्वार सुधीनी शिष्यहिता नामनी टीका रची, तेने वीराचार्ये संपूर्ण करी, एम वीरगणि पोतानी टीकानी शरुआतनी '६-७-८' गाथाथी जणावे छे. ज्यारे पोते एटले ईश्वर गणिना शिष्य वीरगणिए '७६११' प्रमाण अहिं परिशिष्ट ९ मां आद्यंत भागमां आपेलो छे. एवी वृत्ति रची छे. तेओ उपली वृत्तिने अनुसरिने आ रचुं छुं, एम टीकानी '१०'मी गाथामां बोल्या छे. वळी टीकानी पूर्णाहुति तथा प्रशस्तिनी समाप्ति करतां शिष्यहिता एवुं नाम वे स्थानमां बोले छे. तो शिष्यहितावृत्ति पू. हरिभद्रसूरिनी के आ वीरगणिनी ? विज्ञा एवा प्रमाणम्.

प्रकाशकीय निवेदनमां परिशिष्ट ९ वाळी टीकाने २१०० श्लोकवाळी शिष्यहितानो आद्यंतभाग छे, एम प्रकाशके जणाव्युं छे. पण खरी रीते आ ७६११ श्लोक प्रमाणनी वीरगणिनी वृत्तिनो छे.

सुधारोः—परिशिष्ट ९ ना हेडींगमां वीराचार्यना स्थाने वीरगणि एम वांचवुं.

फंड तरफथी आ अवचुरी छपाववानुं नक्की थया पछी सं. २०१०ना डींगनघाटमां मुनिराज श्रीक्षेमंकरसागरजीने आनी प्रेसकोपी सोंपवामां आवी तेथी में तेमज तेमणे प्रेसकोपीने शुद्ध करवानुं कार्य कर्युं. जे वात पूर्वे जणावी छे. तेने शुद्ध करी सं. २०११ मां मुनिमहाराज श्रीगुणसागरजी महाराजने सोंपी अने तेमणे फंडने मुंबाइ रवाना करी. तेने पछी संस्थाए

महोदय प्रेसमां आपतां ते प्रूफो आववानां शरु थयां पण अमे ते कार्य करता हता, परंतु ते अमारी संपादकनी जोडी, ते ज सालना चैत्र वद ०))नी काळी रात्रीए तूटी गई. आथी आखुं संपादन कार्य मारा एकलाना हाथे करवानुं आव्युं वर्षोना वर्षोथी जोडे रहेला अने जोडेज २० थी २५ ग्रंथोनु संशोधन कार्य करेलु, ते आजे एकलाना हाथे थात्तु आथी बीजा मुनिवर्योनी सहाय लेवानु थयु छतां अने यत्किंचित् सहाय लीधी पण खरी आवी रीते मने मळेला संयोगोमां आ ग्रंथ में संपादन कर्यो छे

१ एक संपादक—आ ग्रंथना एक संपादक मुनिराज श्रीक्षेमंकरसागरजी अने हुं छावण वि. सं. १९८८ थी साथे ज रहेला छीए अने अमारां संपादन कार्य पण एक बीजाना सहकारपणाथी चालेलु छे तेमणे संस्कृतना ९ ग्रंथो अने गुजराती साहित्यना १० ग्रंथोनुं संपादन कर्यु छे संपादकनी अमारी जोडी तरीके एमना जीवनना बे बोल तेओ आ ग्रंथना एक संपादक होवाथी अहिं लखुं छुं.

गवी गुजरातना खेडा जील्लाना कपडवंज गामना दोशी जयचंद हरजीवनदास अने धीरज बहेनना कालीला बीजा पुत्र कस्तुरभाई एमनुं संसारी-पणानुं नाम हतुं. संसारीपणामां पत्नी तथा एक पुत्र, पुत्री हतां कर्मनो क्षयोपशम थतां १९८८मां स्व आगमोद्धारकश्रीना हस्ते मुनिराज श्रीगुणसागरजीना नामथी अमदावादमां संयम अंगीकार कर्युं अने क्षेमंकरसागरजी नाम राख्युं संयमनो मोटो भाग आगमोद्धारकनी सेवामां ज रह्या हता, यावत् आगमोद्धारनी अंतिम घडी सुधी साथे ज रह्या हता अने जे आगमोद्धारकनी साहित्यसेवानी कृतिओने अमल संपुर्ण बहार मूकी शक्या छीए ते प्रताप आ मुनिराजनोज छे. कारण के आगमोद्धारकनी कृतिओने मूळ प्रतोनी शोधीने, तेनी नकलो कोपीओ, प्रतो, आगमोद्धारकना हस्ताक्षरो वगेरेने तेमणे करी छे (आलो आखो यह आगमोद्धारकनी साहित्यसेवाना नामनी जे मननीय पुस्तकनी मोटी सुरत आगममंदिरनी बाजुमां छे त्यां मूकवामां आव्यो छे)

एमने तपनी अंदर पण वर्धमानतपनी अमुक ओळीओ, नवपदनी ओळी, वीसस्थानकनी अमुक ओळीओ, ज्ञानपंचमी, पोषदशमी, छट्ठ, अट्ठमो अने अट्ठाइ कर्यां छे ज्ञाननो उद्यम अने क्रियानो रंग, तेमज वैयावच्चनो रंग तेमनामां सारो हतो एमनो आयुपणामां २२ वर्षनो पर्याय छे २०१० नुं चातुर्मास हिंगणघाट कर्यां पछी कपडवंज श्रीचिंतामणीपार्श्वनाथना मंदिरना 'अंजनशलाका प्रतिष्ठा' महोत्सव पर आवतां, हिंगनघाटथी ७०० माइल आवी,

केटलीक वखत शारीरिक कारणोना अंगे संपादनकार्य धीरुं चाले, तो केटलीक वखत प्रेस एवी अगवडता ऊभी करे के कार्य तदन ठंडुंज थई जाय, एथी पण संपादनकार्यमां ढीलाश पडे छे.

अमारा संपादनकार्यमां जेणे जेणे मदद करी छे ते सर्वने अमे अत्रे याद करीए छीए.

शेठ देवचंद लालभाइ जैन पुस्तकोद्धारकफंडना १०५ मा क्रमांकवाला आ ग्रंथनुं संपादन जे अमने मळ्युं छे ते मारा ज्ञानना क्षयोपशममां कारणभूत थाय छे. विद्वद्जनो अमारा संपादनमां जे कांई क्षति रही होय तेने मारा ज्ञानमित्रे करी आपेला शुद्धिपत्रकथी शुद्ध करी वांचे अने ते उपरान्तनी क्षतिओ अमने जणावे, ए ज अभ्यर्थना. शुद्धिपत्रक परि० ८ सुधी ज आप्युं छे.

साधु मुनिराजो पिण्डने—आहारने लगता आ ग्रंथनो सबहुमान उपयोग करशे एम कही हुं विरमुं छुं.

सं. २०१४ पोष सुद १५
जैन उपाश्रय, लुणावाडा (पंचमहाल)

आगमोद्धारक उपसंपदाप्राप्त
मुनिकंचनविजय.

कपडवंजथी २० माइल दूर खलाडी मुकामे सं. २०११ ना चैत्र व. ०))नी काळी राते ११ वाग्याना सुमारे जेरी जानवरना दंशथी, सर्व जीवोने पोताना हाथे खमावी, नमस्कारमहामंत्रने साभळतां हुं जाउं छुं एम बोली, समाधिपूर्वक आ कायानी साथेना संबंधथी छुटा थया—काळधर्म पाम्या. आ रीते अमारी संपादकनी जोडी तूटी. एमनी जीवनझरमर अने तेमना संपादन करेला ग्रंथोनी यादी मारी संपादित श्रीसिद्धिगिरियात्राविधि नामनी पुस्तिकामां आपवामां आवी छे.

विषयानुक्रमः

[1] +एतच्चिह्नाङ्कीता भाष्यगाथा।

धावनादि प्रयोजनं, ऋतुबद्धे दोषः, वर्षास्वधावने दोषः, अर्वाग् वर्षायाः सर्वोपधेः क्षालनं, जघन्यतः पात्रनिर्योगस्य, आचार्यादीनां पुनः पुनः, पात्रनिर्योगाद्या अविश्राम्याः, विश्रामणाविधिः, नीध्रोदकग्रहणं, गुर्वनशन्यादिक्रमः, पूर्वं यथाकृतानि, नाच्छोटनादि, छायाऽऽतपयोः शोषणं, कल्याणकं च । ८

३५–३७ तेजसि निश्चयव्यवहारसचित्तता, मुर्मुरादिर्मिश्रः, ओदनादिरचित्तः । ८

३८–४२, १२–१५+ वायुकाये घनवातादौ निश्चयेन सचित्तः, प्राच्यादिर्व्यवहारेण, आक्रान्ताध्मातपीडनदेहानुगतनिश्चोदनेष्वचित्त, इत्यादिवातस्याचित्तादित्वे क्षेत्रकालविचारः, ग्लानत्वेऽचित्तेन प्रयोजनम् । ९

४३–४६ वनस्पतिकायेऽनन्तकायो निश्चयेन, शेषो व्यवहारेण, मिश्रः प्रम्लानो लोष्ठादिः वृत्तम्लानो अचितः, संस्तारकादिना प्रयोजनम् । १०

४७–४८ विकलेन्द्रिये पिण्डत्वं, आक्षाशुद्दहिकादिमक्षिकापुरीषादिना प्रयोजनम् । १०

४९–५२ अनुपयोगिनो नारकाः, चरमास्थिदन्तादिना तिर्यञ्चः, प्रव्राजनादिना मनुष्याः, क्षपकादिकाकार्यादिना देवा उपयोगिनः । ११

५३–५४ पिण्डनवकसंयोगाः (५०२) विधिश्च सौवीरतकादिषु । १२

५५–५८ क्षेत्रकालपिण्डो, अमूर्त्तत्वेन शङ्का, आधेयस्थितिभ्यां प्ररूपणाहेतुत्वेन च समाधानम् । १३

५९–७२ भावे प्रशस्ते संयमादित एकादिदशविधान्तः, अप्रशस्तेऽसंयमादिरेकादिर्निवान्तः, बन्धहे-

द्रव्यशस्त्र, मुक्तिहेतु प्रशस्तः, ज्ञानदर्शनचारित्राणां पर्यायास्तत्परिपण्डः, अध्यवसायो वा पिण्डः, आहारादि प्रशस्तपिण्डस्योपकारी, तेन द्रव्यभावपिण्डाभ्यामविकारः, निर्वाणकारणज्ञानादिकारणमाहारः, पटे पक्ष्मवत्, अनुपहतकारणात्कार्ये अविकलज्ञानादिर्मोक्षहेतुः । १६

॥ इति पिण्डनिरूपणम् ॥

॥ अथोद्गमदोषाः ॥

७२–७८ एषणैकार्थिकानि (४) एषणा निक्षेपाः (४) द्रव्ये सचित्तादिः (द्विपदादि ३) भावे गवेषणैषणादि (३) क्रमसिद्धिश्च । १७

७९–८४ गवेषणानिक्षेपा (४) द्रव्ये कुरङ्गगजदृष्टान्तौ, भावे उद्गमोत्पादने । १८

८५–९१ उद्गमैकार्थिकानि (१) निक्षेपा (४) द्रव्ये लड्डुकज्योतिरुद्गमादि, भावे ज्ञानादि, लड्डुकप्रियकुमारक, उद्गमशुद्ध्या चारित्रशुद्धिस्ततो मोक्षश्च । १९

९२–९३ आधाकर्मादिका (१६) उद्गमदोषाः । २०

९४ आधाकर्मणो नामादिनी (८) द्वाराणि ।

९५–१२८, १६–२२+ आधाकर्मैकार्थिकानि (८), द्रव्याधायां धनुरादीनां प्रत्यञ्चादि, भावाधायां यथाधाय निपातनं, द्रव्येऽध कर्माणि जलादिष्ववतरण, भावे संयमस्थानादिषु, संयमश्रेणिस्वरूप, आधाकर्मग्राही अधोऽवतीर्य अधोमधाशुभघनीकरणादि कुरुते पतति चाधोगतौ, द्रव्यात्ममे निदाऽनिदाभ्यां हिंसा, काया द्रव्यात्मनि, परस्परणात्मघात, निश्च-

द्विदलभोज्यं, उभतेओदृष्टान्तः, अन्यसमयेपूर्णीती राद्वित्, मधुविस्पृष्टवत्, अशुचिभयनस्थवच स्पृष्टस्नानस्थितयो परिहार, अविधिपरिहारेऽगीतार्थदृष्टान्तः, विधिपरिहारे 'द्रव्यकुलदेशभावापेक्षणम् । ४१

२०६–२१७ परिमला मन्यामन्यौ, वेषविलम्बकामियद्वारदृष्टान्तौ, उद्यानदर्शिदृष्टान्तश्च आधाकर्मभोगिनो चोदत्वमेव। ४२

२१८, २४२ २३+ विभागौद्देशिके उद्दिष्टकृतकर्मचतुष्ककेन द्वादशभेदा, ओघौद्देशिकसंभवस्वरूपे, रेवादिना दृष्टान्त, गोवत्सदृष्टान्तेन उपयुक्तता विभागौद्देशिके संभवः, उद्देशसमुद्देशादेशसमादेशभेदा, तत्स्वरूप द्रव्यक्षेत्रकालभावैश्छिन्नाच्छिन्ने, उद्दिष्टे कल्प्याकल्प्यविधि, सम्प्रदाने च, तत्परिज्ञानोपाय, कर्मौद्देशिके कल्प्याकल्प्यविधि । ४७

२४३–२७० द्रव्यपूतौ छगणधार्मिकदृष्टान्तः, भावपूतिस्वरूप, बादरसूक्ष्मभेदा आधाकर्मिकावयवाः, उपकरणे द्रव्यपाने च बादरपूति, भक्तपूतिस्वरूप, चुल्ल्युखादिचतुर्भङ्गिका भिन्नकल्प्य अङ्गारादिर्न सूक्ष्मपूति, आधाकर्मपात्रस्याकल्प्यत्वे सूक्ष्मपूतिता, स्वरूपमात्र पूति, आधाकर्मग्रहे त्रीन् दिवसान् पूति, तत्परिज्ञानोपायः । ५२

२७१-२७५, २४+ वेषकविषवत् सहस्रान्तरितमपि मिश्रमकल्प्य, यावदर्थिकपाखण्डिसाधुमि-

दृष्टान्तः । ११३

॥ इत्येषणादोषाः ॥

॥ अथ ग्रासैषणादोषाः ॥

॥ इति ग्रासैषणादोषाः ॥

॥ इति पिण्डनिर्युक्तिः ॥



श्रीक्षमारत्नीयावचूर्युपेतायाः श्रीपिण्डनिर्युक्तेः शुद्धिपत्रकम् ।

अशुद्धं	शुद्धं	पत्राङ्कः	पङ्क्त्यङ्कः	अशुद्धं	शुद्धं	पत्राङ्कः	पङ्क्त्यङ्कः	अशुद्धं	शुद्धं	पत्राङ्कः	पङ्क्त्यङ्कः
इङ्गाल	अङ्गार	१	६	°नस्था>	°नस्थापन>	६	६	संक्षु°	संक्षु°	१२	२६
°चितो	°चितो	१	११	अग्निरुपरि	अग्नेरुपरि	८	१०	इहि°	°इह°	१३	३
सहि°	सीह°	२	१९	॥ १८ ॥	॥ २८ ॥	९	१	अविमागिण	अविभागेण	१३	५
चेलवे°	चेलेव°	२	२६	नरकस्याप°	नरकस्या प°	९	३	मेवं	णेव	१३	५
माला	मालो	३	१४	काय	कार्यं	१०	२०	°मह	°मह	१४	७
सचितो	सचित्तो	३	२६	गृहन°	गृह्णन°	११	६	गृहतः	गृह्णत	१४	१४,
लवणेम	लवणेण	४	१७	पमि पृच्छ	पमी पृच्छ	११	१२				२६,
°णुमते	णुमते	५	५	अस्मा°	अस्मा						२७
नियममिति	नियम इति	५	[illegible]	°विहिमिते	°विहिते	११	२३	तज्जुता	तज्जुता	१४	२४
भावघुवण	भावघुवण	५	२६	द्वादशास्ते°	द्वादश ते°	१२	३	°मुष्युता	°अजुता	१४	२५
पान°	पान	६	१	°नद्यादि	नद्यादि	१२	१३	कर्म्माणां	कर्म्मणां	१५	१२

पिण्डं	पिण्डः	१५	१३
निवार्णमेव	निर्वाणमेव	१६	२
वोच्छामी	वोच्छामि	१६	१२
वोधव्यानि	वोद्धव्यानि	१६	१७
पदपदा०	पदापदा०	१७	७
भावैषणात्रि-प्रकारमाह	भवैषणां त्रि-प्रकारामाह	१७	८
(६.१)	(ह० १)	१७	२३
दोहृद०	दौहृद०	१७	२५
०ता	०ताः	१८	६
(६.२)	(ह०२)	१८	९
विहमेय	विहयमेयं	१८	१४
वहुमादगो	वहुओदगा	१८	१४
(६.३)	(ह०३)	१८	१५

तेः	ते	१८	१७
ञामुनि	ञामूनि	१८	१९
निर्जर-	निर्झर-	१८	१९
तत्र	ततः	१८	२०
ध्यतुर्द्धा	घतुर्द्धा	१८	२५
सूचित्तं	सूचितं	१९	४
तसेवं	तस्सेवं	१९	१२
न्वर्थः,	न्वर्थे	२०	५
तिरिश्चांमानु०	तिरश्चां मनु०	२०	२३
तमाह् क०	तमाहाक०	२१	२
आह	आही	२२	२
मन्य०	मन्यः	२२	५
संयमादिः,	संयतादिः,	२२	५
परीत	परीता	२२	२२

विघाए	विघाए	२३	४
प्राशुक०	प्रासुक०	२३	१५
संकलेन	शकलेन	२३	१६
कथन०	कथान०	२५	३
निर्विशका	निर्विशङ्का	२५	६
व्यावहार०	व्यवहार०	२५	७
रूपा,	रूपाः,	२५	१३
निमन्त्रिता,	निमन्त्रिताः,	२५	२४
प्रथम०	प्रथमः	२५	२४
तुष्णीको–	तूष्णीको–	२५	२५
आनतो	आनेता	२६	६
राज०	राजा	२६	१५
च, जाताः	च जाता	२७	३
कथनया	कत्थनया	२७	९

तत्रा०	तथा०	२७	१८	कर्या	कर्त्ता	३६	[illegible]	'उद्दिठे'	'उद्दिट्ठे'	[illegible]	३
कर्तव्या'	कतव्या	२९	१६	घुष्ट	स्पष्ट	३६	२१	अदथ	अदथं	४४	१०
'चार्य्या०	'चार्या०	२९	१९	राजा	राज्ञा	३८	१	०पयुक्तम् [ता],		४५	१७
'दि नाम्ना	दिनाम्ना	२९	१९	साधोरिति	साधोरपि	३८	४	तथा च	०पयुक्ततया च		
निहगा	निहगा	३०	१२	सञ्चिमपि	सन्नीमपि	३८	२०	'भवन्ति	०भवति	४५	२५
'रपे म प्र०	'रवेनाम०	३०	१५	एव	एव	३९	४	उद्देशिक स०	औद्देशिकसा०	४६	२
'नस्ती०	'नवस्ती०	३१	२	मरोप०	मयप्पु०	३९	१०	'मुक्ता वेला,	'मुक्तां वेलां	४६	१८
डलते	डणजे	३१	९	मज्जाप०	मज्जार०	३९	१२	सदेव	सदेव	४७	४
०गुत्ता (?)	०गुत्तत्वा	३१	१८	चाचि[ता स्थि]	चाचित्वा			सन्निध	सन्निभ	४७	१५, १६
०गुहा	०गुह्या	३१	१९	वान्	स्थितवान्	३९	२२	'पवित्रमिति	पवित्रमिति	४८	३
मज्ज	मज्ज	३३	९	उप्पी	उप्पी	४०	४	'कृत	कारी	४८	१०
स्थिता,	स्थिता	३४	१५	०नम०	०नयप्र०	४०	२५	पुष्ट ,	पुष्ट ,	४८	२५
वालादी०	वालादि०	३४	२५	सृति०	वसि०	४१	१७	नूल पाक	तुलपाक	४९	२
तू.	तु	३५	२७	'कारा०	'काष्ठा०	४२	६	मज्जो०	मज्झो	४९	८

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृ.	पं.	अशुद्धम्	शुद्धम्	पृ.	पं.	अशुद्धम्	शुद्धम्	पृ.	पं.
°श्चेति	चेति	४९	१२	°कियं	°कीयं	५८	१८,२२	साघवो	साधवो	६४	१७
चरलु०	चुल्लु०	४९	१४	चटु०	चाटु०	५९	३	पविश्वि०	विचिन्०	६४	१८
सन्मिश्रं	सम्मिश्रं	४९	१६	°त्य–	°त्यं–	६०	१०	सत्स०	तत्स०	६४	१९
चुल्लय०	चुल्लु०	४९	१६	गुरूणा०	गुरूना	६०	२०	°चीर्ण०	°चीर्णं	६५	४
उक्करणं	उवगरणं	४९	२०	भगिनीं	भगिनी	६०	२६	°हृत०	°हृतं	६५	६
स्थिताश्र०	स्थितस्याश्र०	४९	२२	तथैत०	तवैत०	६१	१४	°चीर्ण०	°चीर्णम०	६५	१५
°गमेति	°गमे	५०	२५	°वर्त्यन्ते	°वर्त्यंते	६१	२३	०च्छिन्न	०च्छिन्नं	६५	१८
वर्त्ता०	वार्त्ता०	५२	२४	दारिद्र०	दारिद्र्य०	६२	४	लेलु	लेलुं	६५	२५
दुर्गासं	दुग्रासं	५३	५	दारिद्रे०	दारिद्र्ये	६२	५	मुद्रः	मुद्रादयः	६६	४
°र्थः सिद्धं	°र्थंसिद्धं	५३	९	विदि०	अविदि०	६३	१	शिला	शिलां	६६	१
°दूर्ध्वं	°दूर्द्धं	५४	३	०द्वयो(न्ये)	द्वये	६३	१३	अन्त-	अन्तः	६६	२३
दधिर०	दधि अ०	५५	१	लाहकं	लाहुकं	६३	२५	शिरस्फो०	शिरःस्फो०	६६	२४
°सिक्या०	सिक्था०	५७	२१	वीवाहः	विवाहः	६४	१०	°निवृतः	°निवृत्तः	६७	२०
सिद्धंति	सिद्धं	५८	२	०रयतः	०रयन्तः	६४	१५	ऽन्यथा	ऽन्यदा	६८	७

०हस्तं	०हस्त	६८	१	छिणादि	छिण्णादीनि	७३	८	यथा विभव पु०	यथाविभव पु०	७६	१९
प्रतिक्रुष्ट	प्रतिकुष्ट	६८	२१	किंचि	कंचि	७३	१९	[illegible]	हुत	७७	१
परि०	पारि०	६९	५	तदेव०	तदेव०	७४	७	इहवा	इहत्वा	७७	११
॑नाछि०	॑नाच्छे०	७०	५	०दवे	०दवे	७४	८	॑पिटिना०	॑पिटना०	७७	[illegible]
मणुनाय,	मणुण्णाय	७०	२२	॑दादि	॑दावि	७४	९	॑च्छया	॑च्छया	७७	२२
तुरुक्के	तुरुके	७०	२४	विवेके	विवेक	७४	१५	ऽन्य०	ऽय०	७७	२६
सहोड	सहोढ	७१	११	सहसो	सहसे	७४	२१	यथेषा स०	यथेत०	७८	२
॑दामाह	॑दामाह	७१	१९	०निपाति	०निपाते	७४	२२	स्नाप०	स्नप०	७८	११
गयमत	गयमत्त	७२	१२	असढ	असढः	७५	४	स्वरा,	स्वरा,	७८	२५
कुडुम्बस्य	कुडुम्बस्स	७२	१५	पावन	पावन	७५	१०	क्षीमुसो	क्षीवमुसो	७८	२५
जावति य	जावतिय	७२	१७, १८	पोद०	पोड०	७५	२३	॑टके स्थिते	टक स्थिति	७९	९
आरम्भ	आरम्भे	७२	२१	यथा स०	यथास०	७५	२५	॑ण्डरि०	॑ण्ड ह०	७९	१६
अप्पयपू०	पू०	७३	१	॑भेदा.	भेदा	७६	९	॑वृत्व	वृत्त्य	७९	१९
				कापि	कापि	७६	२६				

'लितं	'लितुं	७९	१९	'सुपन्नं	सुप्पण्णं	८४	२१	यथाऽप०	यथायग०	८८	१६
परिगृहे	परिग्रहे	७९	२०	चामट्ट०	चावट्ठ०	८४	२२	(ह०)	(ह० ३४)	८९	३
'तः प्राय एव	तप्रायमेव	७९	२४	गृतपु०	गृतपू०	८५	७,	प्रनष्ट०	प्रणष्ट०	८९	७
'यथां	'यथा	८०	४				१७,	'प्लुत०	'प्लुति०	८९	१०
तद् भर्त्ता	तद्भुत्रा	८१	७				२१	द्रि	द्रिः	८९	१९
'त्या०	'त्या०	८१	७	(ह०)	(ह० ३१)	८५	१५	प्रश्न०	प्रश्न०	८९	२६
साधुर्नि०	साधोर्नि०	८१	८	पस	पग	८५	२०	,,	,,	९०	९
पञ्चवि०	पञ्चवि०	८१	२०	०ह्रय०	ह्रयं	८५	२०	मुते	नुते	९१	५
'वाणि०	०व्राण	८१	२२	(ह०)	(ह० ३२)	८६	९	(ह०)	(ह० ३५)	९१	३
मुल्कु०	मुल्क०	८२	१०	मो–	मोः–	८६	१५	दाशि०	'दशि	९१	१५
घोगाध्र	घोपाध्र	८२	१०	'प्योक	'प्योकः	८६	१६	(ह०)	(ह० ३६)	९१	१३
'पत्या	पत्त्या	८४	१८	(ह०)	(ह० ३३)	८७	२०	'हरी०	हरी०	९२	३
'सय	'सयं	८४	२१	'तग्धि०	'तग्धि०	८८	७	(ह०)	(ह०३७)	९२	१
'गणे	'गेण	८४	२१	०भिग०	०भिर्ग०	८८	८	गुजते	गुज्यते	९२	५

॰स्राशत्॰	॰स्रशत॰	९२	२३	वस॰	यूम॰	९५	३	॰मान्व॰	॰मभ्रेष्व॰	१०२	१९
(इ०)	(इ० ३८)	९२	२३	मात्र	माऽत्र	९५	४	जम	अम	१०२	२०
पद॰	पाद॰	९२	२६	विकप्यतां	विकल्पयतां	९५	६	॰चतुथी	॰चतुर्थी	१०२	२४
(इ०)	(इ० ३९)	९३	७	व्यक्तिः	वक्ति॰	९६	१८	॰द्रे	॰र्द्रे	१०३	६, ७
वृता	वृता	९३	११	रंव	रव	९६	२०	॰द्रे	॰र्द्रे	१०३	७
(इ०)	(इ० ४०)	९३	१२	क्षण॰	क्षण॰	९६	२२	॰माका	॰मागा	१०३	२०
(इ०)	(इ० ४१)	९३	१९	॰कमे॰	॰कर्मे॰	९७	१	(इ०)	(इ० ४५)	१०५	११
(इ०)	(इ० ४२)	९३	२१	॰रोर॰	॰रोऽ॰	९७	१६	योआला	॰योजना	१०५	११
वीवा॰	विवा॰	९४	७	गुमा॰	गुम्मा॰	९९	१८	स्थिड	स्थितं	१०५	२४
(इ०)	(इ० ४३)	९४	१	॰विलिप्ते	॰बलिप्ते	९९	२१	सुसु॰	सुसु॰	१०६	२
॰रिमित	रिणत	९४	१७	मृद्रि॰	मुद्रि॰	१००	२७	कमी॰	॰कमी॰	१०६	८
(इ०)	(इ० ४४)	९४	२४	मातृकेण	मात्रकेण	१०१	२४	ददत्वां	ददत्या	१०६	८
॰पतिर्नि॰	॰पतेर्नि॰	९५	२	॰सञ्चिता॰	सचिता॰	१०१	२६	॰यन्ति	॰यन्ती	१०६	१६
॰न्तस्त॰	॰न्ततस्त॰	९५	३	संह्रमते	संह्रियते	१०२	१४	॰पन्ति	॰पन्ती	१०६	१७

यथा नि०	यथाऽनि०	१०७	८
°द्वारे	°द्वारं	१०७	११
दाव्यैवं	दाव्येवं	१०७	१६
°णे त्वया ग्रहणे	°णे	१०७	१६
°परिष्ठः	°पविष्टः	१०८	८
पिज्जन०	पिञ्जन०	१०९	३
परिणितम्	परिणतम्	११०	५
समि	सामि	११०	१६
तेण उ०	तेण उ	१११	२०
°लग्नात्	°लगनात्	१११	२५
ज्ञात्वा ना०	ज्ञात्वाऽना०	११३	९
(द० ४४)	(द० ४६)	११३	६
चागल०	च गल०	११३	२४
(द० ४५)	(द० ४७)	११३	२१
°पेशो र०	°पेशीर०	११३	२५
मूरिक्ष०	मुरिक्ष०	११४	५
द्रव्य०	द्रव्ये	११५	२
°कादे	°कादेः	११५	११
°तोंम०	°तोर्मं०	११५	११
योजना	योजना	११५	१२
°रिणित०	°रिणत०	११५	२२
आहार एव स	स आहार एव	११६	१
°रुद्वानि	°रुद्धानि	११७	१
प्राशुक०	प्रासुक०'	११८	६
कीदश	कीदशः	११८	१३
मोक्तव्यः:,	मोक्तव्यः	११८	१३
यदै०	पदै०	११८	२१
इर्या०	ईर्या०	११८	२१
घामो	थामो	११८	२४
आव०	अव०	११८	२५
दारिद०	दारिद्द०	११९	१
सुत्र०	सूत्र	११९	७
°तेति भिक्षार्थं मु०	°ते तितिक्षार्थं उ०	११९	१२
बला०	बला०	११९	१६
वर्पति	वर्षति	११९	१७
मिहिकायां	महिकायां	११९	१७
चरित्रभेयं	चरित्तमेयं	१२०	१
°द्वत्ति०	°दृवृत्ति०	१२०	१३
प्रकटार्थं	प्रकटार्था	१२०	१३
क्तिर०	क्तेर०	१२०	१६

प्रेस०	मुद्रणालय०	१२०	१८	उपहिय	उग्गहिय	१२२	२४	०भूताना	भूतानां	१३१	१४
मधुर्यं०	मधूर्यं०	१२१	१	पज्जता	पज्जत्ता	१२५	७	पिन्ड-	पिण्ड-	१३२	
निर्युक्त०	निर्युक्ति०	१२१	४	सचित०	सचित्त०	१२५	१४	रत्ननीया	रत्नीया	१३२	
प्रतिकम्	प्रतीकम्			०परिताम	०परिणाम	१२६	८	प्रन्थोद्गमे	ग्रन्थोद्गमे	१३४	१९
पुच्छा	पुच्छा	१२१	२०	सचितो	सचित्तो	१२६	११	हस्ती०	हस्ति०	१३४	२६
अरमाई	अरमाई	१२२	७	०मचित्तो	०मचित्तो	१२७	२१	'साधो०	साधो०	१३५	१७
'काणण	'काणाण	१२२	१२	संबोध०	संबोध०	१२९	७	०वेसक	०वेषकः०	१३६	१
गंधे०	गंधे०	१२२	१२	भूतनां	भूतानां	१३१	५				
०पगाईण	०पागाईण	१२२	२०	बृहद्वृत्ति	बृहद्वृत्तिः	१३१	१०				

रेफमां अनुस्वार प्रेसदोषथी घणे ठेकाणे छे, तेने वांचक महाशयोए समजीने वांचवा विनती









श्रेष्ठि-देवचन्द्रलालभाई-जैनपुस्तकोद्धारे ग्रन्थाङ्कः १०५।

श्रीमद्भद्रबाहुस्वामिप्रणीता समाप्या श्रीजयकीर्त्तिसूरिशिष्य-श्रीक्षमारत्नसूत्रितावचूर्युपेता

श्रीपिण्डनिर्युक्तिः ।



पूर्वमधिकारद्वारगाथा—

पिंडे उग्गम उप्पायणेसणा[सं]जोयणा पमाणं च। इंगाल धूम कारण अट्ठविहा पिंडनिज्जुत्ती ॥ १ ॥

पिण्ड आहारविषये उद्गम १ उत्पादना २ एषणा ३ संयोजना ४ प्रमाण ५ इङ्गाल ६ धूम ७ कारण ८ भेदादष्टविधा पिण्डनिर्युक्तिर्भवति, पिण्डस्य-आहारस्य निश्चिता युक्तिः निर्युक्तिः ॥ १ ॥ अथ पिण्डैकार्थिकान्याह—

पिंड निकाय समूहे संपिंडण पिंडणा य समवाए। समुसरण निचय उवचय चए य जुम्मे य रासी य ॥

आहारे पिण्डशब्दानां मीलनात् निकायो भिक्षुसङ्घाते, समूहो मनुजादियोगे, संपिण्डना खेटादीनां, पिण्डनापि तत्रैव, केवलं मीलनमात्रे, समवायो वणिगादीनां योगे, समवसरणशब्दस्तीर्थकृतः सभायां, निचयः शूकरादियोगे, उपचयः

पूर्वयोगोपचयभावे, चय इष्टकाचित्तौ, राशिः पूगफलादियोगे, युग्मः पदार्थद्वयसङ्घाते, एतान्येकार्थिकानि ज्ञातव्यानि, योगवाचकत्वात् ॥ २ ॥ पिण्डभेदानाह—

पिंडस्स उ निक्खेवो चउक्कओ छक्कओ व कायव्वो। निक्खेवं काऊणं परूवणा तस्स कायव्वा ॥ ३ ॥

पिण्डस्य निक्षेपो—नामादिन्यासरूपः, चतुष्कः षट्को वा कर्त्तव्यः, निक्षेपं कृत्वा तस्य—पिण्डस्य प्ररूपणा कर्त्तव्या ॥ ३ ॥ षट्के चतुष्कनिक्षेपान्तर्भावं दृष्टान्ततः प्ररूपयति—

कुलए उ चउब्भागस्स संभवो छक्कए चउण्हं च। नियमेण संभवो अत्थि छक्कगं निक्खिवे तम्हा ॥४॥

यथा कुलके—चतुःसेतिकाप्रमाणे चतुर्भागस्य—सेतिकाप्रमाणस्य सम्भवो भवति, एवं षट्के निक्षेप(पे)* चतुर्णां नियमेन—अवश्यंतया सम्भवोऽस्ति, तस्मात् षट्कं निक्षिपामि ॥ ४ ॥ तदेवाह—

नामं ठवणापिंडो दव्वे खेत्ते य काल भावे य। एसो खलु पिंडस्स उ निक्खेवो छव्विहो होइ ॥ ५ ॥

सुगमा, नवरं नामादिषु प्रत्येकं पिण्डशब्दो योज्यः ॥ ५ ॥ नामपिण्डं[स्थापनं]स्थापनापिण्डसम्बन्धं चाह—

गोण्णं समयकयं वा जं वावि हवेज्ज तदुभएण कयं। तं विंति नामपिंडं ठवणापिंडं अओ वोच्छं ॥६॥

तच्चतुर्विधं नामपिण्डं ब्रुवते तीर्थङ्कराः, गौणं समयकृतं यद्वा तदुभयेन कृतं गुणसमयकृतमित्यर्थः, अपिशब्दादनुभयजं

* अस्यां प्रतौ सर्वत्र (   ) एतच्चिह्नमध्यवर्ती पाठो मुद्रितवृत्त्यनुगतः।

गुणसमयव्यतिरिक्तमित्यर्थः, अतः स्थापनापिण्डं वक्ति ॥ ६ ॥ भाष्यं—

गुणनिप्फन्न गोण्णं तं चेव जहत्थमत्थवी बेंति । त पुण खवणो जलणो तवणो पवणो पईवो य ॥भा०१॥

पिण्ड इति वर्णरूप नाम नामपिण्डः, गुणनिष्पन्न नाम गौण तदेव च यथार्थमर्थविदो ब्रुवते, तदाम्नमाह–गौण नाम त्रिधा–द्रव्य १ गुण २ क्रिया ३ निमित्तमिति, पिण्ड इति क्रियानिमित्त, पिण्डन पिण्ड इति व्युत्पत्तेः, उदाहरणान्यपि क्रियानिमित्तान्येव दर्शयति, स पुणोत्ति, तत्पुनः गौण नाम क्षपण इत्यादि, यथा क्षपयति कर्म्माणीति क्षपकः, ज्वलतीति ज्वलनः, तपतीति तपनः, पुनातीति पवनः, प्रदीप्यते इति प्रदीपः, चकारोऽन्यसजातीयदृष्टान्तसमुच्चयार्थः ॥ १ ॥ सामान्यतो गौणं नाम व्याख्यातं, सम्प्रति पिण्ड इति नाम गौणं समयकृत च व्याचिख्यासुराह—

पिंडण बहुदव्वाण पडिवक्खेणावि जत्थ पिंडक्खा । सो समयकओ पिंडो जह सुत्तं पिंडपडियाई ॥२॥

बहूनां द्रव्याणां पिण्ड(न)म्–एकत्रमीलन पिण्ड इति नाम प्रवर्तमान गौणमिति शेषः, समयकृतमेवाह–पूर्वापेक्षयाऽत्र प्रतिपक्षशब्दः संयोगाभाववाची, ततः प्रतिपक्षेणापि द्रव्यसंयोगमन्तरेणापि यत्र पिण्डाख्या भवति, स समयकृतः, पिण्डो नामपिण्ड इति, यथा पिंडवायपडियापत्ति सूत्र, अयमभिप्रायः, यथा आचाराङ्गद्वितीयश्रुतस्कन्धे प्रथमे पिण्डैषणाध्ययने सप्तमोद्देशके–" से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुल पिण्डवायपडियाए अणुपविट्ठे समाणे, ज पुण पाणग जाणिज्जा, तजहा–तिलोदग वा तुसोदगं वा " इत्यादि, अत्र पानीयमपि पिण्डशब्देनाभिहितं समयभाषया,

न चान्वर्थयुक्ततयेति ॥ २ ॥ उभयजं दर्शयति—

जस्स पुण पिंडवायट्ठया पविट्ठस्स होइ संपत्ती । गुडओयणपिंडेहिं तं तदुभयपिंडमाहंसु ॥ भा०३ ॥

यस्य पुनः साधोः पिण्डपातार्थतया–आहारलाभेच्छया गृहपतिकुलं प्रविष्टस्य गुडोदनपिण्डयोरुपलक्षणत्वादन्यपिण्डस्य सम्प्राप्तिर्भवति, तदुभयपिण्डं–गुणनिष्पन्नसमयप्रसिद्धपिण्डशब्दवाच्यमुक्तवन्तस्तीर्थंकरगणधराः, पिंडेहित्ति, अत्र प्राकृतत्वात् षष्ठ्यर्थे तृतीया ॥ ३ ॥ उभयातिरिक्तं प्रतिपादयति—

उभयाइरित्तमहवा अन्नंपि हु अत्थि लोइयं नाम । अत्ताभिप्पायकयं जह सीहगदेवदत्ताई ॥भा०४॥

'अथवे'ति, प्रकारान्तरे उभयातिरिक्तं–गौणसमय(ज)विभिन्नं, अन्यदपि लोकप्रसिद्धं लौकिकं–आत्माभिप्रायकृतं नाम, अनुभयजं भवतीति, यथा सिंहकदेवदत्तादिनामानि ॥ ४ ॥ ननु निर्युक्तिगाथायामनुभयजस्यानुक्तत्वादिह व्याख्यानमनुचितमिति चेन्नैवमपिशब्देन तत्रापि सूचितत्वात्तथा चाह भाष्यकारः—

गोण्णसमयाइरित्तं इणमन्नं वाऽवि सूइयं नाम । जह पिंडउत्ति कीरइ कस्सइ नामं मणूसस्स ॥भा०५॥

इदं पिण्ड इति नाम अन्यद्वा गौणसमयातिरिक्तं, अपिशब्दात् सूचितमस्ति, यथा कस्यापि मनुजस्य पिण्ड इति नाम क्रियते, तच्चान्यद्रव्यसंयोगाभावात्, शरीरावयवयोगाविवक्षणान्न गौणं नापि समयकृतं, अत उभयातिरिक्तमिति ॥ ५ ॥ ननु समयकृतोभयातिरिक्तयोर्न कोऽपि विशेष उभयत्राप्यन्वर्थविकलत्वादात्माभिप्रायकृतत्वादिति चेन्नैवमित्याह—

उभयजमुभयातिरिक्तं पिण्डनाम ।

तुल्लेऽवि अभिप्पाए समयपसिद्धं न गिण्हए लोओ। जं पुण लोयपसिद्धं तं सामइया उवचरंति ॥भा०६॥

पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात्, अभिप्राये-अभिप्रायकर्तृत्वे तुल्येऽपि समयप्रसिद्ध नाम लोको न गृह्णाति, न हि क्वापि समुद्देशशब्देन समयप्रसिद्धेन भोजनादिकं लोको व्यवहरति, यत्पुनर्लोकप्रसिद्धं तत् सामयिका उपचरन्ति ॥ ६ ॥ अथ मूलसूत्रं, स्थापनापिण्ड वक्ति—

अक्खे वराडए वा कट्ठे पुत्थे व चित्तकम्मे वा। सब्भावमसब्भावं ठवणापिंडं वियाणाहि ॥ ७ ॥

अक्षे वराटके-कपर्दे वाशब्दोऽङ्गुलीयकादिसमुच्चयार्थः, काष्ठे, पुस्ते-विठक्किकादौ, वाशब्दो लेप्यपाषाणसमुच्चये, चित्रकर्मणि वा सद्भावमसद्भावं चाश्रित्य स्थापनापिण्ड विजानीहि, तत्र सपदभूमानः सद्भावः, स्थाप्यमानस्येन्द्रादेरनुरूपतया चित्रादिना यद्दर्शनाद्विद्यमान इवेन्द्रादिर्दर्श्यते स सद्भावः, इतरस्त्वसद्भावः, अथ भावः—यदा अक्षकपर्दादय एकत्र संश्लेष्य पिण्डत्वेन स्थाप्यन्ते, यथा एष पिण्डः स्थापित इति, तदा तत्रापि पिण्डाकारस्योपलभ्यमानत्वात् सद्भावः, यदा एकस्मिन्नक्षे वराटके वा पिण्डत्वेन स्थापना तदा पिण्डाकारस्यानुपलभ्यमानत्वात् अक्षादिगतपरमाणूनामविवक्षणात्, असद्भाव इत्यादि ॥ ७ ॥ एतदेव भाष्यकृद्गाथयाह—

इक्को उ असब्भावे तिण्ह ठवणा उ होइ सब्भावे। चित्तेसु असब्भावे दारुअलेप्पोवले सियरो॥भा०७॥

एकोऽक्ष उपलक्षणत्वाद्वराटकादिर्वा पिण्डत्वेन स्थाप्यमाना असद्भावे, यदा त्रयाणामक्षाणां वराटकादीनां वा परस्पर

संश्लेपकरणात् पिण्डत्वेन स्थापना तदा सद्भावे स्थापना, पिण्डाकृतेरुपलभ्यमानत्वात्, त्रयाणां चेति उपलक्षणं, तेन द्वयोरपि बहूनां वा योगे ज्ञातव्यं, तथा चित्रेषु यदैकबिन्द्वालेखनेन पिण्डस्थापना तदाऽसद्भावे, यदा त्वनेकबिन्द्वालेखनेन प्रभूतद्रव्यात्मका स्थापना तदा सद्भावे। तथा दारुकुलेष्वोपलेषु पिण्डाकृतिसम्पादनेन या पिण्डस्य स्थापना सा (म) इतरः-सद्भावस्थापनापिण्डः, तत्र पिण्डाकारस्य दर्शनात् ॥ ७ ॥ द्रव्यपिण्डमाह—

तिविहो उ दव्वपिंडो सच्चित्तो मीसओ अच्चित्तो य। एक्केक्कस्स य एत्तो नव नव भेआ उ पत्तेयं ॥८॥

द्रव्यपिण्डस्त्रिविधः-सचित्तो मिश्रोऽचित्तश्च, इतो-भेदत्रयानन्तरं एकैकस्य भेदस्य नव २ भेदा ज्ञातव्याः ॥ ८ ॥ नव भेदानाह—

पुढवी आउक्काओ तेऊ वाऊ वणस्सई चेव। बेइंदिय तेइंदिय चउरो पंचेंदिया चेव ॥ ९ ॥

सुगमा, नवरं पिण्डशब्दः पूर्वगाथातोऽनुवर्तमानोऽत्र प्रत्येकं सम्बध्यते ॥ ९ ॥ प्रत्येकं भेदानाह—

पुढवीकाओ तिविहो सच्चित्तो मीसओ य अच्चित्तो। सच्चित्तो पुण दुविहो निच्छयववहारओ चेव ॥१०॥

सुगमा, नवरं निश्चयतो व्यवहारतश्च सचित्तः पुनर्द्विविधो भवति ॥ १० ॥ निश्चयव्यवहारस्वरूपमाह—

निच्छयओ सच्चित्तो पुढविमहापव्वयाण बहुमज्झे। अच्चित्तमीसवज्जो सेसो ववहारसच्चित्तो ॥ ११ ॥

घर्मादिपृथ्वीनां मेर्वादिमहापर्वतानां बहुमध्यभागे निश्चयतः पृथ्वीकायः सचित्तः स्यात्, अचित्तमिश्रौ वक्ष्यमाणभेदौ

वर्जयित्वा शेषभूम्यादिस्थितो व्यवहारसचित्त इति ॥ ११ ॥ अथ मिश्रमाह—

खीरदुमहेट्ठ पथे कट्ठोले इंधणे य मीसो उ। पोरिसि एग दुग तिगं बहुइंधणमज्झथोवे य ॥१२॥

क्षीरद्रुमा-वटाश्वत्थादयस्तेषामधः पृथ्वीकायो मिश्र इति, तत्र वृक्षमाधुर्येण शस्त्रत्वाभावात् कियान् सचित्तः शीतादि-शस्त्रसम्भवात् कियानचित्त इति, पथि ग्रामनगरादेर्हिस्तत्रापि गन्त्रीचक्रादिभिरुत्खातः कियान् सचित्तः कियानचित्त इति सर्वत्र भावनीयम्, कृष्टो-हलविदारितः, तथा आर्द्रो-जलमिश्रो, यतो जल पृथ्वीकायोपरि निपतत् कियन्त पृथ्वीकाय शस्त्र-त्वेनाचित्तीकरोतीति मिश्र उच्यते, तथा इन्धने गोमयादौ मिश्रस्तथाहि गोमयादिकमिन्धन सचित्तपृथ्वीकायस्य शस्त्र, अत्रेन्धने च कालमानमाह-' पोरिसी 'त्यादि, बह्विन्धनमध्यगत एकां पौरुषीं यावन्मिश्रः, मध्यमेन्धनसंयुक्तस्तु पौरुषीद्विक, अल्पेन्धनसपृक्तश्च पौरुषीत्रिक यावन्मिश्रः पृथ्वीकायः ॥ १२ ॥ अथाचित्तमाह—

सीउण्हखारखत्ते अग्गीलोणूसअंबिलनेहे। वुक्कंतजोणिएणं पयोयणं तेणिमं होइ ॥ १३ ॥

प्राकृतत्वादत्र सप्तमी तृतीयार्थे ज्ञेया, शीतोष्णक्षारक्षत्रेण-शीत प्रतीत, उष्णः-सूर्यादितापः, क्षारः प्रसिद्धः क्षत्र-करीषविशेषः, एतैस्तथा अग्निः लवण ऊषः-ऊषरादिक्षेत्रोद्भवलवणिमा, अम्ल-काञ्जिक, स्नेहः-तैलादिः, एतैश्चाचित्तपृथ्वी-कायो भवति, एतेषां शस्त्ररूपत्वात्, तथा सामान्येनापि पृथ्वीकायस्य चतुर्धाऽचित्त(ता)मत्र जायते-द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च, द्रव्येण शस्त्रभूतेन द्रव्यतः, क्षेत्रेण योजनशताविक्रान्त्या मधुरादिक्षेत्रोत्पन्नस्यान्यक्षेत्रसक्रान्त्या च शस्त्ररूपेण

क्षेत्रतः, कालतः स्वायुःक्षयेण, कालज्ञानं [च] (न) छद्मस्थानां, भावतो वर्णादिपरावर्त्तेनेति, अचित्तपृथ्वीकाय इति। प्रयोजनमाह–व्युत्क्रान्ता–अपगतयोनिः–जीवानामुत्पत्तिर्यत्र तेन व्युत्क्रान्तयोनिना-प्रासुकेन पृथ्वीकायेनेदं वक्ष्यमाणं प्रयोजनं भवति, साधूनामिति ॥ १३ ॥ तदेव दर्शयति—

अवरद्धिगविसबंधे लवणेन व सुरभिउवलएणं वा। अच्चित्तस्स उ गहणं पओयणं तेणिमं वऽन्नं ॥१४॥

अपराद्धिको-लूतास्फोटः सर्पादिदंशो वा विषं प्रतीतं तयोरुपशमनायाचित्तपृथ्वीकायबन्धनं लवणेन प्राशुकेन भोजनादौ, अथवा सुरभ्युपलेन–गन्धपाषाणेन प्रयोजनं, तेन हि पामाप्रभृति(त)वातादिघातः क्रियते, ग्रहणं त्वचित्तपृथ्वीकायस्य नान्यस्येति वा, अथवा तेन पृथ्वीकायेनेदमन्यत् प्रयोजनं वक्ष्यमाणम् ॥ १४ ॥ तदेवाह—

ठाणनिसियणतुयट्टण उच्चाराईण चेव उस्सग्गो। घुट्टगडगलगलेवो एमाइ पओयणं बहुहा ॥१५॥

स्थानमचित्तपृथिव्यां कायोत्सर्गकरणं निषीदनं–उपवेशनं त्वग्वर्त्तनं–स्वापः, उच्चारादीनां–पुरीषप्रश्रवणादीनां चोत्सर्गः–परिष्ठापनं घुट्टको–लेपितपात्राणां घुण्टनपाषाणः, डगलकानि प्रतीतानि, लेपः–पाषाणादिनिष्पन्नः, एवमाद्यचित्तपृथ्वीकायेन बहुधा प्रयोजनं स्यादिति ॥ १५ ॥ अथाप्कायपिण्डमाह—

आउकाओ तिविहो सच्चित्तो मीसओ य अच्चित्तो। सच्चित्तो पुण दुविहो निच्छयववहारओ चेव ॥ १६ ॥

पृथ्वीकायाधिकारवत् व्याख्येया ॥ १६ ॥ निश्चयव्यवहारभेदावप्काये दर्शयति—

पृथ्वीकाय-प्रयोजनम्।

घणउदही घणवलया करगसमुद्दद्दहाण बहुमज्झे । अह निच्छयसच्चित्तो ववहारनयस्स अगडाई ॥१७॥

घनोदधयो घनवलया नरकस्थाः, करकाः प्रतीताः, तथा समुद्रद्रहाणां बहुमध्यभागेऽप्कायाः 'अह'त्ति, एष सर्वोऽपि अप्कायो निश्चयसचित्तः, व्यवहारनयमतेन "मञ्चाः क्रोशन्ती"ति युक्त्या अपटादिरवटः-कूप आदिशब्दाद्वाप्यादिपरिग्रहः, तत्र संस्थितोऽप्कायः सचित्तः स्यादिति ॥ १७ ॥ मिश्रमाह—

उसिणोदगमणुवत्ते दंडे वासे य पडियमित्तंमि । मोत्तूणादेसतिगं चाउलउदगेऽबहुपसन्नं ॥ १८ ॥

अत्र जातावेकवचनं, ततोऽनुद्वृत्तेषु असम्पूर्णेषु त्रिषु दण्डेषु-उत्कालेषु यदुष्णोदकं तन्मिश्रमिति, वर्षे-वृष्टौ पतितमात्रे यज्जलं तच्च, तथा आदेशत्रिकं-मतत्रिकं मुक्त्वा तन्दुलोदकमबहुप्रसन्नं-नातिस्वच्छीभूतं, मिश्रमित्यर्थः, आर्षत्वादकारप्रश्लेषोऽपह्निरयत्र कार्यः ॥ १८ ॥ मतत्रिकं दर्शयति—

भंडगपासवलग्गा उच्चेडा बुब्बुया न संमंति । जा ताव मीसगं तंदुला य रज्झंति जावऽन्ने ॥ १९ ॥

तन्दुलोदके तन्दुलप्रक्षालनानन्तरं प्रक्षालनभाजनादन्यभाजने प्रक्षिप्यमाणे भाजनस्य पार्श्वे ये उच्चेडा-बिन्दवो लग्नास्ते यावन्न शाम्यन्ति-विध्वंसमुपगच्छन्ति, तावत्तन्दुलोदकं मिश्रमित्येके १, अपरे पुनः-भाजनादन्यभाजने तन्दुलप्रक्षालनजले क्षिप्यमाणे जलोपरि ये बुद्बुदा जातास्ते यावन्न शाम्यन्ति तावत्तन्दुलोदकं मिश्रमिति २, पुनरन्ये इत्थमाहुः-तन्दुलप्रक्षालनानन्तरं राद्धुमारब्धाः, ते यावन्न राध्यन्ति-सिध्यन्तीति तावत्तन्दुलोदकं मिश्रमिति ३ ॥ १९ ॥ एषां दूषणान्याह—

एए उ अणाएसा तिन्निवि कालनियमस्सऽसंभवओ। लुक्खेयरभंडगपवणसंभवासंभवाईहिं ॥ २० ॥

तुशब्द एवकारार्थे भिन्नक्रमश्च, तत एते त्रयोऽप्यनादेशा एव, कुत? इत्याह—कालनियमस्यासम्भवात्, न हि विन्दूपगमादौ कालनियममिति कथमित्याह—रूक्षेतरभाण्डपवनसम्भवासम्भवादिभिः, आदिशब्दाच्चिरकालसलिलभिन्नत्वाभिन्नत्वादिपरिग्रहः, अयं भावः—प्रथमादेशवादिनां मते रूक्षे भाजने शीघ्रं बिन्दवः शोषमुपयान्ति, स्निग्धे च चिरकालं तिष्ठन्ति, ततः संशय एव, द्वितीयादेशवादिनां तु मते बुद्बुदा अपि खरपवनेन झटिति शाम्यन्ति, पवनाभावे तु चिरमपि तिष्ठन्ति, ततः संशय एव, तृतीयादेशवादिनां मते तु तन्दुलाश्चिरकालजलभिन्ना इन्धनादिसामग्रीयुक्ताः शीघ्रमेव निष्पद्यन्ते, शेषास्तु मन्दं, ततस्तथैव निर्णयाभाव इति, इत्थं त्रयोऽप्यनादेशा एवेति ॥ २० ॥ प्रवचनाविरोधी क आदेशः प्रमाणमित्याह—

जाव न बहुप्पसन्नं ता मीसं एस इत्थ आएसो। होइ पमाणमचित्तं बहुपसन्नं तु नायव्वं ॥ २१ ॥

यावत्तन्दुलोदकं न बहुप्रसन्नं—नातिस्वच्छीभूतं तावन्मिश्रं ज्ञेयं, एषोऽत्रादेशः प्रमाणं, न शेषो भवतीति, यत्तु बहुप्रसन्नं—अतिस्वच्छीभूतं तदचित्तं ज्ञातव्यम् ॥ २१ ॥ अचित्तमेवाह—

सीउण्हखारखत्ते अग्गीलोणूसअंबिलनेहे। वुक्कंतजोणिएणं पओयणं तेणिमं होइ ॥ २२ ॥

अप्कायाभिलापेन प्रागिव व्याख्येया ॥ २२ ॥ प्रयोजनमाह—

परिसेयपियणहत्थाइधोवणं चीरधोवणं चेव। आयमण भावधुवणं एमाइ पओयणं बहुहा ॥ २३ ॥

अप्काय-प्रयोजनम्।

परिषेको-दृष्टमणादौ पानहस्तादिधावन चीरधावन चेव आचमनं-शौचकरण, भाजनधावनं, अचित्ताप्कायेनैवमादि बहुधा प्रयोजन स्यादिति, चीरधावन-वस्त्रप्रक्षालन, भिन्नविभक्तिनिर्देशात् ॥ २३ ॥ वर्षाकालासत्रे कार्यमन्यदा दोषसम्भवात् दोषानाह—

उउवद्ध धुवण बाउस बंभविणासो अठाणठवण च। संपाइमवाउवहो पावण भूओवघाओ य ॥२४॥

ऋतुबद्धे-वर्षाव्यतिरिक्ते काले धावन वस्त्राणां चरण बकुश भवति, यद्वा बाकुशिको-विभूषाशील इत्यर्थ, ब्रह्मविनाशः अस्थानस्थापन लोकस्य कामीस्यस्थानस्थापन '< कैरयं कामीस्यस्थानस्था > क्रियते, सम्पातिमानां मक्षिकादिजीवानां वायोश्च वधः प्लावनेन-प्रक्षालनजलपरिष्ठापनेन आत्मोपघातो-भूतविनाशः स्यात् ॥ २४ ॥ नन्वेते दोषा अन्यकाले यथा तथा वर्षाकालेऽपि ?, नेव, तत्राक्षालने दोषानाह—

अइभार चुडण पणए सीयलपाउरणऽजीरगेलण्णे। ओहावणकायवहो वासासु अ धोवणे दोसा ॥२५॥

मलीमसस्य वस्त्रस्याधावने वर्षासु "गङ्गायां घोष" इति न्यायेन वर्षासन्ने काले एते दोषाः स्युः, क इत्याह-अतिभारो भवति जलार्द्रमलयुक्तवस्त्रस्य, चुडण-जीर्णता जायते, पनके-वनस्पतिविशेष उत्पद्यते, जलेन शीतलवाससां प्रावरणे भुक्ताऽजीर्णतया ग्लानत्व जायते, तथा चापभ्राजना-अवज्ञा जिनमते, यथाऽमी साधवो वर्षासु मलात्तवस्त्रपरिधाने मान्द्य जायते,

१ अस्यां प्रतौ सर्वत्र < > एतच्चिह्नमध्यवर्ती पाठः मु० प्रतावेव ।

इत्येतदपि न बुध्यते कुतः स्वर्गापवर्गादिज्ञानमिति, मलिनवस्त्रे कायवधो-ऽप्कायविनाशः स्यात् ॥ २५॥ धावनविधिमाह—

अप्पत्तेच्चिय वासे सव्वं उवहिं धुवंति जयणाए। असइए उ दवस्स य जहन्नओ पायनिज्जोगो ॥ २६॥

वर्षाकाले अप्राप्त एव सर्वमुपधिं यतनया प्रक्षालयन्ति, उदकस्य त्वसति-अभावे जघन्यतः पात्रनिर्योगः प्रक्षालनीयः ॥ २६ ॥ किमयं नियम एव नेत्याह—

आयरिय गिलाणाण य मइला मइला पुणोवि धावंति। मा हु गुरूण अवण्णो लोगंमि अजीरणं इयरे॥२७

आचार्याणां ग्लानानां च मलिनानि २ वस्त्राणि पुनः २ प्रक्षाल्यन्ते, कारणमित्याह-मा भवतु गुरूणामवज्ञा लोके, इतरे-ग्लानेऽजीर्णं मा भवत्विति ॥ २७ ॥ अथ ये सततोपयोग्युपकरणविशेषास्तेषां धावनविधिमाह—

पायस्स पडोयारो दुनिसिज्ज तिपट्ट पोत्ति रयहरणं। एए उ न वीसामे जयणा संकामणा धुवणं ॥२८॥

पात्रप्रत्यवतारः-पात्रवर्जो(र्जः पात्र) निर्योगः, द्वे निषद्ये एकाभ्यन्तरा वस्त्रमयी कम्बलमयी बाह्यापरा रजोहरणसत्का निषद्या द्वयी ज्ञेया, त्रयः पट्टाः-संस्तारकपट्ट उत्तरपट्टश्चोलपट्टश्चेति, पोत्ति-मुखपोतिका, रजोहरणं, एतानुपकरणविशेषान् न विश्रमयेत्-अपरिभोग्यान् स्थापयेत्, प्रत्यहमुपयोगभावात्, यतनयाऽन्यवस्त्रेषु षट्पदिकानां सङ्क्रमणं कुर्यात्, ततो धावनम् ॥ २८ ॥ भाष्यगाथात्रयेणैनां गाथां व्याख्यानयति—

पायस्स पडोयारो पत्तगवज्जो य पायनिज्जोगो । दोन्नि निसिज्जाओ पुण अब्भिंतर बाहिरा चेव ॥भा०८॥

सुगमा ॥ ८ ॥

संथारुत्तरचोलग पट्टा तिन्नि उ हवंति नायवा। मुहपोत्तियत्ति पोत्ती एगनिसेज्ज च रयहरणं ॥भा०९॥

एए उ न वीसामे पइदिणमुवओगओ य जयणाए। संकामिऊण धोवति छप्पइया तत्थ विहिणा उ ॥१०

एवा व्याख्यातार्था एव, नवरं षट्पदिका अन्यत्र संक्रमय्य तत्र विश्रामाभावे विधिना वस्त्राणि प्रक्षालयन्ति ॥ ९-१० ॥

विश्रामणाविधिमाह—

जो पुण वीसामिज्जइ त एव वीयरायआणाए। पत्ते धोवणकाले उवहिं वीसामए साहू ॥२९॥

यः पुनरुपधिर्विश्रम्यते<अपरिभुक्तो ध्रियते स उपधिधावनकाले प्राप्ते सति वीतरागाज्ञया एव, साधुर्विश्रमयेत्>॥ २९ ॥

विश्रामणाप्रकारमाह—

अब्भिंतरपरिभोगं उवरिं पाउणइ नाइदूरे य। तिन्नि य तिन्नि य एगं निसिं तु काउं परिच्छिज्जा ॥३०॥

साधूनां त्रयः कल्पाः—द्वौ क्षौमौ एकः कम्बलः, तत्र रात्रौ स्वयम् अभ्यन्तरपरिभोगं सदैव शरीरेण संलग्न परिभुज्यमानं क्षौमं कल्पमुपरि शेषकल्पद्वयात्त्रीणि दिनानि यावत् प्रावृणोति, येन तत्रस्थाः षट्पदिकाः कल्पद्वये शरीरे वा लगन्ति, एष प्रथमविधिः, ततस्त्रीणि दिनानि यावन्नातिदूरे संस्तारकासन्ने स्थापयति, एष द्वितीयः, एकां निशां, तुः—समुच्चये, स्वापस्थानोपरि लम्बमानं शरीरलग्नप्रायः (पाद)पर्यन्तं कृत्वा स्थापयेत्, ततः परीक्षेत—दृष्ट्या प्रावरणेन च दृष्ट्वा निभाल्य शरीरे

२

प्राप्नोति ॥ २० ॥ एवं सप्तभिर्दिनैः कल्पशोधना कार्या एतदनुसारेण शेषोपकरणस्यापि एतदर्थसूचिका भाष्यगाथा—

धोवत्थं तिन्नि दिणे उवरिं पाउणइ तह य आसन्नं । धारेइ तिन्नि दियहे एगदिणं उवरि लंबंतं ॥भा०११॥

व्याख्यातार्था ॥ ११ ॥ अथ मतान्तरमाह—

केई एक्केकनिसिं संवासेउ तिहा परिच्छंति । पाउणइ जइ न लग्गंति छप्पइया ताहि धोवंति ॥२१॥

केऽपीत्थमाहुः—एकैकनिशां त्रिधा उपरि प्रावरणासन्नस्थापनोपरिलम्बनप्रकारेण संवास्य ततः परीक्षन्ते—इच्या निभालयन्ति, ततः शरीरे प्रावृण्वन्ति, ततोऽपि यदि षट्पदिका न लगन्ति शरीरे, ततो धावयन्ति—प्रक्षालयन्ति ॥ २१ ॥ अथ जलग्रहणविधिमाह—

निवोदगस्स गहणं केई भाणेसु असुइ पडिसेहो । गिहिभायणेसु गहणं ठिय वासे मीसगं छारो ॥२२॥

यद्यप्राप्ते वर्षाकाले धावनिका न कृता तदा प्राप्ते सति वस्त्रधावनार्थं नीव्रोदकस्य ग्रहणं कर्त्तव्यं, केऽप्याहुः—भाजनेषु—स्वपात्रेषु<ग्रहीतव्यं, आचार्य आह—अशुचिरिति लोकगर्हादिदोषात् प्रतिषेधः, स्वपात्रेषु>गृहस्थभाजनेषु कुण्डकादिषु ग्रहणं कार्यम्, परं स्थिते वृष्टौ निवृत्तायां अन्तर्मुहूर्त्तादूर्ध्वमिति गम्यते, कुत इत्याह—वृष्टौ सत्यां तन्मिश्रमेव भवतीति,<गृहीते च मध्ये क्षारः प्रक्षेपणीयो येन भूयः सचित्तं न स्यात्, क्षारेण च समलमपि जलं प्रसन्नतां भजतीति>॥ २२ ॥ अथ धावनिकाक्रममाह—

गुरुपच्चक्खाणिगिलाणसेहमाईण धोवणं पुव्वं। तो अप्पणो पुव्वमहाकडे य इयरे दुवे पच्छा ॥ २२ ॥

पूर्वं गुरूणां, ततः प्रत्याख्यानिनां–क्षपकादीनां<तदनन्तरं ग्लानानां, ततः शैक्षा–नवदीक्षितास्तेषां, तत आत्मनो वस्त्राणि क्रमेण प्रक्षालयेत् गुर्वादीनां>च, वासांसि त्रिधा जायन्ते, तद्यथा–यथाकृतानि अल्पपरिकर्माणि बहुपरिकर्माणि च, यानि यथालब्धान्येव न सीवनादिपरिकर्मयुक्तानि तानि यथाकृतानि, एकवार द्विधा कृत्वा सीवितान्यल्पपरिकर्माणि, बहुधा खण्डित्वा सीवितानि बहुपरिकर्माणि, तत्रापि धावनक्रममाह–'पुव्व'त्ति, पूर्वं–प्रथम सर्वेषामपि यथाकृतानि वासांसि धावयेत्–प्रक्षालयेत्, पश्चात् क्रमेण इतरे द्वे, किमर्थमिति ?, चेदुच्यते–विशुद्धपरिणामवृद्ध्यर्थं, यथाकृतेषु वस्त्रेषु प्रक्षाल्यमानेषु मनागपि पलिमन्थदोषाभावात्[न] संयमबहुमानभावप्रद्विजायते ॥ २३ ॥ प्रक्षालनक्रियामाह–

अच्छोडपिट्टणासु य न धुवे धोए पयावणं न करे। परिभोग अपरिभोगे छायायव पेह कल्लाणं ॥२४॥

अच्छोडनपिट्टनाभ्यां वस्त्राणि न प्रक्षालयेत्, तत्राच्छोटन–रजकैरिवास्फालन, पिट्टनं–कुट्टनं, ताभ्यां धौते–प्रक्षालिते प्रतापन–अग्निरुपरि न कुर्यात्, कथ वस्त्रशोषण कुर्यादित्याह–परिभोग्यानि अपरिभोग्यानि च वस्त्राणि यथाक्रम छायाऽऽतपयोः शोषयेत्, आर्षत्वात् विभक्तिलोपः, तानि शोषार्थं विसारितानि पेहत्ति–प्रेक्षेत, येन तस्करा नापहरन्ति, धावनिकायां वायुविराधनारूपोऽन्यो वा कोऽप्यसंयमः समाप्यते, गुरुणा शुद्धयर्थं कल्याणसञ्ज्ञ प्रायश्चित्तं देय साधोः ॥ २४ ॥ तेजस्कायपिण्डमाह–

तिविहो तेउक्काओ सच्चित्तो मीसओ य अच्चित्तो। सच्चित्तो पुण दुविहो निच्छयववहारओ चेव ॥३५॥

पूर्ववत् तेजस्कायाभिलापेन व्याख्येया ॥ ३५ ॥ निश्चयव्यवहाराभ्यां द्वैविध्यं दर्शयति—

इट्टगपागाईणं बहुमज्झे विज्जुमाइ निच्छयओ । इंगालाई इयरोत्ति मुम्मुरमाईउ मिस्सो उ ॥ ३६ ॥

इष्टकापाकादीनां बहुमध्यभागे विद्युदादि-र्विद्युदुल्काप्रमुखतेजस्कायो निश्चयतः सचित्तोऽङ्गारादिरितरो व्यवहारतश्च, अथ मिश्रमाह-मुर्मुरादिर्मिश्रश्च भवति ॥ ३६ ॥ अचित्तमाह—

ओयणवंजणपाणगआयामुसिणोदगं च कुम्मासा। डगलगसरक्खसूई पिप्पलमाई उ उवओगो ॥३७॥

ओदनः-शाल्यादि भक्तं व्यञ्जनं-तीमनादि पानकं-काञ्जिकं, तत्रोष्णात्वश्रावणक्षेपापेक्षयाऽग्निकायता, आयामं-अवश्रावणमुष्णोदकं-त्रिदण्डोत्कालितजलं, एतेषां समाहारद्वन्द्वः, चकारान्मण्डकादि, कुल्माषाः-पक्वा माषाः, एते चौदनादयोऽग्निकायत्वेनाग्नयो व्यपदिश्यन्ते, भवति चैवं व्यवहारो, यथा-द्रम्मो भक्षितोऽनेनेति, ओदनादयश्चाचित्तास्ततोऽचित्ताग्निकायत्वेन कथिताः, तथा डगलकानि प्रतीतानि, सरजस्को-भस्म सूची-लोहमयी, यथा-रक्षया-भस्मना सह सूची सरक्षासूची, पिप्पलकः-किञ्चिद्वक्रः क्षुरविशेषः, इत्यादिरचित्ताग्निकायो ज्ञेयः, प्रयोजनमाह—एतेषामोदनादीनामुपयोगो भवति भोजनादौ ॥ ३७ ॥ वायुकायपिण्डमाह—

वाउक्काओ तिविहो सच्चित्तो मीसओ य अच्चित्तो। सच्चित्तो पुण दुविहो निच्छयववहारओ चेव ॥३८॥

पूर्ववद्वायुकायाभिलापेन व्याख्येया ॥ ३८ ॥ वायौ व्यवहारनिश्चयमत दर्शयति—

सवलय घणतणुवाया अइहिम अइदुद्दिणे य निच्छयओ। ववहार पाइणाई अक्कताई य अच्चित्तो ॥३९॥

सह मलयैर्वर्चन्ते इति सवलया नरकस्याघनवातास्तनुवाताः, तथा अतिहिमे निपतति, अतिदुर्दिने मेघान्धकारे च यो वायुः सर्वोऽपि निश्चयतः सचित्तः, प्राचीनादिः—पूर्वादिदिग्गतो व्यवहारतः सचित्तः, तथा आक्रान्तादिको वक्ष्यमाणपञ्च-प्रकारोऽचित्त इति ॥ ३९ ॥ आक्रान्तादिस्वरूपमाह—

अक्कतधंतघाणे देहाणुगए य पीलियाइसु य। अच्चित्त वाउकाओ भणिओ कम्मट्ठमहणेहिं ॥ ४० ॥

कर्दमे स्वपादेनाक्रान्ते चिदिति-शब्दं कुर्वन् यो वायुः, ध्माते मुखवातभृते दृत्यादौ यो वा घाणे—तिलपीडनयन्त्रे, यो देहानुगतः—श्वासनिश्वासरूपः, पीलित—उज्जल वस्त्रादि, तेषु यो वात एष सर्वोऽप्यचित्तः, पञ्च प्रकारो वात कर्माष्ट-मथनैर्भणितः ॥ ४० ॥ सम्प्रति मिश्र प्रतिपिपादयिषुः दृत्यादिस्थस्याचित्तवायोर्जले स्थितस्य क्षेत्रमाश्रित्य स्थले स्थित एव (च) कालमाश्रित्याचित्तादिविभागमाह—

हत्थसयमेग गता दइओ अच्चित्तु बीयए मीसो। तइयंमि उ सच्चित्तो वत्थी पुण पोरिसिदिणेसु ॥४१॥

अत्रापश्चोरन्यतरशरीरकर्मणा निष्पन्नो दृतिः, स चाचित्तमुखवातभृतो दवरकेण गाढबद्धमुखो नद्यादिजले प्लाव्यमानो यावद्धस्तशतमेकं याति तावत् स वातोऽचित्तो, द्वितीयहस्तशतप्रारम्भे प्रान्तं यावन्मिश्रः, ततस्तृतीयशते सचित्त एव, अथ

परमपि तथैव, उपलक्षणत्वाद्धस्तिरपि दृतिवज्ज्ञातव्यः, नरचर्ममयो बस्तिरिति, तथा 'वत्थि'त्ति स्थले स्निग्धं कालं रूक्षं च कालमाश्रित्य बस्तिस्थो वातः, उपलक्षणत्वात् दृतिस्थोऽपि यथाक्रमं पौरुषीषु दिनेषु चाचित्तादिरूपो ज्ञेयः ॥ ४१ ॥ एनमेव गाथावयवं भाष्यकृद्गाथाचतुष्टयेन व्याख्यानयति—

निद्धयरो य कालो एगंतसिणिद्धमज्झिमजहन्नो। लुक्खोवि होइ तिविहो जहन्न मज्झो य उक्कोसो ।भा१२

एगंतसिणिद्धंमी पोरिसिमेगं अचेअणो होइ । बिइयाए संमीसो तइयाइ सचेयणो वत्थी ॥भा०१३॥

मज्झिमनिद्धे दो पोरिसीउ अच्चित्तु मीसओ तइए। चउत्थीए सच्चित्तो पवणो दइयाइ मज्झगओ ॥ १४ ॥

पोरिसितिगमच्चित्तो निद्धजहन्नंमि मीसग चउत्थी। सच्चित्त पंचमीए एवं लुक्खेऽवि दिण वुड्ढी ॥ १५ ॥

इह कालो द्विविधः, सामान्यतः–स्निग्धो रूक्षश्च, स्निग्धोऽपि एकान्तस्निग्धमध्यमजघन्यभेदात्रिधा, रूक्षोऽपि जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदास्त्रिधा, एकान्तस्निग्धे काले बस्तिस्थो वायुरुपलक्षणत्वात् दृतिस्थोऽपि एकां पौरुषीं यावदचेतनो भवति, द्वितीयायां मिश्रः, तृतीयायां सचित्त एव मध्यमस्निग्धे काले द्वे पौरुष्यौ यावदचित्तस्ततः पूर्ववदेवैकैकपौरुषीवृद्धिः, जघन्यस्निग्धे पौरुषीत्रिकमचित्तस्तत एकैकपौरुषीवृद्धिः, एवं रूक्षेऽपि काले परं तत्र दिनवृद्धिः कार्येति, यथा–जघन्यरूक्षकाले दिनमेकमचित्तो द्वितीयदिने मिश्रस्तृतीयदिने सचित्त एवेति सर्वत्र भाव्यम् ॥ १२–१५ ॥ प्रयोजनमाह—

दइएण वत्थिणा वा पओयणं होज्ज वाउणा मुणिणो। गेलन्नंमि व होज्जा सचित्तमीसे परिहरेज्जा ॥ ४२ ॥

दृतिना–दृतिस्थेन वस्तिना वस्तिः तेन वायुना चेति समुच्चये नद्याद्युत्तारे प्रयोजनं भवति मुनेः, अनेन जलस्थो वातो गृहीतः, अथवा ग्लानत्वे सति वायुना कार्यमिति, क्वापि रोगे दृत्यादिना सद्गृह्य वातोऽपानादौ क्षिप्यते, अनेन स्थलस्थो गृहीतः, सचित्तमिश्रौ यत्नतः परिहरणीयौ ॥ ४२ ॥ वनस्पतिकायमाह—

वणस्सइकाओ तिविहो सच्चित्तो मीसओ य अच्चित्तो। सच्चित्तो पुण दुविहो निच्छयववहारओ चेव॥४३॥

पूर्ववद्वनस्पत्यभिलापेन व्याख्येया ॥ ४३ ॥ वनस्पतौ व्यवहारनिश्चयमतमाह—

सव्वोऽवऽणंतकाओ सच्चित्तो होइ निच्छयनयस्स। ववहारस्स य सेसो मीसो पव्वायरोट्टाई ॥ ४४ ॥

निश्चयनयस्य मतेन सर्वोऽप्यनन्तकायः सचित्त इति शेषः, प्रत्येको व्यवहारसचित्तः, मिश्रमाह–मिश्रः–प्रम्लानलोट्टादिः, तत्र प्रम्लानः सर्वोऽपि वनस्पतिकायोऽर्द्धशुष्को ज्ञेयः, लोट्टः–घरट्टादिचूर्णः, तत्र काश्चिन्नखिकाः सचित्ता अपि सम्भाव्यन्त इति मिश्रः, आदिशब्दादल्पकालदलितकणिकादिपरिग्रहः ॥ ४४ ॥ अचित्तमाह—

पुप्फाणं पत्ताण सरडुफलाणं तहेव हरियाणं। वंटम्मि मिलाणंमी नायव्वं जीवविप्पजढं ॥ ४५ ॥

पुष्पाणां पत्राणां शलाटुफलानां–कोमलफलानां, तथा हरितानां च वृन्ते–प्रसवबन्धने म्लाने शुष्के सति जीवविप्रमुक्त स्वरूप ज्ञातव्यम् ॥ ४५ ॥ अथ प्रयोजनमाह—

संथारपायदंडगखोमिय कप्पा य पीढफलगाईं। ओसहभेसज्जाणी य एमाइ पओयणं बहुहा ॥ ४६ ॥

द्वीन्द्रियादिपिण्डः तत्प्रयोजनं च

संस्तारकाः–शय्यापट्टादयः, पात्राणि, दण्डकाः क्षौमौ कल्पौ च पीठफलकादिकं, औषधभेषजानि च, तत्रौषधानि-केवलहरीतक्यादीनि, भेषजानि–तेषामेव द्वित्रिसंयोगे, एवमादि बहुधा प्रयोजनं जायते ॥ ४६ ॥ अथ द्वीन्द्रियादिपिण्डचतुष्टयं, तत्प्रयोजनसम्बन्धमाह—

बियतियचउरो पंचिंदिया य तिप्पभिइ जत्थ उ समेंति । सट्ठाणे सट्ठाणे सो पिंडो तेण कज्जमिणं ॥४७॥

यत्र द्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियास्त्रिप्रभृतयः समिंति–संयन्ति–एकत्र संश्लिष्टीभवन्ति, स पिण्डः स्वस्थाने २ भवति, त्रिग्रहणमुपलक्षणं, तेन द्वौ द्वावपि यत्र संश्लिष्यते, यथा–द्वीन्द्रिययोगे द्वीन्द्रियपिण्ड इति, तेन द्वीन्द्रियादिपिण्डेनेदं वक्ष्यमाणलक्षणं काय भवति ॥ ३७ ॥ तदेवाह—

बेइंदियपरिभोगो अक्खाण ससिप्पसंखमाईणं । तेइंदियाण उद्देहिगादि जं वा वए वेज्जो ॥ ४८ ॥

साधोर्द्वीन्द्रियादीनां प्रयोजनं द्विधा–शब्देन शरीरेण च, शकुनादिपरिभावनेन शब्देन, शरीरप्रयोजनं त्रिधा, सम्पूर्णे नैकदेशेन शरीरसम्पर्कसमुद्भूतेन वा केन (किमपि) केषाञ्चित् कदाचिदुपयोग इति, तत्र द्वीन्द्रियाणां सम्पूर्णशरीरेण प्रयोजनमाह–द्वीन्द्रियाणां परिभोगोऽक्षाणां सशुक्तिशङ्खादीनां, तत्राक्षाणां समवसरणस्थापनादौ शुक्तिशङ्खानां चक्षुष्पुष्पकाद्यपनयने, इह उद्देहिकाशब्देनोद्देहिकाकृतवल्मीकमृत्तिका गृह्यते, तदादित्रीन्द्रियाणां परिभोगः, उद्देहिकामृत्तिका(देः) सर्प्पदंशादौ दाहोपशमनाय भवतीति, यद्वा वैद्यः किमपि त्रीन्द्रियशरीरादिकं बाह्यप्रलेपादिनिमित्तं वदेत् सोऽपि ॥ ४८ ॥

॥ १० ॥

चउरिंदियाण मच्छियपरिहारो आसमच्छिया चेव । पंचेंदियपिंडंमि उ अववहारी उ नेरइया ॥४९॥

चतुरिन्द्रियाणां परिभोगः मक्षिकाणां परिहारः–पुरीषे तेन वमननिषेधादि क्रियते,<यद्वा>अश्वमक्षिका उपयुज्यन्ते, काप्यौषधे, चेवशब्दः समुच्चयार्थः, पञ्चेन्द्रियपिण्ड उपयोगविषयतया परिभाव्यमाने तिर्यगादिपिण्डो, यथासम्भवमुपयोगी, नैरयिकाः पुनः अव्यवहारिणः–अनुपयोगिन इति ॥ ४९ ॥ (पञ्चेन्द्रिय)तिर्यगादिपिण्डोपयोगमाह–

चम्मट्ठिदंतनहरोमसिंगअविलाइछगणगोमुत्ते। खीरदधिमाइयाण य पंचिंदियतिरियपरिभोगो ॥५०॥

चर्मादिना पञ्चेन्द्रियतिर्यक्परिभोगः स्यात्, तथा हि चर्मणः क्षुरलेखनादिवरणार्थं कोशकरणे, अस्थ्नो वृद्धनखिकादेः, शरीरस्फोटापनोदाय दन्तस्य–शूकरदंष्ट्रायाः, दृष्टि(पु) पुष्पिकनिवारणे, नखानां काप्यौषधे, रोम्णां कम्बलादौ, शृङ्गस्य-महिषसत्कस्य परिभोग इति, सर्वत्र शृङ्ग हि मार्गभ्रष्टसाधूनां मीलनाय वाद्यते, अविला–मड्डरिका आदिशब्दादन्येषां पशूनां छगणस्य गोमूत्रस्य पामाद्युपमर्दने, क्षीरदध्यादीनां भोजने परिभोग इति ॥ ५० ॥ मनुष्यस्य सचित्तादिभेदात्रिधोपयोगमाह–

सच्चित्ते पव्वावण पंथुवएसे य भिक्खदाणाई । सीसट्ठिग अच्चित्ते मीसट्ठिसरक्खपहपुच्छा ॥ ५१ ॥

सचित्ते मनुष्यप्रव्राजन दीक्षा, पथि पृष्टे उपदेशः–कथन, भिक्षादानादिप्रयोजन स्यात्, अचित्ते शीर्षास्थिना यदि लिङ्ग रोगोपशमनाय घर्षित्वा दीयते, मिश्रे अस्थियुक्तस्य सरजस्कस्य–भस्मावगुण्ठितस्य, कापालिकस्य पथि पृष्टा अस्थ्याद्यचित्तं देहश्च सचित्त इति मिश्रता ॥ ५१ ॥ देवतापिण्डोपयोगमाह–

खमगाइ कालकज्जाइएसु पुच्छिज्ज देवयं कांचि । पंथे सुभासुभे वा पुच्छेज्जह दिव उवओगो ॥ ५२ ॥

क्षपकादिभिः कोऽपि कालकार्ये-मरणरूपं तदादिप्रयोजनेषु सत्सु काचिद्देवतां पृच्छेत्, पथिविषये शुभाशुभे काञ्चन देवतां पृच्छेत्, एष दिव्य उपयोग इति ॥ ५२ ॥ अथ नवानां पृथ्वीकायादीनां द्व्यादिसंयोगे मिश्रं द्रव्यपिण्डमाह—

अह मीसओ य पिंडो एएसिं चिय नवण्ह पिंडाणं । दुगसंजोगाईओ नायव्वो जाव चरमोत्ति ॥ ५३ ॥

अथैतेषामेव नवानां पिण्डानां द्व्यादिसंयोगात्मिको मिश्रद्रव्यपिण्डो ज्ञातव्यः, तथा हि–पृथ्वीकायोऽप्कायश्चेति द्विकसंयोगे प्रथमो भङ्गः, पृथ्वीकायतेजस्काय इति द्वितीयः, एवं षट्त्रिंशत्, तथा त्रिकसंयोगे चतुरशीतिः, चतुष्कसंयोगे षड्विंशं शतं, पञ्चकसंयोगेऽपि तथैव, षट्कसंयोगे चतुरशीतिः, सप्तकसंयोगे षट्त्रिंशत्, अष्टकसंयोगे नव, नव(क)संयोगे एकः, सर्वसङ्ख्यया भङ्गानां पञ्चशतानि द्व्यधिकानि, एतेषां च भङ्गानामानयनाय करणगाहा–" उभयमुहं रासिदुगं हिट्ठिल्लानंतरेण भय पढमं । लद्धह रासिविहि(भ)त्ते तस्सुवरि गुणित्तु संजोगा ॥ १ ॥ " अस्या अक्षरार्थः–इह नवानां पदानां संयोगे भङ्गा आनेतुमभिप्रेतास्ततस्तावत्प्रमाणौ द्वौ राशी उभयमुखौ स्थाप्येते, स्थापना चेयम्–$\frac{१२३४५६७८९}{९८७६५४३२१}$, अत्र एकस्योपरि यो नवकोऽनेन नवभङ्गा द्रष्टव्याः, न च तत्र करणगाथाया व्यापारः, द्व्यादिसंयो(गभङ्)गानयनायैव तस्याः प्रवृत्तत्वात्, ततोऽधस्तने राशौ पर्यन्तवर्त्तिन एककस्यानन्तरेण द्विकलक्षणेनोपरितनराशौ प्रथमाङ्कं नवकरूपं भजेत्, ततो लब्धाः सार्द्धाश्चत्वारः, तेन सार्द्धेन चतुष्केणाधोराशिना उपरितने प्रथमाङ्के विभक्ते लब्धेन तस्य द्विकलक्षणस्योपरितनमङ्कमष्टकरूपं

गुणयेत्, जाताः षट्त्रिंशत्, इत्य च गुणयित्वा संयोगाः–संयोगभङ्गा वाच्याः, यथा द्विकसंयोगे षट्त्रिंशदिति, ततो भूयोऽपि त्रिकसंयोगभङ्गानयनाय प्रथमपादरहिता करणगाथा व्यापार्यते, अपस्तने राशौ स्थितेन द्विकादनन्तरेण त्रिकेणोपरितन राशिव्यवस्थित, त्रिकोपरितनसप्तकरूपाङ्कापेक्षया आयं षट्त्रिंशद्रूपमङ्कं भजेत्, लब्धा द्वादशास्तैश्च अधोराशिनोपरितनेऽङ्के विभक्ते लब्धैस्त्रिकोपरितनमङ्कं सप्तकं गुणयेत्, जाताश्चतुरशीतिरेतावन्तस्त्रिकसंयोगे भङ्गाः, एवं यावत्सप्तकसंयोगे एको भङ्गः, यथा चाह–'जाव चरिमो'त्ति, यावत्सप्तकनिष्पन्न एको मिश्रपिण्डः, स च लेपमधिकृत्योपदर्श्यते, इहाक्षस्य धुरि प्रक्षिप्तायां रजोरूपः पृथ्वीकायो लगति, नदीमुत्तरतोऽप्कायः, लोहमयस्तेन धुर आसमनस्य च घर्षणाद्विना तेजस्कायो 'यत्र तेजस्तत्र वायु'रिति, सोऽपि वनस्पतिकायोऽक्ष एव, द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः सम्पातिमाः सम्भवन्ति, मक्षिकादिचर्ममयनाडिका देव घृष्यमाणस्यावयवरूपः पञ्चेन्द्रियपिण्डः, इत्यभूतेन चाथस्य खञ्जनेन लेपः क्रियते इत्यसावुपयोगी, इतिशब्दो मिश्रपिण्डसमाप्तौ ॥ ५३ ॥ अथ कान्यपि मिश्रद्रव्यपिण्डस्योदाहरणानि दर्शयति—

सोवीरा गोरसासव वेसण भेसज्ज नेह साग फले। पोग्गल लोण गुडोयण णेगा पिण्डा उ संजोगे॥५४॥

सौवीरं–काञ्जिक, तथाऽप्कायतेजस्कायवनस्पतिकायादिपिण्डरूपम्, तथाहि–तत्र तन्दुलधावनमप्कायोऽवश्रावणं तेजस्कायः तन्दुलावयवाश्च वनस्पतिकायाः, एवं सर्वत्र भावनीयम्, गोरसं–तक्रादि, आसवो–मद्य, वेसन जीरकलवणादि, भेषजं प्रतीत, स्नेहो घृतवसादि, शाकः, फल पक्वमिह ज्ञेयम्, पोग्गल मांस, लवण, गुडोदनौ, एवमनेके द्व्यादिसंयोगे पिण्डा

भावनीयाः ॥ ५४ ॥ अथ क्षेत्रकालपिण्डावाह—

तिन्नि उ पएससमया ठाणट्ठिइउ दविए तयाएसा। चउपंचमपिंडाणं जत्थ जया तप्परूवणया ॥५५॥

त्रयः प्रदेशाः समयाश्च सङ्गताः यथाक्रमं चतुष्पञ्चमपिण्डयोः क्षेत्रकालरूपयोः स्वरूपं स्यात्, विशेषमाह—कस्मात् 'दविए'त्ति, द्रव्ये पुद्गलस्कन्धरूपे, स्थानं—अवगाहः, स्थितिः-कालतोऽवस्थानं, ततः स्थानस्थितितः—स्थानं स्थितिं चाश्रित्य यस्तदादेशः क्षेत्रकालयोर्विवक्षारूपस्तस्मादिति, यथा—एकप्रादेशिकोऽयं द्विप्रादेशिकोऽयमित्यादि व्यपदिश्यमानः क्षेत्रपिण्डः, यदा त्वेकसामयिकोऽयं द्विसामयिको वा तदा कालपिण्ड इत्यर्थः, प्रकारान्तरेण सोपचारौ क्षेत्रकालपिण्डवाह—जत्थेत्ति, यत्र—वसत्यादौ यदा प्रथमपौरुष्यादौ तत्प्ररूपणा-पिण्डप्ररूपणा क्रियते स पिण्डो नामादिरपि क्षेत्रमधिकृत्य क्षेत्रपिण्डः, कालमधिकृत्य कालपिण्डः, यथाऽमुकः प्रथमप्रहरादिरूपः कालपिण्ड इति ॥ ५५ ॥

ननु मूर्त्तेषु द्रव्येषु परस्परं संयोगतः सङ्ख्याबाहुल्यतश्च पिण्ड इति व्यपदेशो घटते, क्षेत्रकालयोर्न, यतः "खित्तं खलु आगास"मिति वचनात्, क्षेत्रमाकाशं तच्च नित्याकृतकत्वात्, सदैव तथा व्यवस्थितमिति न संयोगः, कालेऽपि पूर्वापरसमययोर्विनिष्टानुत्पन्नत्वेन वार्तमानिक समय एव प्रमाणं, न तत्र संयोगः, सङ्ख्या चेति अत्रोत्तरमाह—

मुत्तदविएसु जुज्जइ जइ अन्नोऽन्नाणुवहओ पिंडो। मुत्तिविमुत्तेसुवि सो जुज्जइ नणु संखबाहुल्ला ॥५६॥

ननु यदि मूर्त्तेषु द्रव्येष्वन्योऽन्यानुवेधतः—परस्परसंयोगतः, सङ्ख्याबाहुल्ला इत्यनेनापि सम्बध्यते, द्व्यादि सङ्ख्या बाहुल्य-

तथ पिण्ड इति व्यपदेशो युज्यते, तर्हि मूर्तिविमुक्तेष्वमूर्तेष्वपि अरूपिषु स पिण्ड इति व्यपदेशो युज्यते, तत्रापि पिण्डशब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य परस्परसंयोगस्य सङ्ख्याबाहुल्यस्य च सम्भवात्, तथा हि क्षेत्रप्रदेशाः परस्परं नैरन्तर्यलक्षणेन सम्बन्धेन सम्बद्धा अवतिष्ठन्ते, तथा च सङ्ख्याबाहुल्यमपि, एवं कालेऽपि, तच धर्म्मसङ्ग्रहिण्यादौ विशेषाद्विलोक्यम् ॥ ५६ ॥ अथ क्षेत्रपिण्डशब्दप्रवृत्त्या अविरोध दृष्टान्तद्वारेण समर्थयते—

जह तिपएसो खंधो तिसुवि पएसेसु जो समोगाढो। अविभागेण संबद्धो कहं तु नेवं तदाधारो ? ॥५७॥

यथा कश्चित्त्रिप्रदेशिकः त्रिपरमाण्वात्मकः स्कन्धस्त्रिष्वप्याकाशप्रदेशेषु अवगाढो न त्वेकस्मिन् द्वयोर्वा इत्यपि शब्दार्थः, अविभागेन नैरन्तर्येण सम्बद्धः, पिण्ड इति व्यपदिश्यते, एवं-त्रिप्रदेशावगाढत्रिपरमाणुस्कन्ध इव तदाधारः-त्रिपरमाणुस्कन्धाधारः, प्रदेशत्रयसमुदायः कथं न पिण्ड इति व्यपदिश्यते ?, सोऽपि पिण्ड इति, उभयत्र विशेषाभावात् ॥ ५७ ॥ अथ " अस्य जया तप्परूवणया " इति व्याचिख्यासुः, नामादिचतुर्णां पिण्डानां संयोगविभागसम्भवात् पारमार्थिक पिण्डत्व क्षेत्रकालयोस्तु तदभावादौपचारिकं पिण्डत्व प्रतिपादयन्नाह—

अहवा चउण्ह नियमा जोगविभागेण जुज्जए पिंडो। दोसु जहियं तु पिण्डो वणिज्जइ कीरए वावि॥५८॥

' अथवे ' ति-प्रकारान्तरे, लोके हि यत्र योगे सति विभागः कर्तुं शक्यते, तत्र पिण्डव्यपदेशः, क्षेत्रप्रदेशेषु नित्यत्वेन तथास्थितत्वाद्विभागः कर्तुमशक्यः, तथा कालेऽपि पूर्वापरसमययोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन योगाभावाच्च पारमार्थिक पिण्डत्व

युज्यते, ततः प्रकारान्तरेणाह—चतुर्णां—नामस्थापनाद्रव्यभावपिण्डानां संयोगविभागेन पिण्डव्यपदेशो युज्यते, यथा पुरुषादि नामपिण्डस्य हस्ताद्यवयवैर्युक्तस्यापि खड्गादिना विभागः कर्तुं शक्यते, स्थापनायामक्षत्रिकादिसंयोगे विभागः स्यात्, द्रव्ये गुडौदनादौ सुकर एव, भावपिण्डोऽपि भावभाववतोरभेदोपचारात्कथमपि साध्वादेरेव मूर्तो गृह्यते, तत्र च संयोगविभागौ नामपिण्ड इवेति, क्षेत्रकालपिण्डयोस्तूक्तनीत्या न संयोगविभागौ, ततो नामादिपिण्डे उपचारः कार्य इत्येतदेवाह—'दोसु' त्ति द्वयोः—क्षेत्रकालयोः यत्र-वसत्यादौ यदा वा प्रथमपौरुष्यादौ यो नामादिपिण्डो व्यावर्ण्यते, यद्वा यत्र गृहे यदा वा प्रथमप्रहरादौ गुडौदनादिपिण्डो निष्पाद्यते—क्रियते स व्यावर्ण्यमानोऽथ क्रियमाणो वा गुडौदनादिपिण्डो यथाक्रमं क्षेत्रपिण्डः कालपिण्डश्च व्यपदिश्यते, यथाऽमुकवसत्यादिक्षेत्रपिण्डः प्रथमपौरुषीपिण्ड इत्यादि ॥ ५८ ॥ भावपिण्डमाह—

दुविहो उ भावपिण्डो पसत्थओ चेव अप्पसत्थो य । एएसिं दोण्हंपि य पत्तेय परूवणं वोच्छं ॥५९॥

द्विविधो भावपिण्डः, प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च, एतयोर्द्वयोरपि प्रत्येकं प्ररूपणां वक्ष्ये ॥ ५९ ॥ प्रतिज्ञातमेवाह—

एगविहाइ दसविहो पसत्थो चेव अप्पसत्थो य। संजमविज्जाचरणे नाणादितिगं च तिविहो उ ॥६०॥
नाणं दंसणं तव संजमो य वय पंच छच्च जाणेज्जा। पिंडेसण पाणेसण उग्गहपडिमा य पिंडम्मि ॥६१॥
पवयणमाया नव बंभगुत्तिओ तह य समणधम्मो य। एस पसत्थो पिंडो भणिओ कम्मट्ठमहणेहिं ॥६२॥
अपसत्थो य असंजम अन्नाणं अविरई य मिच्छत्तं । कोहायासव काया कम्मे गुत्ती अहम्मो य ॥६३॥

गाथाचतुष्टय लग्न; प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च भावपिण्डः, प्रत्येकमेकविधादिको दशविध इति, प्रथममेकविधो यावद्दशविध इत्यर्थः, तथैवाह–' संजम ' त्ति, संयम एवैकः प्रकारः प्रशस्तभावपिण्ड इति, शेषभेदानामत्रैवान्तर्भूतत्वात् विद्याचरणे ज्ञानक्रिये द्विप्रकारः, सम्यक्त्व ज्ञानेऽन्तर्भूत, ज्ञानादित्रिक–ज्ञानदर्शनचारित्ररूप तु त्रिविध इति, यो यथा प्रतिपद्यते तस्य तथा कथ्यत इति, चतुर्विधः पिण्डो ज्ञानदर्शनतपःसंयमाः, पञ्चविधः पञ्च व्रतानि, षड्विधः षड् व्रतानि, रात्रिभोजनस्य पृथक्करणात्, सप्तविधे पिण्डे–सप्त पिण्डैषणाः सप्तावग्रहप्रतिमाश्च, तत्र पिण्डैषणाः पानैषणाश्च संसृष्टादयः–" संसट्ठमसंस-

१ अवग्रहप्रतिमाः सप्त, अवगृह्यते इत्यवग्रहस्तस्य प्रतिमा अभिग्रहः, तत्र पूर्वमेवैवम्भूतः प्रतिश्रयो मया मार्ग्यो नान्यथाभूत इति विचिन्त्य तमेव याचित्वा गृह्णतः प्रथमा १ । तथा यस्यैवंभूतोऽभिग्रहो भवति–अहं चान्येषां कृतेऽवग्रहः ग्रहीष्यामि, अन्यैश्च गृहीतेऽवग्रहे वत्स्यामीति द्वितीया, तत्र प्रथमा सामान्येन, इयं तु गच्छान्तर्गतानां साम्भोगिकानां यथोद्युक्तविहारिणां यतस्तेऽन्योऽन्यार्थं याचन्ते २ । अन्यार्थमवग्रहं याचिष्ये अन्यावगृहीते तु न स्थास्यामीत्येषाऽहालन्दिकानां, यतस्ते सूत्रार्थविशेषमाचार्यादभिकाङ्क्षन्त आचार्यार्थं तं याचन्ते ३ । अहमन्यार्थमवग्रहं न याचिष्ये, अन्यावगृहीते तु वत्स्यामीति, एषा गच्छे यथोद्युक्तविहारिणां जिनकल्पार्थं परिकर्म कुर्वतां ४ । आत्मकृतेऽवग्रहं याचिष्ये न परार्थं, एषा जिनकल्पिकस्य ५ । यदीयमवग्रहं ग्रहीष्यामि तदीयमेव चेत्कटादिसंस्तारकं ग्रहीष्यामि, अन्यथोत्कटुक उपविष्टो वा रात्रिं गमिष्यामीत्येषा जिनकल्पिकादेः ६ । सप्तमी त्वेषैव पूर्वोक्ता नवरं यथासंस्तृतमेव शिलादि ग्रहीष्यामि नान्यदिति ७ ।

२ व्याख्या–असंसृष्टा हस्तमात्राभ्यां चिन्त्या, असंसृष्टे हस्ते असंसृष्टे मात्रे, असंसट्ठिआवि तुज भवइ, एवं गुरुतः प्रथमा,

पिण्डयत्यात्मना सह सम्बद्धं करोति सद्भावस्तस्माद्भावपिण्ड इत्युच्यते ॥ ६६ ॥ षण्णामपि पिण्डानां स्वरूपं कथयित्वा केनात्राधिकारः पिण्डेनेत्याह—

दव्वे अच्चित्तेणं भावंमि पसत्थएणिहं पगयं। उच्चारियत्थसरिसा सीसमइविकोवणट्ठाए ॥ ६७ ॥

इहास्यां पिण्डनिर्युक्तौ द्रव्ये अचित्तद्रव्यपिण्डेन भावे च प्रशस्तेन भावपिण्डेन प्रकृतं–प्रयोजनं तर्हि शेषाः कथमुक्ता? अत आह—शेषा नामादयः पिण्डा उच्चारितार्थसदृशा–उच्चारितः प्रतिपादितो योऽर्थः, पिण्डशब्देनान्वर्थयुक्तेन तत् सदृशास्तेषामपि पिण्ड इत्येवमुच्चार्यमाणत्वात्, ततः शिष्याणां मतेर्विकोपनं–प्रकोपनं झटिति तत्तदर्थव्यापकतया प्रसरीभवनं तदर्थमुक्ताः, अयं भावः–नामादयोऽपि पिण्डा उच्यन्ते, परमिहाचित्तद्रव्यपिण्डेन प्रशस्तभावपिण्डेन च कार्यं, न शेषैः, अस्यार्थस्य ज्ञानार्थं शेषनामादिपिण्डोपन्यास इति ॥ ६७ ॥ ननु मुमुक्षूणां मोक्षाय प्रशस्तेन भावपिण्डेन प्रयोजनं किमचित्तद्रव्यपिण्डेनेति, चेदुच्यते, भावपिण्डोपचयस्य कारणत्वात्तथैवाह—

आहारउवहिसेज्जा पसत्थपिंडस्सुवग्गहं कुणइ। आहारे अहिगारो अट्ठहिं ठाणेहिं सो सुद्धो ॥६८॥

अचित्तद्रव्यपिण्डस्त्रिधा–आहार उपधिः शय्या च, एतत्त्रयमपि प्रशस्तपिण्डस्य ज्ञानादेरुपग्रहं–उपष्टम्भं करोति, केवलमत्राहारेऽधिकारः स चाहारोऽष्टभिः स्थानैरुद्गमादिषु परिशुद्धो यथा यतीनां स्यात्तथोच्यते ॥ ६८ ॥ ननु आहारपिण्डेन कथं विशेषकार्यमत्रेत्याह—

शुद्धाहारस्य मोक्षकारणत्वम्।

निव्वाणं खलु कज्जं नाणाइतिगं च कारणं तस्स । निव्वाणकारणाणं च कारणं होइ आहारो ॥ ६९ ॥

'खलु' अवधारणे साधूनां, निर्वाणमेव कार्यं, ज्ञानादित्रिकं च तस्य निर्वाणस्य कारणं, निर्वाणकारणानां—ज्ञानदर्शनचारित्राणां आहारः कारणं भवति, आहारमन्तरेण देहस्थितेरभावात्तदभावे च ज्ञानाद्यसाधनात्, आहारस्य तु दोषदुष्टस्य चारित्रभ्रंशकारित्वात् ॥ ६९ ॥ शुद्ध एव ग्राह्य इति दृष्टान्तेनैतदर्थं वक्ति—

जह कारणं तु ततू पडस्स तेसिं च होंति पम्हाइ । नाणाइतिगस्सेवं आहारो मोक्खनेमस्स ॥७०॥

यथा पटस्य तन्तवः कारणं तेषां च तन्तूनां पक्ष्माणि कारणानि भवन्ति, एवमनेन दृष्टान्तेन ज्ञानादित्रिकस्य मोक्षो नेमः इति नेमशब्दो देश्यः कार्यवाची, ततो मोक्षकार्यस्य आहारः कारणं भवतीति ॥ ७० ॥ मोक्षकारणतां दृष्टान्तेन पुनर्भावयति—

जह कारणमणुवहयं कज्जं साहेइ अविकलं नियमा । मोक्खक्खमाणि एवं नाणाईणि उ अविगलाइं॥७१॥

यथा बीजादिकारणं अनुपहतं—अग्न्यादिभिरविध्वस्तं अविकलं—परिपूर्णसामग्रीसम्पन्नं नियमादङ्कुरलक्षणं कार्यं जनयति, एवं अविकलानि ज्ञानादीनि मोक्षक्षमाणि—मोक्षसाधनयोग्यानि भवन्ति ॥ ७१ ॥ पिण्डोपसंहारं तथैषणोपन्यासं चाह—

संखेवपिंडियत्थो एवं पिंडो मए समक्खाओ । फुडवियडपायडत्थं वोच्छामी एसणं एत्तो ॥ ७२ ॥

संक्षेपेण पिण्डितो मीलितोऽर्थः संक्षेपपिण्डितार्थः, एवं मया पिण्डः समाख्यातः । स्फुटविकटप्रकटार्थामेषणामितो वक्ष्ये,

तत्र स्फुटो-निर्मलो न तात्पर्यानवबोधेन कश्मलः, विकटः-सूक्ष्ममतिगम्यतया दुर्भेदः प्रकटो-विशिष्टवचनरचनाविशेषेण सुखप्रतिपाद्योऽर्थोऽभिधेयं यस्याः सा तथा ताम् ॥ ७२ ॥ अथैषणाया एकार्थिकानि नामानि प्राह—

एसण गवेसणा मग्गणा य उग्गोवणा य बोद्धव्वा । एए उ एसणाए नामा एगट्ठिया होंति ॥ ७३ ॥

एषणा, गवेषणा, मार्गणा, उद्गोपना, एतान्येकार्थिकानि नामानि एषणाया बोधव्यानि भवन्ति ॥ ७३ ॥ अथैषणा भेदानाह—

नामं ठवणा दविए भावंमि य एसणा मुणेयव्वा । दव्वे भावे एक्केक्कया उ तिविहा मुणेयव्वा ॥ ७४ ॥

चतुर्विधा एषणा ज्ञातव्या, तथाहि नामैषणा, एषणा इति कस्यापि नामेति, स्थापनैषणा एषणावतः साध्वादेरयमेषणेति स्थापना, तथा द्रव्ये एषणा भावे चैषणा, द्रव्यभावयोः स्वरूपमाह-द्रव्ये भावे चैषणा एकैकात्रिविधा ज्ञातव्या ॥७४॥ तत्र द्रव्यविषया सचित्तादिभेदात्रिधा, भावैषणा-गवेषणाग्रहणैषणाग्रासैषणाभेदात्रिधा तत्र द्विपदचतुष्पदापदभेदात्रिधा, सचित्तद्रव्यैषणा, तत्र प्रथमतो द्विपदद्रव्यविषयामेषणामाह—

जम्मं एसइ एगो सुयस्स अन्नो तमेसए नट्ठं । सत्तुं एसइ अन्नो पएण अन्नो य से मच्चुं ॥ ७५ ॥

इह यद्यपि चत्वारि एषणादीनि नामानि प्रागेकार्थिकान्युक्तानि, परं कश्चिदर्थविशेषोऽस्ति, तथा हि 'इषु इच्छायाम्' एषणं एषणा इच्छा गवेषणमनुपलभ्यमानस्य पदार्थस्य परिभावनं, मार्गणं निपुणबुद्ध्या अन्वेषणं, उद्गोपनं-विवक्षितस्य

एषणा-
भेदाः ।

पदार्थस्य जनप्रकाश चिकीर्षा, तत्र एतेषां क्रमेणोदाहरणान्याह—एकः कोऽपि सुतस्य जन्म एषते—इच्छति इदमेषणायामुदाहरणं, अन्यः कोऽपि त सुतं क्वापि नष्टं एषते—गवेषयते विलोकयति, इद गवेषणायामुदाहरणं, अन्यः कोऽपि पदेन धूलीसमुत्थचरणप्रतिबिम्बानुसारेण शत्रुं एषते—मृगयते, इद मार्गणायामुदाहरणम्, अन्यः 'से' तस्य शत्रोर्मृत्युमेषते—उद्घोषयति, सर्वजनसमक्षं मृत्युमभिधातुमभिलषतीत्यर्थः, इदमुद्घोषनायामुदाहरणम् ॥ ७५ ॥ उक्ता सचित्तद्विपदद्रव्यैषणा, अथ चतुष्पदापदमिश्राचित्तविषयामाह—

एमेव सेसएसुवि चउप्पयापय अचित्तमीसेसु । जा जत्थ जुज्जए एसणा उ तं तत्थ जोएज्जा ॥७६॥

एवमेव द्विपदप्रकारेणैव शेषेष्वपि चतुष्पदपदाविषमिश्रेषु गवादिबीजपूरकादिद्रम्मादिकटककेयूराद्याभरणविभूषितसुतादिरूपेष्वपि यत्र या एषणा—इच्छा गवेषणा मार्गणा उद्घोषनारूपा युज्यते—घटते तां तत्र योजयेत् ॥ ७६ ॥ भावैषणात्रिप्रकारमाह—

भावेसणा उ तिविहा गवेसगहणेसण उ बोद्धवा । गासेसणा उ कमसो पन्नत्ता वीयरागेहिं ॥७७॥

गवेषणाग्रहणैषणाग्रासैषणाभेदात् भावैषणा त्रिविधा, वीतरागैः क्रमशः—क्रमेण प्रज्ञप्ताः—ज्ञातव्याः, भावो ज्ञानादिपरिणामविशेषस्तस्य यथा हानिर्न स्यात्तथा पिण्डो विलोकनीय इति ॥ ७७ ॥ कथं पुनरयं क्रम इत्याह—

अगविट्ठस्स उ गहणं न होइ न य अगहियस्स परिभोगो । एसणातिगस्स एसा नायव्वा आणुपुव्वी उ॥७८॥

भावैषणाप्रकाराः ।

अगवेपितस्य—अपरिभावितस्य ग्रहणं न भवति, अगृहीतस्य परिभोगो न स्यात्, एपणात्रिकस्य एषा आनुपूर्वी ज्ञातव्या ॥ ७८ ॥ अथ गवेपणाया नामादीन् भेदानाह—

नामं ठवणा दविए भावंमि गवेसणा मुणेयव्वा । दव्वंमि कुरंगगया उग्गमउप्पायणा भावे ॥ ७९ ॥

गवेपणा चतुर्द्धा नामगवेपणा स्थापनागवेपणा द्रव्ये भावे च गवेपणा, द्वयं पूर्ववत्, द्रव्ये द्रव्यगवेपणायां कुरङ्गगजा उदाहरणं, भावे भावगवेपणायां 'सूचनात् सूत्रमि'ति उद्गमोत्पादनादोपरहित आहार इति ॥ ७९ ॥ अथ द्रव्ये कुरङ्गोदाहरणं गाथात्रयेण दर्शयति—

जियसत्तु देवि चित्तसभ पविसणं कणगपिट्ठपासणया । दोहल दुब्बल पुच्छा कहणं आणा य पुरिसाणं॥८०

सीवन्निसरिसमोयगकरणं सीवन्निरुक्खहेट्ठेसु । आगमण कुरंगाणं पसत्थ अपसत्थ उवमा उ ॥८१॥

विइअमेयं कुरंगाणं, जया सीवन्नि सीयइ । पुरावि वाया वायंता, न उणं पुंजकपुंजका ॥ ८२ ॥

आसामर्थः कथानकादवसेय इति तदुच्यते (६. १)—

क्षितिप्रतिष्ठितपुरे जितशत्रुनृपस्य सुदर्शनादेव्या सुगर्माया‌श्चित्रसभायां प्रवेशनं, तत्र कनकपृष्ठान् मृगान् दृष्ट्वा तन्मांसभक्षणे दोहृदमजायत, तेन सा राज्ञी दुर्बला, तथाविधां तां दृष्ट्वा नृपतेः पृच्छा, तथा च दुर्बलत्वस्य दोहृदकारणकथनं कृतम्, राजा कनकपृष्ठमृगानयनाय पुरुषान् प्रेपितवान्, कनकपृष्ठकुरङ्गानां श्रीपर्णीफलानि वल्लभानि, तानि च

सम्प्रति न सन्ति, यश्च यत्राशक्तस्तं प्राप्य प्रमोदेन बध्यते, अतः श्रीपर्णीवृक्षाधः श्रीपर्णीफलसदृशमोदककरण कुर्मः, तत्र च पाशान् स्थापयाम इति राजपुरुषैश्चिन्तितम्, तथैव च कृतम्, तेषां च मृगाणां यूथाधिपतिना सम तत्रागमन जात यूथपतिर्मृगान् उक्तवान्, विदित प्रतीतमेतत्, कुरङ्गाणां यदा श्रीपर्णी सीदति धामूलामनेकार्थत्वात्' फलति तस्मान्नेदानीं फलानि सम्भवन्ति सम्भवन्तु वा तथापि कथ(पुञ्जक) पुञ्जकाकारेण स्थितानि ? वातवशाच्चैव पुरापि वाता वान्ति न पुनरेव पुञ्जकपुञ्जकाः फलानामभवन्, तस्मात् केनापि धूर्तेन भवद्बन्धनाय कूट कृतमिति, मायूयमेतेषामुपकण्ठ गमत इत्युक्ते यैस्तद्वचः प्रतिपन्न ते दीर्घायुषो जाता, यैस्त्वाहारलम्पटतया न प्रतिपन्न ते पाशबन्धनादि दुःखयुता जाता । इह यूथाधिपतेः श्रीपर्णीफलसममोदकसदोषत्वनिर्दोषत्वविलोकन द्रव्यगवेषणा, इह " पमरय अप्पसरय उवमाओ " ये यूथाधिपतिवचनकारिणः ते प्रशस्ताः, इतरे त्वप्रशस्ता इति, अनेन दार्ष्टान्तिकोऽप्यर्थः सूचितस्तथाहि—यूथपतिसमा आचार्याः मृगसमा साधवः, ये गुरुवचसा आधाकर्मादिदुष्टमाहार त्यजन्ति ते प्रशस्ताः, इतरे त्वप्रशस्ताः, (६. २) ।

वसन्तमभिवेशे समिताः सूरयः समागताः, कदापि श्राद्धैः साधुनिमित्तमाधाकर्म्मादि कारितं, सूरिभिर्ज्ञात्वा निवारिताः साधवो ये गतास्तत्राहारग्रहणार्थं ते दुर्गतिदुःखभाजिनोऽजायन्त, ये तु गुरुवचनासक्तास्ते संसारपारमगुरिति ॥८०–८१–८२॥

अथ गाथाद्वयेन गजदृष्टान्तमाह—

हत्थिग्गहण गिम्हे अरहट्टेहिं भरणं च सरसीणं । अच्चुदएण नलवण आरूढा गयकुलागमणं ॥८३॥

द्रव्यगवेषणायां मृगदृष्टान्तः ।

विइमेय गजकुलाणं, जया रोहंति नलवणा । अन्नयावि झरंति हदा, न य एवं बहुआदगो ॥ ८४ ॥

अत्रापि कथानकादर्थस्तच्चेदम् (६. ३)

आनन्दपुरे रिपुमर्दनभूपस्यासन्नगजकुलशतसहस्रयुतमरण्यं ज्ञात्वा ग्रीष्मकाले मया हस्तिग्रहणं कार्यमिति चिन्ता, नलपुरुषाः आदिष्टाः, तैः गजाः सल्लकीप्रियाः, सम्प्रति गीष्मकालत्वात् सल्लकी नेति अरघट्टैः सरसीनां भरणं चक्रे, नलवनासन्ने पाशा मण्डिताः, ततोऽत्युदकेन नलवनानि अतिप्ररूढानि, ततो यूथपतिना समं गजकुलानामागमनं जातम्, यूथपतिर्गजानुवाच—विदितमेतद्गजकुलानां यदा नलवनानि रोहन्ति प्ररूढानि भवन्ति, तस्मान्नामूनि स्वाभाविकानि, अथ निर्झरवशादिति चेन्नैवं, अन्यदापि ह्रदास्स्रवन्ति, न त्वेवं बहूदकाः सरस्यः कदाचनापि, तत्र कूटमत्रास्ति, मा यूयमत्र गमतेत्युक्ते ये स्थितास्ते तु चिरायुषोऽन्ये तु बन्धिताः, इहापि यूथाधिपतेर्नलवनस्य यथा स्वपरिभावनं द्रव्यगवेषणा, दार्ष्टान्तिकयोजना पूर्ववत् ॥ ८३–८४ ॥ अथ भावगवेषणामाह—

उग्गम उग्गोवण मग्गणा य एगट्ठियाणि एयाणि । नामं ठवणा दविए भावंमि य उग्गमो होई ॥८५॥

भावैषणायामुद्गमोत्पादनादोषशुद्धिराहारे चान्वेति प्रथममुद्गमैकार्थिकानि नामादिभेदांश्चाह—उद्गम उद्गोपना मार्गणा एतान्येकार्थिकानि स्युः, तथोद्गमश्चतुर्धा भवति, तद्यथा—नामोद्गमः स्थापनोद्गमः द्रव्ये भावे चोद्गम इति, द्वयं पूर्ववत् ॥८५॥ द्रव्यभावयोर्विशेषमाह—

लड्डुकप्रियस्य कथानकम्

दव्वंमि लड्डुगाई भावे तिविहोग्गमो मुणेयव्वो । दंसणनाणचरित्ते चरित्तुग्गमेणेत्य अहिगारो ॥ ८६ ॥

द्रव्ये उद्गमो लड्डुकादेः सम्बन्धी ज्ञेयः, आदिशब्दाज्ज्योतिरादिपरिग्रहः, भावे त्रिविधोद्गमो ज्ञातव्यः, त्रैविध्यमेवाह–दर्शने ज्ञाने चारित्रे, अत्र ज्ञानदर्शनाविनाभावित्वेन चारित्रस्य साधान्योधाङ्गत्वाचारित्रोद्गमेनाधिकार इति ॥ ८६ ॥

लड्डुकादेरत्राविशब्दसूचित ज्योतिरादि प्रतिपादयति—

जोइसतणोसहीणं मेहरिणकराणमुग्गमो दव्वे । सो पुण जत्तो य जया जहा य दव्वुग्गमो यव्वो ॥८७॥

ज्योतिषां–चन्द्रसूर्यादीनां तृणानां–दर्भाणां ओषधीनां–शाल्यादीनां, मेघानां ऋणस्य करानां–राजदेयभागानां द्रव्ये उद्गमो भवति, स पुनर्द्रव्योद्गमो यतो–यस्मात् आकाशादेः स्थानात् यदा वा प्रभातादिके काले यथा वा–येन प्रकारेण नभःप्रसरणभूस्फोटनादि वा भवति, तथा वाच्यः ॥ ८७ ॥ 'लड्डुगाई' इत्यत्र लड्डुकप्रियकुमारस्य कथानकं सूचितं तदेव गाथात्रयेणाह—

वासहरा अणुजत्ता अत्थाणी जोग्ग किड्डुकाले य । घडगसरावेसु कया उ मोयगा लड्डुगपियस्स ॥८८

जोग्गा अजिण्ण मारुय निसग्ग तिसमुत्थ तो सुइसमुत्थो । आहारुग्गमचिंता असुइत्ति दुहा मलप्पभवो॥

तसेव वेरग्गुग्गमेण सम्मत्तनाणचरणाणं । जुगवं कमुग्गमो वा केवलनाणुग्गमो जाओ ॥ ९० ॥

४

अत्र कथानकादर्थोऽवसेय इति तदुच्यते (दृ. ४)-श्रीस्थलकपुरे भानुनृपो रुक्मिणी राज्ञी तयोः सुरूपनामा पुत्रोऽभीष्टमोदकत्वेन मोदकप्रिय इति ख्यातिं लेभे । स चान्यदा वासगृहादनुयात्रार्थं निर्गमनं कृतवान्, आस्थान्यां गत्वा योग्यक्रीडा तेन प्रारब्धा, काले भोजनावसरे प्राप्ते घटेषु शरावेषु च लड्डुकप्रियस्य जनन्या कृत्वा पूर्वकृता वा मोदकाः प्रेषिताः, तेन परिजनेन समं भुक्तास्ततो रात्रावपि योग्यक्रीडाविलोकनेन जागरणभावतस्ते न जीर्णाः, कुमारस्य तस्मादजीर्णदोषात् समुद्भवस्तत्समुद्भवोऽशुचिसमुत्थो वातनिसर्गोऽभवत्, नासायां तद्गन्धे वा याते आहारोद्गमचिन्ता जाता, यथाऽमी मोदकाः शुभा एव परं द्विधा मलप्रभवो देहस्तत् सम्पर्कादशुचयो जाता इति, अथवा बृहद्वृत्ताविति व्याख्या, (पृ. ३३) मारुतनिसर्गे जाते आहारोद्गमचिन्ता जाता, यथा <ऽमी मोदकाः शुभा एव परं द्विधा मलप्रभवो देहस्तत्सम्पर्कादशुचयो जाता> इति समुद्भवति, घृतगुडादिसमुद्भवा एते मोदकास्तस्मात् शुचिसमुत्था एव, सूत्रे च, जातावेकवचनं केवलं द्विधा मलप्रभवो देहस्तद्योगादशुचय इति, 'सूचनात् सूत्रमि' ति देह इति योगतः, तस्य कुमारस्यैवं वैराग्योद्गमेन सम्यक्त्वज्ञानचारित्राणां युगपत्क्रमेण वा उद्गमो जातस्ततः केवलज्ञानोद्गम इति गाथार्थो भावार्थोऽपि ॥ ८८–९० ॥ यदुक्तं चारित्रोद्गमेनाधिकारस्तत्र चारित्रं शुद्धमेव, कथं शुद्धिरित्याह—

दंसणनाणप्पभवं चरणं सुद्धेसु तेसु तस्सुद्धी । चरणेण कम्मसुद्धी उग्गमसुद्धी चरणसुद्धी ॥ ९१ ॥

दर्शनज्ञानप्रभवं चारित्रं तयोः शुद्धयोस्तस्य चारित्रस्य शुद्धिरिति कारणमभ्यन्तरं शुद्धेः, चरणेन कर्मशुद्धिर्जायते न

केवल ज्ञानदर्शनशुद्धो चारित्रशुद्धिः, किन्तूद्गमशुद्धिरिति (शुद्धिरिति) चायं शुद्धेः कारणमिति द्विधाऽपि प्रोक्तम् ॥ ९१ ॥ उद्गमशुद्धो उद्गमदोषास्त्याज्यास्तान् षोडशापि नामतः प्राह—

आहाकम्मुद्देसिय पूईकम्मे य मीसजाए य । ठवणा पाहुडियाए पाओअर कीय पामिच्चे ॥ ९२ ॥
परियट्टिए अभिहडे उब्भिन्ने मालोहडे इय । अच्छिज्जे अणिसट्ठे अज्झोयरए य सोलसमे ॥ ९३ ॥

गाथाद्वयेन नामानि पुरतश्चार्थः, स्वस्थाने निरूपयिष्यामि, शेषं सुगमम् ॥ ९२-९३ ॥ अथ प्रथमभेदे द्वारगाथामाह—

आहाकम्मिय नामा एगट्ठा कस्स वावि किं वावि । परपक्खे य सपक्खे चउरो गहणे य आणाइ ॥ ९४ ॥

इह प्रथममाधाकर्मैकार्थिकानि नामानि वक्तव्यानि, ततः कस्यार्थाय कृतमाधाकर्म्म स्यादिति वाच्यम्, किं स्वभाव तदिति वाच्य, तथा परपक्षनिमित्तं कृत तन्न भवति स्वपक्षनिमित्त तु भवतीति वाच्यम्, चत्वारोऽतिक्रमादयोऽतिचाराः स्युरिति वाच्यम्, तथा ग्रहणेन आज्ञादयः 'वचनात् सप्तमि'ति आज्ञाभङ्गादयो दोषा वक्तव्याः ॥ ९४ ॥ प्रथमद्वारमाह—

आहा अहे य कम्मे आयाहम्मे य अत्तकम्मे य । पडिसेवण पडिसुणणा संवासऽणुमोयणा चेव ॥ ९५ ॥

आधाकर्म्म अधःकर्म्म आत्मघ्न आत्मकर्म्म प्रतिसेवना प्रतिश्रवणा संवासना अनुमोदना चेतान्येकार्थिकानि, एतान्येव व्याख्यानयति, इह आधाकर्मेति शब्दविचारे आधया कर्म्म आधाकर्मेत्युक्तम् ॥ ९५ ॥ सापि चाधा नामादिभेदाच्चतुर्धा,

आधाकर्मै-कार्थिकानि

नामस्थापने सुगमे, द्रव्याधामाह—

धणुजुयकायभराणं कुडुंबरज्जधुरमाइयाणं च । खंधाई हिययं चिय दव्वाहा अंतए धणुणो ॥९६॥

धनुश्चापं, यूपः-युगं कायः कापोती, यया स्कन्धारूढया पानीयं वहति पुरुषः भरो-भारः कुटुम्बराज्ययोर्धूश्चिन्ता इत्यादीनां स्कन्धादि हृदयं, यावद्द्रव्याधा ज्ञेया, इहाधाशब्देनाधीयतेऽस्यामित्याधा, आधार उच्यते, सूत्रगतिविचित्रत्वाद्धनुराधारभूतं शेषाण्याधेयानीति धनुराधेयं पश्चाद्वक्ष्यति, आधेयानामाधारमाह-स्कन्धादीति, यथाक्रमं स्कन्धो बलीवर्दादीनां यूपाधारो, नरादिस्कन्धश्च कापोत्याः, भारस्य गन्त्यादि कुटुम्बराज्यचिन्तयोर्हृदयम्, अथ धनुराधेयमाह-अन्तके-करहसंज्ञे धनुषःसम्बन्धिनी प्रत्यञ्चारोप्यते, ततो धनुः प्रत्यञ्चाया आश्रय इति ॥ ९६ ॥ अथ भावाधामाह, भावाधायां साधुं मनस्याधाय यदौदनादि क्रियते सा भावाधा, तथैवाह—

ओरालसरीराणं उद्दवण तिवायणं च जस्सट्ठा । मणमाहित्ता कीरइ आहाकम्मं तयं बेंति ॥ ९७ ॥

औदारिकशरीराणामेकेन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियपर्यन्ततिरश्चां मानुष्याणां च यस्यार्थे साध्वर्थं मन आधाय अपद्रावणं त्रिपातनं हिंसनं च करोति गृही अपद्रावणं साध्वर्थं त्रिपातनमात्मार्थमेवं कल्प्यमित्युक्तम्, त्रिपातनग्रहणेन तदाधाकर्म्म ब्रुवते ॥९७॥ भाष्यगाथात्रयेणैनां गाथां व्याख्यानयति—

ओरालग्गहणेणं तिरिक्खमणुयाऽहवा सुहुमवज्जा । उद्दवणं पुण जाणसु अइवायविवज्जियं पीडं॥भा०१६॥

कायवइमणो तिन्नि उ अहवा देहाउइंदियप्पाणा। सामित्तावायाणे होइ तिवाओ य करणेसुं ॥भा० १७॥
हिययंमि समाहेउं एगमणेगं च गाहगं जो उ। वहणं करेइ दाया कायेण तमाहु कम्मंति ॥भा० १८॥

औदारिकग्रहणेन तिर्यञ्चो मनुष्याः अथवा सूक्ष्मवर्जा ज्ञेयाः, सूक्ष्माणां मनुष्यकृतापद्रावणायोगात्, अपद्रावणं पुनरति पातवर्जितां पीडां जानीहि, त्रिपातनमिति कायवाङ्मनांसि त्रीणि, अथवा देहायुरिन्द्रियरूपास्त्रयः प्राणास्तेषां पातनं प्रथमत्रिकं गर्भजतिर्यङ्मनुष्याणां स्यात्, द्वितीयत्रिकं तु सर्वजीवानां भवति, एवं स्वामित्वे सम्बन्धविवक्षया अथवाऽपादाने त्रिरूपः पातनमिति, अथ त्रिभिर्वा करणभूतैः पातनमिति अतिपातो भवति, हृदये एकमनेकं वा ग्राहकं साधुं समाधाय षट्कायानां वधं करोति तदाधाकर्मेति, एतेनान्वर्थोऽप्युक्त एव ॥ १६–१८ ॥ अथाधःकर्मेति नाम वाच्यं, तदपि नामादिभेदाच्चतुर्धा, नामस्थापने पूर्ववत्, द्रव्यभावयोर्निर्युक्तिकृद्विशेषमाह—

जं दव्वं उदगाइसु छूढमहे वयइ जं च भारेण। सीईए रज्जुएण व ओयरणं दव्वहेकम्मं ॥९८॥

यत्किमपि द्रव्यं उदकादिषु क्षिप्तमधो व्रजति, यच्च भारेणाधो याति, तथा 'सीतीए' निश्रेण्या रज्ज्वा वा अवतरणं पुरुषादेः कूपादौ मालादेर्वा भुवि तद् द्रव्याधाकर्मेति ज्ञेयम् ॥ ९८ ॥

संजमठाणाण कंडगाणं लेसाठिईविसेसाणं। भावं अहे करेई तम्हा तं भावहेकम्मं ॥ ९९ ॥

संयमस्थानानां कण्डकानां-असङ्ख्यातीतसंयमस्थानसमुदायानां, लेश्यानां सातवेदनीयादिशुभकर्मप्रकृतिविशेषाणां भाव-

अधाकर्म-
भेदाः

अध्यवसायं साधुराधाकर्म्म भुञ्जानोऽधःकरोति हीनं हीनतरं करोति, तस्माद्भावाधःकर्म्मेति ॥ ९९ ॥ भाष्यगाथा-त्रयेणैनां गाथां व्याख्यानयति—

तत्थाणंता उ चरित्तपज्जवा होंति संजमट्ठाणं। संखाईयाणि उ ताणि कंडगं होइ नायव्वं ॥ भा०१९ ॥
संखाईयाणि उ कंडगाणि छट्ठाणगं विणिद्दिट्ठं। छट्ठाणा उ असंखा संजमसेढी मुणेयव्वा ॥ भा०२० ॥
किण्हाइया उ लेसा उक्कोसविसुद्धठिइविसेसाओ। एएसिं विसुद्धाणं अप्पं तग्गाहगो कुणइ ॥ भा०२१ ॥

तत्रानन्ताश्चारित्रपर्यायाः संयमस्थानं भवति, कोऽर्थः ? इह किल कल्पनया सर्वोत्कृष्टदेशविरतिशुद्धिस्थानस्य निर्विभागा भागा दश सहस्राणि १००००, सर्वजीवानन्तकप्रमाणश्च राशिः शतं, तेन गुणितानि जातानि दश लक्षाणि १००००००, एतावन्तः किल सर्वजघन्यसर्वविरतिशुद्धिस्थानस्य निर्विभागा भागाः स्युरिति। सङ्ख्यातीतानि संयमस्थानानि कण्डकं ज्ञातव्यं भवति, तत्र कण्डकं समय(परि)भाषया अङ्गुलमात्रक्षेत्रासङ्ख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणा सङ्ख्याभिधीयते, तथा चोक्तम्—" कंडंति इत्थ भण्णइ अंगुलभागो असंखिज्जो। " ततः कण्डकानन्तरं अनन्तभागासङ्ख्यातभागसङ्ख्यातभागसङ्ख्यगुणासङ्ख्यगुणानन्तगुणभेदात्षोढा गुणाकारेण गुण्यते, गुणनं च विस्तरतो वृहद्वृत्तेरवसेयं (पृ. ३९), इत्थं सङ्ख्यातीतानि कण्डकानि षट्स्थानकं भवति, ततः पुनरसङ्ख्यातानि षट्स्थानकानि संयमश्रेणिर्ज्ञातव्या, तथा चोक्तम्—" छट्ठाणगअ(ण)वसाणे अन्नं छट्ठाणयं पुणो अन्नं। एवमसङ्खा लोगा छट्ठाणाणं मुणेयव्वा ॥ १ ॥ " तथा कृष्णादयो

लेश्यास्तयोरुत्कृष्टविशुद्धसातावेदनीयादिकर्म्मणां स्थितिविशेषाः, तत एतेषां संयमस्थानादीनां सम्बन्धिषु शुभेषु स्थानेषु वर्धमानस्तद्ग्राहक आधाकर्म्मग्राह आत्मानमेतेषां विशुद्धानां संयमस्थानादीनामधोऽधस्तात् करोति ॥ १९–२०–२१ ॥

ततः किं दूषणमित्याह—

भायावयारमाहेउमप्पगे किंचिनूणचरणग्गो । आहाकम्मग्गाही अहो अहो नेइ अप्पाणं ॥ १०० ॥

गाथानां संयमादिस्थानानां विशुद्धानां हीनहीनतर अवतरणमधःपतनमधःपतनमात्मन्याधाय किञ्चिन्न्यूनचरणाग्रः किञ्चिन्न्यूनेन चरणेनाग्रः–प्रधान उपशान्तमोह इत्यर्थः, आस्तामन्यप्रमत्तसंयमादिः, आधाकर्म्मग्राही अधोऽधो नरकपृथ्व्यादौ नयत्यात्मानम् ॥ १०० ॥ तदेवाह—

बंधइ अहेभवाऊ पकरेइ अहोमुहाइं कम्माइं । घणकरणं तिव्वेण उ भावेण चओ उवचओ य ॥१०१॥

आधाकर्म्मग्राही अधोभवस्य-नरकादिभवस्यायुर्बध्नाति, शेषाण्यपि कर्म्माणि अधोमुखानि-अधोगतिनयनशीलानि प्रकरोति, तीव्रेण [तुल्य पदादि] भावेन घनकरण निकाचिततया व्यवस्थापन स्यात्, अन्यकर्म्मग्रहणेन चय उपचयश्च भवति, स्तोका वृद्धिश्च चयः, प्रभूता उपचय इति ॥ १०१ ॥

तेसिं गुरुणमुदएण अप्पगं दुग्गईएँ पवडंतं । न चयइ विधारेउं अहरगतिं निंति कम्माइं ॥१०२॥

तेषां गुरूणां कर्म्मणामुदये आत्मानं दुर्गतौ पतन्त विधारयितुं–निवारयितु न शक्नोत्याधाकर्म्मग्राही, यतः कर्म्माणि

आधाकर्म-ग्रहण-फलम्

अधरगतिं-नरकादिरूपां नयन्ति, तथा चोक्तम्–" आहाकम्मं णं भुंजमाणे समणे निग्गंथे अट्ठ कम्मपयडीओ बंधइ, अहे बंधइ (अहे पकरेइ) अहे चिणइ अहे उवचिणइ" (व्याख्याप्रज्ञप्तिः) इत्यादि ॥ १०२ ॥ अथात्मघ्नेति नाम आख्येयम्, तदपि नामादिभेदाच्चतुर्द्धा, नामस्थापने पूर्ववत्, द्रव्यभावयोर्विशेषमाह—

अट्ठाए अणट्ठाए छक्कायपमद्दणं तु जो कुणइ। अनियाए य नियाए आयाहम्मं तयं बेंति ॥१०३॥

यो गृही स्वस्यान्यस्य वाऽर्थायानर्थाय कार्यमन्तरेण वा अनिदया निदया च भाष्यवक्ष्यमाणस्वरूपया षट्कायप्रमर्दनं करोति, तदात्मघ्नं द्रव्यतो ब्रुवन्ति तीर्थकरादयः ॥ १०३ ॥ अनिदानिदयोः स्वरूपं भाष्यकृदाह—

जाणंतु अजाणंतो तहेव उद्दिसिय ओहओ वावि। जाणग अजाणगं वा वहेइ अनिया निया एसा ।भा०२२।

निदानं निदा-प्राणिहिंसा नरकादिदुःखहेतुरिति, जानतापि यत्प्राणिव्यपरोपणं क्रियते सा निदा, तद्विपरीता अनिदा, अथवा स्वार्थं परार्थं चेति विभागेनोद्दिश्य यत्प्राणिव्यपरोपणं सा निदा तद्विपरीत उच्यते सामान्येनानिदा, अथवा व्यापाद्यमानो जीवो हा! धिग् मामेष मारयिष्यतीति जानाति तं जानन्तं प्रति हिंसा निदा तद्विपरीता त्वनिदा ॥ २२ ॥ अथ षट्कायप्रमर्दनं कथं द्रव्यात्मघ्नं कस्मान्न भावात्मघ्नमित्युत्तरमाह—

दव्वाया खलु काया भावाया तिन्नि नाणमाईणि। परपाणपाडणरओ चरणायं अप्पणो हणइ ॥१०४॥

कायाः-पृथिव्यादयो द्रव्यात्मनो-द्रव्यरूपा आत्मनः, जीवानां गुणपर्यायवत्तया द्रव्यत्वात्, अतो द्रव्यात्मघ्नेति नाम

सङ्गतम् । भावात्मघातमाह-ज्ञानादीनि त्रीणि भावात्मनो भवन्ति, तेषामेवात्मनः पारमार्थिकत्वात्, ततो यथारित्री परेषां पृथिव्यादीनां ये प्राणा-इन्द्रियादयस्तेषां पातन-विनाशन, तत्र रतः-आसक्तः, आत्मनश्चरणात्मानं हन्ति, चरणात्मनि हते ज्ञानदर्शनात्मानौ हतावेव ॥ १०४ ॥ यत आह—

निच्छयनयस्स चरणायविघाए नाणदंसणवहोऽवि । ववहारस्स उ चरणे हयमि भयणा उ सेसाणं ॥१०५॥

निश्चयनयस्य मतेन चरणात्मघाते ज्ञानदर्शनवधोऽपि जात एव, व्यवहारनयस्य तु मतेन चरणे हते शेषयोर्ज्ञानदर्शनयोर्भजना-कश्चिद्धतः कश्चिन्नेति ॥ १०५ ॥ अथात्मकर्म नामोच्यते, तदपि नामादिभेदाच्चतुर्धा, नामस्थापने प्राग्वत्, द्रव्यभावयोर्विशेषमाह—

दवमि अत्तकम्मं ज जो उ ममायए तप दवं । भावे असुहपरिणओ परकम्मं अत्तणो कुणइ ॥१०६॥

यः पुमान् यद् द्रव्यादिक द्रव्य ममायते-ममेति प्रतिपद्यते द्रव्ये तदात्मकर्म्म स्यात्, आत्मसम्बन्धित्वेन करणमिति-व्युत्पत्त्या, भावे अशुभपरिणतो-अशुभेन प्रत्याख्यानाधाकर्म्मग्रहणरूपेण भावेन परिणतः परस्य पाचकादेः सम्बन्धि पचन-पाचनादिजनितं कर्म्मात्मनः सम्बन्धि करोति तद्भावात्मकर्म्मेति भावेन परकीयस्यात्मसम्बन्धित्वेन कर्म करणमिति व्युत्पत्तेः ॥ १०६ ॥ एतदेव सार्द्धगाथयाह—

आहाकम्मपरिणओ फासुयमावि संकिलिट्ठपरिणामो । आययमाणो बज्झइ तं जाणसु अत्तकम्मंति ॥

आत्मकर्म-भेदाः

परकम्म अत्तकम्मीकरेइ तं जो उ गिण्हिउं भुंजे। तत्थ भन्ने परकिरिया कहं नु अन्नत्थ संकमइ ? ॥१०८॥

आस्तामन्यत् प्राशुकमपि संक्लिष्टपरिणामः–आधाकर्म्मपरिणतः सन् आददानो बध्यते कर्म्मणा तदात्मकर्म्म जानीहि, यस्तदाधाकर्म्म गृहीत्वा भुङ्क्ते स परस्य कर्म्म पचनादिजनितं आत्मकर्म्मीकरोति ॥ १०७ ॥ गाथासकलेन पराक्षेपमाह—

तत्रेति परकर्म्म आत्मकर्म्मीकरोतीत्यत्र परवक्तव्यं भवेत्तदेवाह–परक्रिया कथमन्यत्र साधौ सङ्क्रामति ॥ १०८ ॥ अथ केचिदसत्कल्पनां कथयन्ति तदुक्त्वा निराकुर्वन् गाथाद्वयमाह—

कुडउवमाइ केइ परप्पउत्तेऽवि बेंति बंधोत्ति। भणइ य गुरू पमत्तो बज्झइ कूडे अदक्खो य ॥१०९॥

एमेव भावकूडे बज्झइ जो असुभभावपरिणामो। तम्हा उ असुभभावो वज्जेयव्वो पयत्तेणं ॥ ११० ॥

केचित् प्रवचनसारमजानानाः कूटोपमया परप्रयुक्तेऽपि–परनिष्पादितेऽप्योदनादौ 'सूचनात् सूत्रमि'ति साधोर्बन्धो भवतीति ब्रुवते, यथा व्याधेन कूटे स्थापिते मृगस्यैव बन्धो न व्याधस्य तथा गृहिणा पाकादौ कृते साधोरेव बन्धो न गृहस्थस्य तदेतदयुक्तं, गृहस्थस्य प्रत्यक्षमारम्भकरणे कर्म्मबन्धसम्भवात्, न च मृगस्यापि परप्रयुक्तिमात्राद्बन्धः, किन्तु स्वप्रमादादिदोषादपि, एवं साधोरपि, तथैवाह च–गुरुः–श्रीयशोभद्रसूरिरेवं भणति–मृगः प्रमत्तोऽदक्षश्च कूटे बध्यते, योऽप्रमत्तस्तत्रायात्येव नाप्यायाति(तः) तर्हि दक्षतयाऽपसरति, एवमनेन दृष्टान्तेन यः साधुरशुभभावपरिणामो भावकूटे आधाकर्म्मणि कर्म्मणा बध्यते स इति तस्मादशुभभावः प्रयत्नेन वर्जयितव्यः ॥ १०९–११० ॥ ननु यदि साधुराधाकर्म्म न करोति न कारयति नानु-

प्रतिसेवना स्वरूपम्

मोदते तस्य को दोष ? इति चेदाह—

काम सयं न कुवइ जाणतो पुण तहावि तग्गाही । वड्ढेइ तप्पसंगं अगिण्हमाणो उ वारेइ ॥१११॥

काम सम्मतमेतत्, यद्यपि स्वयं न करोति उपलक्षणत्वान्न कारयति नानुमोदते, तथापि पुनर्जानन् तद्ग्राही आधाकर्मग्राही तत्प्रसङ्गमाधाकर्मग्रहणप्रसङ्गं वर्द्धयति, यथाऽन्ये साधवो जानन्ति यदनेन साधुना जानताप्याधाकर्म्म आददे ततो न कोऽपीति(पि) दोष इति प्रसङ्गः, तुः पुनरगृह्णन् प्रसङ्गं निवारयति ॥ १११ ॥ अथ प्रतिषेवणादीनि नामानि वाच्यानि, तानि चात्मकर्मनामाङ्गत्वेन प्रवृत्तानि, ततस्तेषामात्मकर्म्मेति नामाङ्गत्व गुरुलघुचिन्तां चाह—

अत्तीकरेइ कम्मं पडिसेवाईहिं तं पुण इमेहिं । तत्थ गुरू आइपयं लहु लहु लहुगा कमेणियरे ॥११२॥

तत्पुनर्ज्ञानावरणीयादिकर्म्म वक्ष्यमाणस्वरूपैः प्रतिषेवणादिभिरात्मीकरोति, परकीयमित्यर्थः, तत्र प्रतिषेवणादीनां चतुर्णां मध्ये आदिपद–प्रतिषेवणारूप गुरु–महादोषमितराणि–प्रतिश्रवणादीनि क्रमेण लघुलघुलघुकानि द्रष्टव्यानि ॥११२॥

पडिसेवणमाईणं दाराणऽणुमोयणावसाणाणं । जहसंभवं सरूव सोदाहरणं पवक्खामि ॥ ११३ ॥

प्रतिषेवणादीनां द्वाराणामनुमोदनावसानानां यथासम्भव स्वरूप सोदाहरण प्रवक्ष्यामि ॥ ११३ ॥ तदेवाह—

अन्नेणाहाकम्म उवणीयं असइ चोइओ भणइ । परहत्थेणंगारे कड्ढतो जह न डज्झइ हु ॥ ११४ ॥

एवं खु अह सुद्धो दोसो देंतस्स कूडउवमाए । समयत्थमजाणंतो मूढो पडिसेवणं कुणइ ॥११५॥

अन्येन-साधुना उपनीतं आनीतं आधाकर्म्म योऽश्नाति स प्रतिषेवणं करोतीति सम्बन्धः, स चाधाकर्म भुञ्जानः केनापि 'चोइओ' त्ति, विक्षिप्तः प्रेरितः सन्नेवं भणति, न मे दोषो येनानीतं तस्य दोषः, तथा चात्र दृष्टान्तः, यथा परहस्तेनाङ्गारानाकर्ष(न्) न दह्यते, एवं 'खु' निश्चितमहं शुद्धो, दोषो पुनर्ददतो यथा परस्य स्वहस्तेनाङ्गारानाकर्षतः, एवं कूटया उपमया समयार्थमजानानो मूढः प्रतिषेवणं कुरुते ॥ ११४-११५ ॥ प्रतिश्रवणमाह—

उवओगंमि य लाभं कम्मग्गाहिस्स चित्तरक्खट्ठा । आलोइए सुलद्धं भणइ भणंतस्स पडिसुणणा ॥

यो गुरुः कर्मग्राहिण-आधाकर्म्मग्रहणप्रवृत्तस्य साधोश्चित्तरक्षार्थं उपयोगकरणवेलायां लाभं भणति, आधाकर्म्मणि गृहस्थगृहादानीयालोचिते सति सुलब्धं शोभनं जातमिति भणति, तस्य गुरोरेवं भणतः प्रतिश्रवणं नाम दोषः 'प्राकृतत्वात् क्लीवनिर्देशः' ॥ ११६ ॥ संवासानुमोदनयोः स्वरूपमाह—

संवासो उ पसिद्धो अणुमोयण कम्मभोयगपसंसा । एएसिमुदाहरणा एए उ कमेण नायव्वा ॥११७॥

संवासः-आधाकर्म्मभोजिभिः सह वसनं स प्रसिद्ध एव, अनुमोदना-आधाकर्म्मभोजकप्रशंसा, एतेषां प्रतिषेवणादीनां एतानि क्रमेणोदाहरणानि ज्ञातव्यानि ॥ ११७ ॥

पडिसेवणाएँ तेणा पडिसुणणाए उ रायपुत्तो उ । संवासंमि य पल्ली अणुमोयण रायदुट्ठो य ॥११८॥

प्रतिषेवणस्य स्तेना उदाहरणं, प्रतिश्रवणस्य राजपुत्रो, राजपुत्रोपलक्षिताः शेषाः पुरुषाः, संवासे पल्लीवास्तव्या वणिजः

अनुमोदनायां राजदुष्टो, राजदुष्टोपलक्षितास्तत् प्रशंसाकारिणः ॥ ११८ ॥ प्रथमं स्तेनदृष्टान्त भावयति—

गोणीहरण सभूमी नेऊण गोणिओ पहे भक्खे। निव्विसया परिवेसण ठियावि ते कूविया घत्थे ॥११९॥

गाथाक्षरार्थः कथनकादवसेय इति तदेवोच्यते—(दृ० ५)—इह कापि ग्रामे बहवो दस्यवस्तैश्च कुतोऽपि गवामपहरण कृतं, स्वग्रामं प्रति चलिताः, स्वभूमि—स्वदेश प्राप्ताः, तेषां च, पथि गच्छतां केऽप्यन्ये दस्यवः पथिका मिलिताः, तेऽपि सहैव सन्ति, ततो भोजनवेलायां कतिपया गा विनाश्य भोजनाय तन्मांसं पक्तुमारब्ध, इतः केऽप्यन्ये पथिकाः समेतास्तेऽपि चौरैर्भोजनार्थमामन्त्रिताः, अथ गोमांसे पक्के सति केऽपि चौराः पथिकाश्च निर्विशङ्का जाता भोजन कर्तुं प्रवृत्ता इति, केऽपि गोमांस पक्तुपापमिति भोजनाशां मुक्त्वा परिवेषने स्थिताः, अत्रान्तरे कूजका—व्यावहारकारिणो गवां व्यावर्त्तकाः पुरुषाः समागताः, तैः सर्वेऽपि—भोक्तारः परिवेषकाश्च पथिका वयमिति ब्रुवाणा अपि चौरवत् 'घत्थे' त्ति गृहीता विनाशिताश्च ॥ ११९ ॥ अमुमेवार्थं दार्ष्टान्तिकेन योजयति—

जेऽवि य परिवेसंती, भायणाणि धरंति य। तेऽवि बज्झंति तिव्वेण, कम्मुणा किमु भोइणो ? ॥१२०॥

चौरवत् येऽपि च साधवः प्रतिसेवन्ति अन्यानीतमाधाकर्म्माहारयन्ति, ये भाजनानि धरन्ति तेऽपि तीव्रेण कर्म्मणा बध्यन्ते, किं पुनराधाकर्म्मभोजिन ? इति, इह चौरस्थानीया आधाकर्म्मनिमन्त्रिणः, साधवो गोमांसभक्षकचौरपथिकस्थानीयाः स्वय गृहीतनिमन्त्रिताधाकर्म्मभोजिनो गोमांसपरिवेषकादिरूपा, गोमांसमाधाकर्म्मसदृशमित्यादि ॥ १२० ॥

अथ राजसुतदृष्टान्तः—

सामत्थण रायसुए पिइवहण सहाय तह य तुण्हिक्का । तिण्हंपि हु पडिसुणणा रण्णा सिट्ठंमि सा नत्थि ॥

अस्याप्यक्षरार्थः कथानकादवसेयस्तच्चेदम् (छं० ६)–गुणसमृद्धनगरे महाबलभूपस्य शीलादेव्यां विजितसमरो ज्येष्ठ-पुत्रस्तस्य सामत्थणं, देश्या चिन्ता, यथैष मम पिता न म्रियते तदेनं निजभटान् सहायीकृत्य मारयामीति, एवं चिन्त-यित्वा निजभटैः समं मन्त्रयितुं प्रावर्त्तत, 'रायसुए'त्ति, 'तृतीयार्थे सप्तमी' तेन राजसुतेन स्वभटैः समं सामत्थणं–पर्यालोचनं पितृहनने आरब्धं, तत्र "केऽपि वयं तत्र सहाया" इति उक्तवन्तः, तथेति समुच्चये, तेन कैश्चिदुक्तमेवं कुरु, केचित्पुनस्तूष्णीका जाता–मौनमेव स्थिताः, एतेषां त्रयाणामपि प्रतिश्रवणदोषः, केऽपि सर्वं वृत्तान्तं भूपाय निवेदयामासुः, राज्ञः शिष्टे सा प्रतिश्रवणा नास्ति, ततो महिपतिना राजपुत्राद्यो मारिता वृत्तान्तकथकाश्च पूजिता इति ॥ १२१ ॥

अमुमेवार्थं दार्ष्टान्तिकेन योजयति—

भुंज न भुंजे भुंजसु तइओ तुसिणीए भुंजए पढमो । तिण्हंपि हु पडिसुणणा पडिसेहंतस्स सा नत्थि ॥

केनापि साधुना चत्वारः साधव आधाकर्म्मणा निमन्त्रिता, यथा–भुङ्क्ष्व यूयमेनमाहारमिति, तत्र प्रथमभुङ्क्ते द्वितीयः प्राह–न भुञ्जेऽहं, भुङ्क्ष्व त्वमिति, तृतीयस्तुष्णीको-मौनमाश्रित्य स्थितः, तेषां त्रयाणामपि प्रतिश्रवणदोषो भवति, चतुर्थस्य पुनर्न कल्पते साधूनामाधाकर्म्मेति प्रतिषेधतः सः प्रतिश्रवणदोषो न स्यात्, अत्राह परः प्रथमस्याधाकर्म्मभुञ्जानस्य

प्रतिषेवणदोष एव, न स्यात् प्रतिश्रवणाख्यः, अत्रोच्यते—यावन्निमन्त्रितः सन् भोजनमभ्युपगच्छति तावत्तावदपि प्रतिषेवणमिति प्रतिश्रवणदोष एव ॥ १२२ ॥ अथामीषां भोजकादीनां कस्को दोषः स्याद्, अत आह—

आणतभुंजगा कम्मुणा उ बीयस्स वाइओ दोसो । तइयस्स य माणसिओ तीहिं विसुद्धो चउत्थो उ ॥

आनतो भोजकश्चैतौ द्वावपि कर्म्मणा—आनयनभोजनरूपया कायक्रियया दोषवन्तौ, द्वितीयस्य वाचिको दोषस्तृतीयस्य मानसिकश्चतुर्थस्त्रिभिर्दोषैर्विप्रमुक्त इति ॥ १२३ ॥ अथ विशेषमाह—

पडिसेवण पडिसुणणा संवासऽणुमोयणा उ चउरोवि । पियमारग रायसुए विभासियव्वा जइजणेऽवि ॥

पितृमारके राजसुते प्रतिषेवणप्रतिश्रवणसंवासनानुमोदनारूपाश्चत्वारोऽपि दोषा घटन्ते, तथाहि—तस्य पितृमारणाय प्रवृत्तत्वात् प्रतिषेवणं, "वयं तव सहायाः" इति भटवचनं प्रतिपद्यमानस्य प्रतिश्रवणं, वैरिभिः सार्द्धं संवसनं संवासः, तेषु बहुमानदानादिनाऽनुमोदना, एवं यतिजनेऽप्याधाकर्म्मभोक्तरि विभावितव्याः—योजनीयाः, तदेवं यत्र प्रतिषेवणं तत्र नियमतश्चत्वारोऽपि दोषाः, प्रतिश्रवणे च केवले त्रयः, संवासे द्वौ, अनुमोदना तु केवलैव, अत्र पश्चादिपदं गुरु शेषाणि तु पदानि लघुलघुलघुकादिनीति ॥ १२४ ॥ अथ संवासे पल्लीदृष्टान्तमाह (९० ७)—

पल्लीवहंमि नट्ठा चोरा वणिया वयं न चोरत्ति । न पलाया पावकरात्ति काउं रन्ना उवालद्धा ॥१२५॥

वसन्तपुरेऽरिमर्दनो राजा प्रियदर्शनादेवीयुक्तो राज्यं प्रशास्ति, तत्रासन्ना भीमा नाम पल्ली, तस्यां बहवो दस्यवो

आधाकर्मदोषवर्णनम्, पल्लिदृष्टान्तश्च

वणिजश्च परिवसन्ति, चौराः सकलमपि राजमण्डलमरिमर्दनसत्कमुपद्रवन्ति सदेशम्, अन्यदा भूपः सेनया तान् जेतुं जगाम, तैः सह युद्धं जातं, केऽपि हन्यमानाः परासवो बभूवुः, केऽपि पुनः पलायितवन्तः राजपल्लीं विवेश, तत्रैत्य वणिजो न वयं चौरास्ततः किमस्माकं राजा करिष्यतीति बुद्धया नानेशत, राज्ञा च तेऽपि ग्राहिताः, < ततस्तैर्विज्ञप्तं न वयं चौरा इति, राजाऽत्रोचत्, यूयं चौरेभ्योऽप्यतीवापराधकारिण इति तेऽपि निगृहीताः, > गाथार्थस्तु सुगम एव ॥ १२५ ॥ दार्ष्टान्तिकयोजनामाह—

आहाकडभोईहिं सहवासो तह य तव्विवज्जंपि । दंसणगंधपरिकहा भाविंति सुलूहवित्तिंपि ॥ १२६ ॥

एवं आधाकर्म्मभोक्तृभिः सह संवासो दोषाय स्यात्, तथेति दृष्टान्तयोजने, यथा—चौरसहवासितां वणिजां तथेत्यर्थः, हेतुमाह—यस्तद्विवर्जमपि आधाकर्म्मपरिहारकमपि < सुरूक्षमपि > साधुं रूक्षाहारमपि आधाकर्म्मसम्बन्धिन्यो दर्शनगन्ध-परिकथा भावयन्ति, तद्भावनायुक्तं कुर्वन्ति ॥ १२६ ॥ अनुमोदनायां राजदुष्टदृष्टान्तमाह (दृ० ८)—

रायारोहऽवराहे विभूसिओ घाइओ नयरमज्झे । धन्नाधन्नात्ति कहा वहावहो कप्पडिय खोला ॥१२७॥

श्रीनिलयनगरे गुणचन्द्रभूपस्य गुणवतीप्रमुखा अन्तःपुर्यः, तत्रैव च सुरूपो नाम वणिग् अतिरूपवान्, अन्यदा राजान्तःपुरासन्ने गच्छन् अन्तःपुरिकाभिः सस्नेहं विलोकितः, तेनापि ताः सानुरागमवेक्षिताः, परस्परमनुरागो जातः, दूतीनिवेदितप्रयोगवशेन च ताः प्रतिदिनं तेन सेवितुमारब्धाः, राज्ञा ज्ञातं, यैर्भूषणैरलङ्कृतस्तैर्युक्त एव सकलजनसमक्षं नगर-

आधाकर्मानुमोदनाप्रकारः

मध्ये विनाशितः, राजा कोपावेशात् हेरिकास्तत्र मुञ्चति स्म, तत्र केऽपि लोका धन्य इति कथयन्ति, येन मनुष्यजन्मनि राजान्तःपुरिकाः भुक्तेति तेषां वधो जातः, केऽप्यधन्योऽयमिति वदन्ति, येन स्वामिकलत्र जननीसममित्यज्ञानवतैव चक्रे, तेषामवधः पूजा च, जाताः। गाथार्थस्त्वयम्, राजावरोधापराधे येराभरणैर्विभूषितस्तैरिव विभूषितो नगरमध्ये घातितः, ततः कार्पटिकवेषधारिणः स्वोलाः-हेरिका राज्ञा नियुक्ताः, लोकानां च धन्याधन्यकथा, ततो धन्यकथाकारिणां विनाश इतरेषां तु पूजा इति, दार्ष्टान्तिकयोजना स्वयं भाव्या ॥ १२७ ॥ अनुमोदनाप्रकारमाह—

साउं पज्जत्तं आयरेण काले रिउक्खम निद्धं। तग्गुणविकत्थणाए अभुंजमाणेऽवि अणुमन्ना ॥१२८॥

आधाकर्मभोजिनमुद्दिश्य केचिदेवं ब्रुवते, एते स्वादुमन्योऽन्यं लभन्ते, पर्याप्त-परिपूर्णमादरेण काले-भोजनवेलायां ऋतुक्षम शिशिरादिऋतुयोग्य स्निग्ध, न तु वधमिति, तद्गुणविकथनया-तद्गुणप्रशंसनया अभुञ्जानेऽपि अनुमन्या-अनुमोदना भवति ॥ १२८ ॥ मूलद्वारगाथायां " आहाकम्मे णामा " (नि. ९४) इति व्याख्यातम्, अथ " एगट्ठ " इत्याह—

आहा अहे य कम्मे आयाहम्मे य अत्तकम्मे य। जह वंजणनाणत्तं अत्थेणऽवि पुच्छए एवं ॥१२९॥

अत्र परः पृच्छति, आधाकर्म अधःकर्म आत्मघ्नमात्मकर्मेति प्रतिषेवणादीनामात्मकर्मण्यन्तर्भूतत्वाच्चतुर्षु नामसु यथा व्यञ्जनैर्नानात्वं तथा अर्थेनापि नानात्वं किं वा नेति?, अथ भावः-आधाकर्मादिनाम्नां व्युत्पत्तिनिमित्त पृथग् २ उक्तं, यथा तथा प्रवृत्तिनिमित्तमपि तथैव, अत्रोत्तरमाह ॥ १२९ ॥ अत्र शिष्यबुद्धिवृद्धये सामान्यतो नामविषयां चतुर्भङ्गिकामाह–

एगट्ठा एगवंजण एगट्ठा नाणवंजणा चेव । नाणट्ठ एगवंजण नाणट्ठा वंजणानाणा ॥ १३० ॥

जगति नामानि चतुर्धा वर्त्तन्ते, तथाहि-एकार्थानि एकव्यञ्जनानि १, एकार्थानि नानाव्यञ्जनानि २, नानार्थानि एकव्यञ्जनानि ३, नानार्थानि नानाव्यञ्जनानि ४ ॥ १३० ॥ एतेषामुदाहरणान्याह—

दिट्ठं खीरं खीरं एगट्ठं एगवंजणं लोए । एगट्ठं बहुनामं दुद्ध पओ पीलु खीरं च ॥ १३१ ॥

लोके क्षीरं क्षीरमिति एकार्थं एकव्यञ्जनं च नाम द्वयम्, यथैकत्र गृहे गोदुग्धादौ क्षीरं तत्रान्यत्रापीति, दुग्धं पयः पीलु क्षीरं चैतानि एकार्थानि नानाव्यञ्जनानि च नामानि ॥ १३१ ॥

गोमहिसिअयाखीरं नाणट्ठं एगवंजणं नेयं । घडपडकडसगडरहा होइ पिहत्थं पिहं नामं ॥ १३२ ॥

गोमहिष्यजानां क्षीरमिति नानार्थमेकव्यञ्जनं च नाम ज्ञेयं, क्षीरं इत्येके नाम्नः पृथगर्थयोगात्, घटपटकटशकटरथा इत्यादि नाम पृथगर्थं पृथग् व्यञ्जनं च ज्ञेयम्, नानार्थं नानाव्यञ्जनं चेति ॥ १३२ ॥ अथाधाकर्मणि चतुर्भङ्गिकां यथासम्भवं योजयति गाथाद्वयेन—

आहाकम्माईणं होइ दुरुत्ताइ पढमभंगो उ । आहाकम्मांति य बिइओ सक्किंद इव भंगो ॥ १३३ ॥

आहाकम्मंतरिया असणाई उ चउरो तइयभंगो । आहाकम्म पहुच्चा नियमा सुन्नो चरिमभंगो ॥१३४॥

आधाकर्मादिनाम्नां युगपद्बहुभिः पुरुषैरेकेन वा कालभेदेन वा एकस्मिन्नेवाशनादिरूपे वस्तुनि यद्विरुक्तादि-विरुशारणादिः सम्भवति, स प्रथमो भङ्गः, अयमर्थः-यथैकत्र वस्त्वावशनविषये केनाप्याधाकर्मेति नाम प्रयुक्तं, तथाऽन्यत्रापि एव सर्वाण्यप्याधाकर्मादिनामानि एकार्थानि एकव्यञ्जनानि, तथा आधाकर्म अधःकर्मेत्यादीनि नामानि विवक्षिताशनादिरूपैकविषये प्रवर्तमानानि द्वितीयो भङ्गः, एकार्थानि नानाव्यञ्जनानीति, यथा-शक्र इन्द्र इति, तथा अशनादयः-अशनपानखादिमस्वादिमरूपाश्चत्वार आधाकर्मान्तरिता-आधाकर्मशब्देन व्यवहिता यथाऽशनमाधःकर्म पानमाधाकर्मेत्यादिस्तृतीयो भङ्गः, नानार्थैकव्यञ्जनरूपः, आधाकर्मरूप नामाश्रित्य पुनर्नियमाच्चरमभङ्गो नानार्थानि नानाव्यञ्जनानीत्येवंरूपो नास्ति, उपलक्षणत्वात् प्रत्येक सर्वाण्यपि, यदा तु कोऽप्यशनविषये आधाकर्म वक्ति पानविषये त्वाधाकर्म खादिमे त्वात्मघ्नं स्वादिमे त्वात्मकर्मेति, तदाऽमूनि नामानि नानार्थानि नानाव्यञ्जनानीति चरमोऽपि भङ्गः सम्भवति ॥ १३३-१३४ ॥

द्वितीयभङ्ग विशेषाद्भावयति—

इंदत्थं जह सद्दा पुरंदराई उ नाइवत्तंते । अहकम्म आयहम्मा तह आहं नाइवत्तंते ॥ १३५ ॥

यथा पुरन्दरादयः शब्दा इन्द्रार्थ-इन्द्रशब्दवाच्यमर्थं नातिवर्तन्ते-नातिक्रामन्ति, तथा अधःकर्म आत्मघ्नं, उपलक्षणत्वादात्मकर्मशब्दश्च 'आह'त्ति, 'सूचनात् सूत्र' मित्याधाकर्म वाच्यमर्थं नातिवर्तन्ते ॥ १३५ ॥ तदेवाह—

आहाकम्मेण अहेकरोति जं हणइ पाणभूयाइं। ज तं आययमाणो परकम्मं अत्तणो कुणइ ॥ १३६ ॥

आधाकर्म्मणा भुज्यमानेनाधःकरोति आत्मानं संयमात् सद्वृत्तेर्वा यस्मादाधाकर्म्मणा प्राणान्-द्वीन्द्रियादीन् भूतान्-वनस्पतिकायान्, उपलक्षणत्वात् जीवान् सत्त्वांश्च हन्ति, यस्मात्तदाधाकर्म्म आददानः परकर्म्म आत्मनः सम्बन्धीकरोति ॥१३६॥ मूलद्वारगाथायां "एगट्ठा" (नि. ९४) इति व्याख्यातं, अथ "कस्स वावि" (नि. ९४) इति व्याख्यानयति—

कस्सत्ति पुच्छियंमी नियमा साहम्मियस्स तं होइ। साहम्मियस्स तम्हा कायव्व परूवणा विहिणा॥१३७

कस्यार्थाय कृतमाधाकर्म्म भवतीति पृष्टे परेणोत्तरमभिधीयते, नियमात् साधर्म्मिकस्यार्थाय कृतं तत्-आधाकर्म्म भवति, तस्मात् साधर्म्मिकस्य प्ररूपणा विधिनाऽऽगमोक्तेन कर्तव्या ॥ १३७ ॥ साधर्म्मिकभेदानाह—

नामं ठवणा दविए खेत्ते काले अ पवयणे लिंगे। दंसण नाण चरित्ते अभिग्गहे भावणाओ य ॥१३८॥

एते द्वादश साधर्म्मिका भवन्ति, सुगमोऽर्थः ॥ १३८ ॥ भेदान् गाथात्रयेण व्याख्यानयति—

नामंमि सरिसनामो ठवणाए कट्ठकम्ममाईया। दव्वंमि जो उ भविओ साहंमि सरीरगं चेव ॥१३९

खेत्ते समाणदेसी कालम्मि समाणकालसंभूओ। पवयणि संघेगयरो लिंगे रयहरणमुहपोत्ती ॥१४०॥

दंसण नाणे चरणे तिग पण पण तिविह होइ उ चरित्ते। दव्वाइओ अभिग्गह अह भावणमो अणिच्चाई ॥

नाम्नि सदृशनामा साधर्म्मिकः, स्थापनायां काष्ठकर्म्मादिकाः स्थापितमूर्त्तयो जीवतां साधूनां साधर्म्मिकाः, द्रव्ये यो

मध्यस्तेनैव शरीरेण, भावे दीक्षायोगः, 'स' इति अथवा साधर्मिकशरीरं सिद्धशिलातलादिगतमपगतजीवं, तदप्यतीतापर्यायाऽपेक्षया द्रव्य इति, क्षेत्रे समानदेशसम्भूतः, काले एककालसम्भूतः, प्रवचने साध्व्यादिरूपचतुष्टयसङ्घमध्ये एकतरः, लिङ्गे रजोहरणमुखवस्त्रिका उपलक्षणत्वादन्योपकरणानि च तद्वान् साधर्म्मिक इति, सर्वत्र क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकभेदात्रिधा दर्शने, मतिश्रुतावधिमनःपर्यवकेवलज्ञानभेदात् पञ्चधा ज्ञाने, यथा मतिज्ञानिनो मतिज्ञानी साधर्मिक इति सर्वत्र ज्ञेयम्, सामायिकछेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्पराय(यथाख्यात)भेदात् पञ्चधा चारित्रे, 'तिविह'त्ति मतान्तरेण क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकभेदात् त्रिधा वा भवति चारित्रे, द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदाच्चतुर्धा अभिग्रहे, अथ भावनाया अनित्यादिभेदाद्द्वादशधा साधर्म्मिका इति सर्वत्र ॥ १२९-१४१ ॥ अथ नामसाधर्म्मिकमुद्दिश्य कल्प्याकल्प्यविधिमाह—

जावंत देवदत्ता गिहीव अगिहीव तेसि दाहामि । नो कप्पई गिहीणं दाहंति विसेसिये कप्पे ॥१४२॥

यावन्तो देवदत्ता गृहस्था अगृहस्था वा तेभ्यो दास्यामीत्युक्ते देवदत्ताख्यस्य साधोर्न कल्पते, तदुक्त देवदत्तशब्देन तस्यापि सङ्कल्पविषयीकरणात्, यदा तु गृहस्थानां देवदत्तानां दास्ये इति विशेषिते सति कल्पते ॥ १४२ ॥

पासंडीसुवि एव मीसामीसेसु होइ हु विभासा । समणेसु संजयाण उ विसरिसनामाणवि न कप्पे ॥

तथा पाखण्डिषु एवं पूर्वोक्तप्रकारेण मिश्रामिश्रेषु विभाषा कर्त्तव्या, अत्र सामान्यसङ्कल्पविषया भिक्षा उच्यन्ते, यथा यावन्तः पाखण्डिनो देवदत्ता इति विशेषकल्पविषयास्त्वमिश्रा यथा यावन्तः सौगता देवताः पाखण्डिन इति तत्र मिश्र-

सङ्कल्पिते सति न कल्पते देवदत्तपाखण्डिशब्दाभ्यां देवदत्ताख्यस्य साधोरपि सङ्कल्पविषयीकरणात्, अमिश्रसङ्कल्पे साधु-व्यतिरिक्तान्यपाखण्डिभ्यो दास्यामीत्यादिरूपे कल्पते सङ्कल्पविषयाभावात्, यथा पाखण्डिषु तथा श्रमणेष्वपि मिश्रामिश्रेषु विभाषा कर्त्तव्याः, यतः श्रमणाः शाक्यादयो भण्यन्ते यतो वक्ष्यति–" निग्गंथसकतावसगेरुय आजीव पंचहा समणा " यथा यावन्तः श्रमणाः देवदत्ताख्यास्तेभ्यो दास्यामीति मिश्रसङ्कल्पे न कल्पते, यावन्तः शाक्याः श्रमणाः साधुव्यतिरिक्ता वा तेभ्यो दास्यामीत्यमिश्रसङ्कल्पे कल्पते, तीर्थङ्करप्रत्येकबुद्धानां सङ्घातीतत्वेन सङ्घमध्यवर्त्तिभिः सह साधर्म्मिकत्वाभावात्, " संजयाण उ विसरिसनामाणवि न कप्पइ " इति वचनाचार्थापत्त्या यावन्तो देवदत्ता इत्यादौ विसदृशचैत्रादि नाम्ना साधूनां कल्पते इति प्रतिपादितं द्रष्टव्यम् ॥ १४३ ॥ अथ स्थापनाद्रव्यसाधर्म्मिकावाश्रित्य कल्प्याकल्प्य विधिमाह—

नीसमनीसा व कडं ठवणासाहम्मियम्मि उ विभासा। दव्वे मयतणुभत्तं न तं तु कुच्छा विवज्जेज्जा ॥१४४

इह कोऽपि गृही गृहीतप्रव्रज्यस्य मृतस्य जीवतो वा पित्रादौ स्नेहवशात् प्रतिकृतिं कृत्वा तत् पुरतो ढौकनाय बलिं करोति सा द्विधा-निश्रयाऽनिश्रया च, तत्र ये रजोहरणधारिणो मत्पितृतुल्यास्तेभ्यो दास्यामीति सङ्कल्पे निश्रा, तद्विपरीता त्वनिश्रा, ततः स्थापनासाधर्म्मिकनिश्रयाऽनिश्रया वा कृतं भक्तादि तत्र विभाषा कर्त्तव्या, यदि निश्राकृतं तदा न कल्पते, अनिश्राकृतं तु कल्पते, प्रवृत्तिदोषप्रसङ्गादाचार्या निषेधयन्ति च, तथा द्रव्ये द्रव्यसाधर्मिके मृतस्य साधोर्या तनुस्तस्याः पुरतो ढौकनाय कृतं भक्तं निश्राकृतं, अनिश्राकृतं प्राग्वत् द्विधा, तन्नेति–तन्नैव कल्पते, अनिश्राकृतं तु कल्पते, परं लोके जुगुप्सा स्यादिति वर्जयन्ति ॥ १४४ ॥ क्षेत्रकालावाश्रित्याह—

पासंडियसमणाणं गिहिनिग्गंथाण चेव उ विभासा। जह नामंमि तहेव य खेत्ते काले य नायव्वं ॥१४५॥

यथा नाम्नि तथा क्षेत्रे काले च पाखण्डिनां श्रमणानां गृहिणां निर्ग्रन्थानां च विभाषा स्यादिति ज्ञातव्यम्, तत्र क्षेत्रं सौराष्ट्रादिकं, कालो दिनादिः, तत्र क्षेत्रे यथा सौराष्ट्रदेशोत्पन्नेभ्यः पाखण्डिभ्यो मया दातव्यमिति सङ्कल्पे सौराष्ट्रदेशोत्पन्नस्य साधोर्न कल्पते, यदा तु सौगतादिविशेषः कृतो भवति, तदा तस्यापि कल्पतेऽन्यदेशोत्पन्नानां तु कल्पत एव, इत्थं श्रमणादिष्वपि कालसाधर्मिकेऽपि विवक्षितदिनजातेभ्यः पाखण्डिभ्यो दातव्यमिति सङ्कल्पे तद्दिनजातस्य न कल्पते इत्यादि भावनीयम्, शेषप्रवचनादिपदसप्तके द्विकसंयोगा भङ्गा एकविंशतिः, तद्यथा–प्रवचनस्य लिङ्गेन सहैको, दर्शनेन सह द्वितीयो, ज्ञानेन सह तृतीयः, एवं यावद्भावनया सह षष्ठ इति षड्भङ्गाः, एवं लिङ्गस्य दर्शनादिभिः सह पञ्च, दर्शनस्य ज्ञानादिभिः सह चत्वारः, ज्ञानस्य चारित्रादिभिः सह त्रयः, चारित्रस्याभिग्रहभावनाभ्यां द्वौ, अभिग्रहस्य भावनया सहैक इति एकविंशतिः, एतेषु भङ्गेषु च प्रत्येकमेकैका चतुर्भङ्गिका, यथा प्रवचनसाधर्म्मिको न लिङ्गतः, लिङ्गतः साधर्म्मिको न प्रवचनतः, प्रवचनतः साधर्म्मिको लिङ्गतश्च, न प्रवचनतो न लिङ्गतश्च, शेषा अपि चतुर्भङ्गिकाः स्वयमूह्याः ॥ १४५ ॥ आद्यचतुर्भङ्गिकायाः प्रथमभङ्गद्वयोदाहरणं दर्शयति—

दस ससिहागा सावग पवयण साहम्मिया न लिङ्गेण। लिङ्गेण उ साहम्मी नो पवयण निह्नगा सव्वे ॥१४६॥

दशमीं प्रतिमां प्रतिपन्ना आद्यप्रतिमाप्रारम्भात् सशिखाकाः–सकेशा इति हेतोः श्रावकाः प्रवचनसाधर्म्मिका न लिङ्गेन,

विशेषतः कल्प्या- कल्प्य- विधिः

अत्र निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनमिति हेतौ प्रथमा, लिङ्गतः साधर्म्मिका न प्रवचनतो निह्नवा, निह्नवाश्च ज्ञाताज्ञातभेदेन द्विधा, तत्र ये ज्ञातास्तेऽत्र ग्राह्या, अज्ञातानां तु लोके साधुत्वे न प्रतिषिद्धत्वादेषामर्थाय कृतं कल्पते साधूनां चकारादिहोत्तरत्रादि भङ्गद्वयमाद्यमेव कथयिष्यति, शेषं भङ्गद्वयं स्वयमूह्यं, यथाऽत्र प्रवचनतः साधर्म्मिका लिङ्गतश्च साधव एकादशमीं प्रतिमां प्रतिपन्नाः श्रावका वा तत्र साधूनामर्थाय कृतं कल्पते श्रावकाणां त्वर्थाय कृतं कल्पते न प्रवचनतः साधर्म्मिकानामपि लिङ्गतस्तीर्थङ्करप्रत्येकबुद्धाः, तेषां प्रवचनलिङ्गातीतत्वात्, तदर्थकृतं कल्पते ॥ १४६ ॥ शेषचतुर्भङ्गिकानां भङ्गद्वयं चाह—

विसरिसदंसणजुत्ता पवयणसाहम्मिया न दंसणओ । तित्थगरा पत्तेया नो पवयणदंससाहम्मी ॥१४७

विसदृशदर्शनयुक्ताः प्रवचनसाधर्म्मिका न दर्शनतो, यतः साधूनां श्रावकाणां वा केषाञ्चिदपि क्षायोपशमिकं दर्शनमन्येषां क्षायिकमपरेषामौपशमिकमिति भिन्नता दर्शने दृश्यते, तीर्थङ्करप्रत्येकबुद्धा न प्रवचनतो दर्शनतः साधर्म्मिकाः समानदर्शनत्वात्, तेषामर्थाय कृतं कल्पते साधूनां एवं द्वितीयचतुर्भङ्गिकाद्यभङ्गद्वयं, एवं सर्वत्र ॥ १४७ ॥ अथ तृतीयचतुर्थभङ्गिकयोः स्वरूपमाह—

नाण चरित्ता एवं नायव्वा होंति पवयणेणं तु । पवयणओ साहम्मी नाभिग्गह सावगा जइणो ॥१४८॥

साहम्मऽभिग्गहेणं नोपवयण निण्ह तित्थ पत्तेया । एवं पवयणभावण एत्तो सेसाण वोच्छामि ॥१४९॥

विविध-चतुर्भङ्गिकानां घटना।

यथा प्रवचनेन सह दर्शनयुक्त एव ज्ञानचारित्रेऽपि मङ्गद्वयोपन्यासेन प्रवचनेन सह योज्ये, यथा प्रवचनतः साधर्म्मिका न ज्ञानतो, विसदृशज्ञानसहिताः साधवः श्रावका वा, साधूनामर्थाय कृत कल्पते नैव, श्रावकाणां त्वर्थाय कृत कल्पते इति सर्वत्र, ज्ञानतः साधर्म्मिका न प्रवचनतस्तीर्थङ्करप्रत्येकबुद्धाः एव चारित्रेणापि सदृशादिपदैर्योगः कार्यः। पञ्चमषष्ठी-चतुर्भङ्गिकयोराद्य भेदद्वयमाह—

गाथार्द्धम् पाश्चात्य—प्रवचनतः साधर्म्मिकतोऽभिग्रहतः श्रावका यतयश्च विसदृशाभिग्रहसहिताः अभिग्रहेण साधर्म्मिका न प्रवचनेन निह्नवतीर्थङ्करप्रत्येकबुद्धाः, एवं प्रवचनेन सह भावना विसदृशादिपदैर्योज्या, यथा प्रवचनतः साधर्म्मिका न भावनातः साधवः श्रावका वा विसदृशभावनायुक्ताः, भावनातः साधर्म्मिका न प्रवचनतो निह्नवतीर्थङ्करप्रत्येकबुद्धाः, एवं शेषभङ्गद्वयमपि ज्ञेयम्, तदेव प्रवचनाश्रिता षडपि चतुर्भङ्गाः, इतः शेषचतुर्भङ्गिकानामुदाहरणानि वक्ष्ये ॥ १४८–१४९ ॥

लिङ्गाईहिंवि एव एक्केक्केण तु उवरिमा नेया। जेऽनन्ने उवरिल्ला ते मोत्तुं सेसए एवं ॥ १५० ॥

'सप्तम्यर्थे तृतीया' ततो लिङ्गादिष्वपि पदेषु एकैकेन लिङ्गादिना पदेन उपरितनानि-दर्शनज्ञानप्रभृतीनि पदानि नयेत्, पूर्वोक्तानुसारेण चतुर्भङ्गिका ज्ञेयेति, अतिसङ्क्षिप्तव्याख्यानमितीहविशेषमाह—जेऽणन्ने इति, ये अनन्ये उदाहरणापेक्षया अन्यादृशा न भवन्ति किन्तु तुल्या एवेति तान् भङ्गकान् मुक्त्वा शेषानुपरितनान् भेदानेवं वक्ष्यमाणप्रकारेण जानीत, अय भावः—लिङ्गदर्शनयोर्ये चत्वारो भङ्गाः सोदाहरणा वक्ष्यन्ते—तत् समाना एव, लिङ्गज्ञानलिङ्गचरणयोरपि भङ्गाः, तान् मुक्त्वा लिङ्गदर्शनलिङ्गाभिग्रहादि भङ्गानुदाहरिष्यामि, तत्र लिङ्गदर्शनचतुर्भङ्गिका ॥ १५० ॥ आद्यभङ्गद्वयमाह—

लिङ्गेण उ साहम्मी न दंसणे वीसुदंसि जइ निण्हा। पत्तेयबुद्ध तित्थंकरा य बीयंमि भंगंमि ॥१५१॥

लिङ्गेन साधर्म्मिका न दर्शनेन विष्वग्दर्शना-विभिन्नदर्शना यतयो निह्नवाश्च, उपलक्षणत्वादेकादश प्रतिमाप्रपन्नाः श्रावकाश्च, प्रत्येकबुद्धतीर्थङ्करा द्वितीयभङ्गे दर्शनतः साधर्मिका न लिङ्गत इत्येवंरूपे ॥ १५१ ॥ अथ लिङ्गज्ञानलिङ्गचारित्रचतुर्भङ्गिकाद्वयं समानमित्यनुक्ता (?) लिङ्गाभिग्रहचतुर्भङ्गिकाद्यभङ्गद्वयमाह—

लिंगेण उ नाभिग्गह अणाभिग्गह वीसुऽभिग्गही चेव। जइ सावग बीयभंगे पत्तेयबुहा य तित्थयरा ॥१५२

लिङ्गेन साधर्म्मिका नाभिग्रहतोऽनभिग्रहाः, विष्वगभिग्रहा(हिणो)-विभिन्नाभिग्रहयुक्ता यतय एकादशप्रतिमास्थाः श्रावका वा, अभिग्रहतः साधर्म्मिका न लिङ्गत इति द्वितीयभङ्गे प्रत्येकबुद्धास्तीर्थङ्कराश्च ॥ १५२ ॥ लिङ्गभावनाचतुर्भङ्गिकास्वरूपमाह—

एवं लिङ्गेण भावण

यथा लिङ्गे अभिग्रहेण तथा भावनया भङ्गा वाच्या इति, यथा लिङ्गतः साधर्म्मिका न भावनातो भावनारहिता विष्वग्भावना वा, यतय एकादशप्रतिमास्था श्रावका वा इत्यादि, दर्शनज्ञानचतुर्भङ्गिकाद्यभङ्गद्वयमाह—

दंसणनाणं य पढम भंगो उ। जइ सावग वीसुनाणी एवं चिय बिइय भंगोऽवि ॥ १५३ ॥

दर्शनज्ञाने दर्शनतः साधर्म्मिका न ज्ञानत इत्येवंरूपः प्रथमो भङ्गः, यतयः श्रावका वा विष्वग्ज्ञानिनो-विभिन्नज्ञानाः

समानदर्शना वा, एवमेव ज्ञानतः साधर्म्मिका न दर्शनतः इत्येवरूपो द्वितीयो भङ्गो ज्ञेयः । यतयः श्रावकाश्च तत्रापि केवलं विभिन्नदर्शनाः समानज्ञाना इति ॥ १५३ ॥ दर्शनचरणचतुर्भङ्गिकाद्यभङ्गद्वयमाह—

दंसणचरणे पढमो सावग जइणो य बीयभंगो उ। जइणो विसरिसदंसी दंसे य अभिगहे वोच्छं ॥१५४॥

दर्शनचारित्रे दर्शनतः साधर्म्मिका न चरणत इत्यय प्रथमो भङ्गः, समानदर्शनाः श्रावका विसदृशचरणा यतयश्च द्वितीयो भङ्गश्चरणतः साधर्म्मिका न दर्शनत इति, तत्र विसदृशदर्शनाः समानचारित्रा यतय इति, दर्शने अभिग्रहे चाद्यभङ्गद्वयं वक्ष्ये ॥ १५४ ॥ तदेवाह—

सावग जइ वीसऽभिग्गह पढमो बीओ य भावणा चेवं। नाणेणऽवि नेज्जेवं एत्तो चरणेण वोच्छामि ॥१५५

समानदर्शना विभिन्नाभिग्रहा-विभिन्नाभिग्रहाः श्रावका यतयश्च दर्शनतः साधर्म्मिका नाभिग्रहत इति प्रथमो भङ्गः, द्वितीयोऽपि भङ्गोऽभिग्रहतः साधर्म्मिका न दर्शनत इति तत्रापि यतिश्राद्धा एव, परं विभिन्नदर्शनाः समानाभिग्रहा ज्ञेया इति, दर्शनभावनाचतुर्भङ्गिकाद्यभङ्गद्वय सूचयति—

यथा दर्शनेन अभिग्रह उदाहृतः, एव भावनापि वक्तव्या । यथा दर्शनतः साधर्मिका न भावनातो, विसदृशभावनाः समानदर्शनाः श्रावका यतयश्चेत्यादि, अत्र ज्ञानस्य चारित्रादिभिः सह चतुर्भङ्गिका प्ररूपणमाह—

यथा दर्शनेन सह चतस्रश्चतुर्भङ्गिका उक्तास्तथा ज्ञानेनापि सह चारित्रादीनि पदान्यधिकृत्य तिस्रश्चतुर्भङ्गिका ज्ञेयाः ।

भिन्न-भिन्नचतुर्भङ्गिकाः ।

अतीव सङ्क्षिप्तमिदमिति विशेषमाह अवचूरिकृत्–ज्ञानचरणयोश्चतुर्भङ्गिका १ ज्ञानाभिग्रहयोश्च २ ज्ञानभावनयोस्तृतीया। 'इत्तो' इति–इत ऊर्ध्वं चरणेन सह ये द्वे चतुर्भङ्गिके तदुदाहरणानि वक्ष्ये ॥१५५॥ प्रथमचतुर्भङ्गिकाया आद्यभङ्गद्वयमाह—

जइणो वीसाभिग्गह पढमो विय निण्हसावगजइणो उ(ईणो)।
एवं तु भावणासुऽवि वोच्छं दोण्हंतिमाणित्तो ॥ १५६ ॥

चरणतः साधर्म्मिका नाभिग्रहत इति प्रथमो भङ्गः, समानचरणा विष्वग्-विभिन्नाभिग्रहा यतयः अभिग्रहतः साधर्म्मिका न चरणत इति द्वितीयो भङ्गः समानाभिग्रहनिह्नवाः श्रावका विभिन्नचरणा यतयश्च, चरणभावनयोश्चतुर्भङ्गिकाद्यभङ्गद्वयमाह–

यथा चरणेन सहाभिग्रह उदाहृत एवं भावनास्वपि वाच्यम्, यथा चरणतः साधर्म्मिका न भावनातो यतय इति प्रथमो भङ्ग इत्यादि, अथाभिग्रहभावनयोश्चतुर्भङ्गिकां वक्तुमाह—

इतोऽभिग्रहभावनालक्षणयोः पदयोश्चतुर्भङ्गिकामुदाहरणतो वक्ष्ये ॥ १५६ ॥ आद्यभङ्गद्वयमाह—

जइणो सावगनिण्हव पढमे बिइए य हुंति भंगे य। केवलनाणे तित्थंकरस्स नो कप्पइ कयं तु ॥१५७॥

अभिग्रहतः साधर्म्मिका न भावनात इत्येवं प्रथमे भङ्गे तथा भावनातः साधर्म्मिका नाभिग्रहत इत्येवंरूपे द्वितीयभङ्गे यतयः श्रावका निह्नवाश्च भवन्ति, परं प्रथमे भङ्गे समानाभिग्रहा विसदृशभावना, द्वितीये तु समानभावना विसदृशाभिग्रहा इति ज्ञेयम्, अत्र शेषभङ्गद्वयमपि लिख्यते–अभिग्रहतः साधर्म्मिका भावनातश्च समानत्वाद्यतिप्रमुखा एव, नाभिग्रहतो

चतुर्भङ्गिकाणामतिदेशः।

नापि भावनातोऽसमानत्वात्, स एव इत्यमनुक्ता अपि पाश्चात्यभङ्गकेषु भङ्गाः स्वयमूह्याः। अत्र सर्वत्र श्रावकलोकविख्यातनिह्नवानां कृते कथं कल्पते, प्रत्येकबुद्धतीर्थकृदर्थकृत साधूनामर्थाय च कृत न कल्पते, एवमेकविंशतिरपि चतुर्भङ्गिकाः प्रोक्ताः, अथ सामान्यकेवलिन तीर्थकर चाधिकृत्य कल्प्याकल्प्यविधिं कथयति।

केवलज्ञानिनः सामान्यसाधोः उपलक्षणत्वात्तीर्थङ्करप्रत्येकबुद्धवर्जशेषसाधूनामित्यर्थः, तीर्थङ्करस्य, तीर्थकरग्रहणमुपलक्षणं, तेन प्रत्येकबुद्धस्य चार्थाय कृत, यथाक्रम न कल्पते, तुशब्दस्यानुक्तसमुच्चायकत्वात्, कल्पते च, अय भावः–तीर्थकरप्रत्येकबुद्धवर्जशेषसाधूनामर्थाय कृत न कल्पते तीर्थकरप्रत्येकबुद्धानां स्वार्थाय कृत कल्पते, तथा हि–तीर्थकरनिमित्त कृतेऽपि समवसरणे साधूनामुपदेशश्रवणार्थमुपवेशनादि कल्पते, एव भक्ताद्यपि, एव प्रत्येकबुद्धस्यापि, क्वापि तु पाठ एवाय–" केवलनाणे तित्थकरस्स जइ कप्पइ कयं तु " अत्र तु कल्पते इति सङ्गतमेव ॥ १५७ ॥ अथ यानाश्रित्य पूर्वोक्ता भङ्गाः सम्भवन्ति तान् प्रतिपादयति—

पत्तेयबुद्धनिण्हव उवासए केवली वि आसज्ज। खइयाइए य भावे पडुच्च भंगे उ जोएज्जा ॥१५८॥

प्रत्येकबुद्धान् निह्नवान् उपासकान्–श्रावकान् केवलिनः, अपिशब्दाच्छेषसाधूनाश्रित्य तथा क्षायिकादीन् भावान् क्षायिकादिदर्शनानि, चशब्दाद्विचित्राणि ज्ञानानि चरणानि अभिग्रहान् भावनाश्च प्रतीत्य भङ्गान् योजयेत्, तथैव चोक्ता इति स्थितम् ॥ १५८ ॥ अथ प्रथमचतुर्भङ्गिकां प्रवचनलिङ्गविषयामधिकृत्य विशेषमाह—

जत्थ उ तइओ भंगो तत्थ न कप्पं तु सेसए भयणा। तित्थंकरकेवलिणो जहकप्पं नो य सेसाणं ॥१५९

'सूचनात् सूत्र'मिति यत्र साधर्मिके तृतीयो भङ्गः प्रवचनतः साधर्मिका लिङ्गतश्चेत्येवंरूपस्तत्र न कल्पते, यतः प्रत्येकबुद्धतीर्थकरवर्जा यतयस्ततस्तेषामर्थाय कृतं न कल्पते, तुशब्दोऽनुक्तस्य समुच्चये, तत एकादशीं प्रतिमां प्रतिपन्नस्य श्रावकस्य तृतीयभङ्गभाविनोऽप्यर्थाय कृतं कल्पते इति, केचित्पुनराहुः–सोऽपि प्रतिमावान् साधुकल्प इति न कल्पते, तद-युक्तं, मूलटीकायामसम्मतत्वात्, 'सेस' त्ति, शेषके भङ्गत्रये भजना–विकल्पना कचित् कल्पते कचिन्नेति, अथ सामान्येन भङ्गचतुष्टयमधिकृत्योदाहरति–यथेत्युदाहरणोपन्यासे, तीर्थकरकेवलिनोऽर्थाय कृतं कल्पते, न शेषसाधूनामर्थाय कृतमिति ॥ १५९ ॥ मूलद्वारगाथायां "कस्स वावी"ति व्याख्यातम्, अथ "किं वावी"ति (नि. ९४) व्याख्यानयति—

किं तं आहाकम्मंति पुच्छिए तस्सरूवकहणत्थं। संभवपदरिसणत्थं च तस्स असणाइयं भणइ ॥१६०॥

किं तदाधाकर्म्मेति पृष्टे शिष्येण तत् स्वरूपकथनार्थं तस्य आधाकर्म्मणः सम्भवप्रदर्शनार्थं च गुरुरशनादिकं भणति ॥ १६० ॥ सम्प्रत्यशनादिकमेव व्याचष्टे—

सालीमाइ अवडे फलाइ सुंठाइ साइमं होइ। तस्स कडनिट्ठियंमी सुद्धमसुद्धे य चत्तारि ॥१६१॥

शाल्याद्यशनं, अवटः–कूप उपलक्षणत्वात्तटाकादिपरिग्रहः, अवटादिस्थं जलं पानमित्यर्थः, फलं नालिकेरादि खादिमं, शुण्ठ्यादि स्वादिमं भवति, एतेष्वाधाकर्म्मणः सम्भवात् स्वरूपत्वमुक्तम्, एतेषां अत्रैतेष्वाधाकर्म्मरूपेषु प्रत्येकं चतुर्भङ्गीमाह—

तस्य-साधोरर्थाय कृतमिति कर्तुमारब्ध तस्यैवार्थाय निष्ठितं-निष्पन्नं, अत्र चत्वारो भङ्गाः स्युः, तस्य कृत तस्य निष्ठित, तस्य कृतमन्यस्य निष्ठित, अन्यस्य कृत तस्य निष्ठितं, अन्यस्य कृतमन्यस्य निष्ठित, एते चत्वारो भङ्गाः, 'सुद्धमसुद्धे य 'त्ति, आर्षत्वाद्शुद्धौ शुद्धौ चाशुद्धौ चेति द्रष्टव्यम्, द्वितीयचतुर्थौ शुद्धौ, प्रथमतृतीयावशुद्धाविति ॥१६१॥ अथाधाकर्म्मणः सम्भव प्रतिपिपादयिषुः कथानकमाह—'

कोद्दवरालगगामे वसही रमणिज्ज भिक्खसज्झाए। खेत्तपडिलेहसंजय सावयपुच्छुज्जुए कहणा ॥१६२

जुज्जइ गणस्स खेत्तं नवरि गुरूणं तु नत्थि पाउग्गं। सालित्ति कए रुंपण परिभायण निययगेहेसु॥१६३॥

वोलिंता तेव अन्ने वा, अडता तस्य गोयरं। सुणंति एसणाजुत्ता, बालादिजणसकहा ॥ १६४ ॥

एए ते जेसिमो रद्धो, सालिकूरो घरे घरे। दिन्नो वा से सयं देमि, देहि वा विंति वा इम ॥१६५॥

थक्के थक्कावडिय, अभत्तए सालिभत्तयं जायं। मज्झ य पइस्स मरणं, दियरस्स य से मया भज्जा ॥१६६॥

चाउलोदगंपि से देहि, सालीआयामकंजिए। किमेयंति कय नाउ, वज्जतऽन्न वयति वा ॥१६७॥

गाथाषट्कम्, अर्थः कथानकादवसेय इति, तदेवाह (१० ९)-सङ्कलो नाम ग्रामस्तत्र जिनदत्तश्रावकः, तद्भार्या जिनमतिर्नाम, तत्र ग्रामे कोद्रवरालकाः प्राचुर्येणोत्पद्यन्ते, ततस्तेषामेव कूरं गृहे २ भिक्षार्थे गताः साधवो लभन्ते, वसतिश्च

आधाक-
र्मौदन-
परीहारि-
साधु-
कथानकम्।

रमणीया प्राप्यते, स्वाध्यायोऽपि निर्विघ्नं जायते, परं शाल्योदनो न प्राप्यते इति केऽपि सूरयस्तत्रादरेण न तिष्ठन्ति । अन्यदा तत्रासन्ने भद्रिलाभिधाने ग्रामे केऽपि सूरयः समाजग्मुः, तैश्च सल्लुकग्रामे क्षेत्रप्रत्युपेक्षणाय साधवः प्रेपिताः, साधवोऽपि तत्रागत्य यथाऽऽगमं जिनदत्तसमीपे वसतिमयाचिषत, जिनदत्तेनापि हर्षाद्वसतिर्दत्ता, साधवश्च तत्र स्थिता, यथाऽऽगमं भिक्षाप्रवेशनेन बहिर्भूमौ स्थण्डिलनिरीक्षणेन सर्वमपि ग्रामं प्रेक्षितवन्त इति, जिनदत्तोऽपि वसतावागत्य महत्तरं साधुं वन्दित्वाऽपृच्छत्–रुचितमिदं क्षेत्रं ?, सूरयोऽत्र पादमवधारयिष्यन्ति ? साधुरवोचत्–वर्त्तमानेन योगेन, ततो ज्ञातं जिनदत्तेन न रुचितमिति, श्राद्धश्चिन्तयामास च यदत्र साधवः समागच्छन्ति परं न तिष्ठन्ति तन्न ज्ञायते किमत्र कारणमिति ?, ततः कारणपरिज्ञानाय *कमपि ऋजुं साधुं ज्ञात्वा पप्रच्छ, स च यथावस्थितमुक्तवान्, यथाऽत्र सर्वेऽपि गुणा विद्यन्ते, योग्यमिदं च क्षेत्रं, केवलमत्राचार्यप्रायोग्यः शाल्योदनो न प्राप्यते इति नावस्थीयते । तदेवं कारणं परिज्ञाय जिनदत्तेन परस्माद् ग्रामात् शालिवीजमानीय निजग्रामक्षेत्रभूमिषु वापितं, ततः सम्पन्नो भूयान् शालिः, अन्यदा च यथा विहारक्रमं ते चान्ये वा साधवः समाययुः श्रावकश्चिन्तयामास, यथैतेभ्यो मया शाल्योदनो दातव्यो येन सूरीणामिदं योग्यं क्षेत्रमिति परिभाव्य साधवोऽमी सूरीनानयन्ति, तत्र यदि निजगृह एव दास्यामि, तदाऽन्येषु गृहेषु कोद्रवादिलभमानानामेतेषामाधाकर्मशङ्कोत्पत्स्यते तस्मात् सर्वेष्वपि गृहेषु स्वजनसम्बन्धिषु शालिं प्रेषयामीति, तथैव कृतं स्वजनांश्चोक्तवान्, यथा स्वयमप्यमुं शालिं पक्त्वा भुञ्जत, साधुभ्योऽपि च दद्यात, एष च वृत्तान्तः सर्वेऽपि बालादीभिरवजग्मे, साधवश्च भिक्षार्थमटन्तो यथागममेषणासमितिसमिता बालादीनामुक्तानि शृण्वन्ति, तत्र कोऽपि बालको वक्ति, एते ते साधवो

आधाकर्मौदनपरीहारिसाधुकथानकम्।

येषामर्थाय गृहे २ शाल्योदनो निरपादि, अन्यो भाषते–साधुसम्बन्धी शाल्योदनो मह्यं जनन्या ददे, दात्री वा कश्चिदेवं भाषते–दत्तः परकीयः शाल्योदनः सम्प्रत्यात्मीयं किमपि ददामि, गृहनायकोऽपि क्वापि ब्रूते–दत्तः शाल्योदनः परकीयः सम्प्रत्यात्मीयं किमपि देहि, बालकोऽपि कापि कोऽप्यनभिज्ञो जननीं ब्रूते मम साधुसम्बन्धिनं शाल्योदनं देहीति, अन्यस्त्वी पररिद्रः सहर्षं भाषते–अहो 'थक्के थक्कावडियं'मस्माकं सम्पन्नं, इह यत् अवसरे अवसरानुरूपमापतति तत् 'थक्के थक्कावडियं' मित्युच्यते, ततः स एवमाह–येनाभक्ते–भक्ताभावेऽस्माकं शालिभक्तमुदपादि। अत्रैवार्थे स लौकिकं दृष्टान्तमुदाहरति–

(ह० १०) सूरग्रामे यशोधराभिधाना काचिदाभीरी, तस्या योगराजो नाम भर्त्ता, वत्सराजो नाम देवरः, तस्य भार्या योधनी, अन्यदा दैववशात् योधनीयोगराजौ समकालमेव मृतौ, ततो यशोधरा देवरं ब्रूते, तव भार्याऽहं भवामीति, देवरोऽपि मम भार्या न विद्यते इति विचिन्त्य प्रतिपन्नवान्, ततः सा चिन्तयामास, अहोऽवसरेऽवसरापतितमस्माकमजायत, यस्मिन्नेवावसरे मत्पतिर्मृतस्तदैव देवरस्यापि भार्या मृतेति, ततोऽहं देवरेण भार्यात्वेन प्रतिपन्ना, अन्यथा न प्रतिपद्येत। तथा कापि बालको जननीमाचष्टे–मातः! शालितन्दुलोदकमपि साधुभ्यो देहि, अन्यस्त्वाह–शालिकाञ्जिकं, तत एवमादीनि बालादिजनजल्पितानि श्रुत्वा किमेतदिति पृच्छन्ति, पृष्टेऽपि च ते शठवो यथावत्कथितवन्तो यथा युष्माकमर्थायेदं कृतमिति, ये तु मायाविना श्रावकेण तथाप्रज्ञापिताः, ते न कथयन्ति, केवलं परस्परं निरीक्षन्ते, तदेवमाधाकर्मेति परिभाव्य तानि सर्वाण्यपि गृहाणि परिहृत्यान्येषु भिक्षार्थमटन्ति स्म, ये च तत्र निर्वहन्ति स्म न ते प्रत्यासन्नग्रामे भिक्षार्थमगच्छन्, एवमन्यत्राप्याधाकर्म सम्भवति, तच्च बालादिजल्पितैरवगम्य कथानकोक्तसाधुभिरिव वर्जनीयम्, सूत्र

सुगमम्, परं 'रुपण'त्ति रोपणं, परिभावणत्ति गृहे परिभोजनं, स इति एतेभ्यः, ' अन्नं '.ति, अन्यं ग्रामम् ॥ १६२-१६७ ॥ अथ पानस्याधाकर्म्मसम्भवमाह—

लोणागडोदए एवं, खाणित्तु महुरोदगं । ढक्किएणऽच्छते ताव, जाव साहुत्ति आगया ॥ १६८ ॥

यथाऽशनस्याधाकर्म्मणः कथानकसूचनेन सम्भव उक्तस्तथा पानस्याप्याधाकर्म्मणो ज्ञेयः, कथानकमपि तथैव, केवलमयं विशेषः, क्वापि ग्रामे सर्वेऽपि कूपाः क्षारोदका आसीरन्, अत्र क्षारशब्देन मलोदकं ज्ञेयम्, न त्वत्यन्तक्षारमिति, शेषसाधुसमागमनपृच्छनादि पूर्ववज्ज्ञेयम्, नवरं मधुरोदकं कूपं खानयित्वा लोके प्रवृत्तिजनितपापभयात् फलकादिना स्थगितमुखं कृत्वा तावदास्ते श्रावकः, यावच्च चान्ये साधवः समागताः, पूर्ववत् स्वजनगृहेषु जलप्रेषणं नालाद्युल्लापाः, परिहरणं च ज्ञेयम् ॥ १६८ ॥ अथ खादिमस्वादिमयोराधाकर्म्मसम्भवमाह—

कक्कडिय अंबगा वा दाडिम दक्खा य बीयपूराई । खाइमऽहिगरणकरणंति साइमं तिगडुगाईयं ॥१६९॥

कर्कटिका-चिर्भटिका आम्रकानि दाडिमानि द्राक्षा बीजकपूरकादीन्याश्रित्य खादिमविषयेऽधिकरणकरणं भवेत्-पापकरणं स्यादित्यर्थः, साध्वर्थमेतेषां वपनादि कुर्यादिति भावः । त्रिकटुकादिकं स्वादिमं तदपि खादिमवज्ज्ञेयम् ॥ १६९ ॥ अथ कृतनिष्ठितयोः स्वरूपमाह—

असणाईण चउण्हवि आमं जं साहुगहणपाउग्गं । तं निट्ठियं वियाणसु उवक्खडं तू कडं होइ॥१७०॥

अशनादीनां चतुर्णामपि यत् आमं-अपरिणतं साधुग्रहणप्रायोग्यं कृतं प्रासुकीकृतमित्यर्थः, तं निष्ठितं विजानीत, उपस्कृतं तूपस्कृतमारब्धं, कृतं भवति तत् ॥ १७० ॥ एतदेव विशेषतो भावयति—

'कंडिय तिगुणुक्कंडा उ निट्ठिया नेगदुगुणउक्कंडा । निट्ठियकडो उ कूरो आहाकम्मं दुगुणमाहु ॥१७१॥

इह ये तन्दुलाः प्रथमं साध्वर्थमुप्तास्ततः क्रमेण कणटयो जातास्ततः कण्डिताः कथं भूताः ?, कण्डिता इत्याह-त्रिगुणोत्कण्डाः-त्रीन् वारान् कण्डिता इत्यर्थः, ते निष्ठिता उच्यन्ते, एकद्विगुणोत्कण्डिता न निष्ठिताः, किन्तु कृता एव, अत्रायं वृद्धाम्नायः-यद्येकं वारं द्वौ वा वारौ साध्वर्थं कण्डितास्तृतीयवारं तु आत्मनिमित्तं कण्डिता राद्धाश्च तदा साधूनां कल्पते, यदि पुनरेकं द्वौ वा वारौ साधुनिमित्तं आत्मनिमित्तं वा कण्डितास्तृतीयं तु वा वारं साध्वर्थमेव, तैरेव तन्दुलैः साधुनिमित्तं निष्पादितकूरः स निष्ठितकृत उच्यते, निष्ठितैराधाकर्मतन्दुलैः राद्ध इत्यर्थः, स साधूनां सर्वथा न कल्पते, हेतुमाह—तन्त्राधाकर्म द्विगुणमाहुस्तीर्थकृतादय इति ॥ १७१ ॥ अथ खादिमस्वादिममाश्रित्य मतान्तरमाह—

छायंपि विवज्जंती केई फलहेउगाइवुत्तस्स । तं तु न जुज्जइ जम्हा फलंपि कप्पं बिइयभंगे ॥१७२॥

इह फलहेतुकादेः फलहेतोः पुष्पहेतोरन्यस्माद्वा हेतोः साध्वर्थमुप्तस्य वृक्षस्य केचिदगीतार्थाश्छायामपि आधाकर्मशङ्कया वर्जयन्ति, तत्तु न युज्यते, यस्मात् फलमपि यदर्थं स वृक्ष आरोपितस्तत आधाकर्मिकवृक्षसम्बन्धि द्वितीये भङ्गे तस्य कृतमन्यार्थं निष्ठितमित्येवरूपे द्वितीयभङ्गे वर्तमानं सत् कल्पते, अयमर्थः साध्वर्थमुप्ते कल्पादौ वृक्षे निष्पाद्यमानं फलं

कृत-निष्ठितयोः स्वरूपम् ।

साधुसंचाया अपनीयात्मसम्बन्धि करोति, तदा तदपि कल्पते, किं पुनः 'छाये'ति ॥ १७२ ॥ पुनराह—

परपच्चइया छाया न वि सा रुक्खोव वड्डिया कत्ता। नट्ठच्छाए उ दुमे कप्पइ एवं भणंतस्स ॥१७३॥

सा छाया परप्रत्ययिका-सूर्यहेतुका न वृक्षमात्रनिमित्ता न च सा वृक्ष इव कर्त्ता वृद्धिं नीता, तथा परस्य एवं-पूर्वोक्तं भणतो मेघादिकारणान्नष्टच्छाये द्रुमेऽवस्थानं कल्पते इति प्राप्तं, तच्च न युक्तम्, तस्मान्नाधाकर्म्मिकी छायेति, किन्तु स एव वृक्ष आधाकर्म्मिकस्तत् संस्पृष्टाश्चाधः कतिपयप्रदेशाः पूतिरिति ॥ १७३ ॥ पुनः परेषां दूषणान्तरमाह—

वड्डइ हायइ छाया तत्थिक्कं पूइयंपि व न कप्पे। न य आहाय सुविहिए निवत्तयई रविच्छायं ॥१७४॥

इह सूर्यगतिवशाच्छाया वर्द्धते हीयते च, ततो रवेरस्तमनसमये प्रातःसमये चातिद्राघीयसी विवर्द्धमाना छाया सकलमपि ग्राममभिव्याप्य वर्त्तते, अतस्तत् पृष्टं सर्वमपि ग्रामसम्बन्धि वसत्यादिकं पूतिकमिव तृतीयोद्गमदोषदुष्टमशनादिकमिव न कल्पते, न चैतदागमे प्रोक्तं तन्नाधाकर्म्मिकी छायेति, न च सूर्यः सुविहितानाधाय छायां निवर्त्तयति ततः कथमाधाकर्म्मिकी ॥ १७४ ॥ यदि पुनराधाकर्म्मिकी स्यात्, तर्हि—

अघणघणचारिगगणे छाया नट्ठा दिया पुणो होइ। कप्पइ निरायवे नाम आयवे तं विवज्जेउं ॥१७५॥

अघना-विरला घना-मेघाश्चारिणः-परिभ्रमणशीला यत्र इत्थंभूते गगने, छाया नष्टापि सती दिवा पुनरपि भवति, ततो मेघैरन्तरिते सूर्ये निरातपे-आतपाभावे तस्य वृक्षस्याधस्तनं प्रदेशं सेवितुं कल्पते, आतपे तु विवर्जयितुं, न चायं विषय-

निष्ठित- कृतज- भङ्ग- चतुष्टयम् ।

विभागः सूत्रे क्वापि दृश्यते, न च पूर्वपुरुषाचीर्णा इति, तस्मादसदेतदपरोक्तमिति ॥ १७५ ॥ अथ गीतार्थानां किञ्चिदाश्वासन छायानिर्दोषतानिगमनपूर्वक वक्ति—

तम्हा न एस दोसो संभवई कम्मलक्खणविहूणो। तंपि य हु अइघिणिल्ला वज्जेमाणा अदोसिल्ला १७६

तस्मात् पूर्वोक्तकारणाद् एष दोषः परोपन्यस्तो न सम्भवति, कुत ? इत्याह—यतोऽय दोषः कर्मलक्षणविहीनः—आधाकर्मरहित तत्कयुक्तेरित्यर्थः, अथवा तामप्याधाकर्म्मिकवृक्षच्छायां तु—निश्चित, अतिघृणावन्तः—अतिदयालवो यिवर्जयन्तोऽदोषवन्त इति ॥ १७६ ॥ मूलद्वारगाथायां " किं वावी "ति व्याख्यात, अथ " परपक्खो य सपक्खो " (नि० ९४) इति द्वारद्वय व्याख्यानयन् प्रसङ्गतः पुनरपि निष्ठितकृतयोः स्वरूप ताभ्यामुत्पन्न भङ्गचतुष्टय चाह—

परपक्खो उ गिहत्था समणो समणीउ होइ उ सपक्खो। फासुकडं रद्धं वा निट्ठियमियरं कडं सव्वं १७७

तस्स कडनिट्ठियमी अन्नस्स कडंमि निट्ठिए तस्स। चउभंगो इत्थ भवे चरमदुगे होइ कप्पं तु १७८

गृहस्थाः—श्रावकादयस्तेषामर्थाय कृत साधूनामाधाकर्म्म न भवति, यतः स परपक्ष इति, श्रमणाः श्रमण्यश्च स्वपक्षस्तदर्थकृत स्वाधाकर्म्मैव स्यादिति, तथा प्रासुकीकृत शाल्यादिराद्धं वा निष्ठित वेदितव्य, इतरस्तु एककण्डितद्विकण्डिततन्दुलादिक कृतं भवति सर्वं, तस्य साधोरर्थाय कृते निष्ठितेऽन्य अन्यस्यार्थाय कृते तस्यार्थाय कृते निष्ठिते च भक्तादौ चतुर्भङ्गिका भवति, तत्रैतौ प्रथमतृतीयो भङ्गौ साधार्थिकौ द्वितीयचतुर्थौ च स्वयमूह्यौ, उक्तभङ्गापेक्षया चरमभङ्गद्वय—

७

कल्प्यमशनादि भवति, आधापेक्षया द्वितीयश्चरमस्तृतीयापेक्षया चतुर्थ इति ॥ १७७-१७८ ॥ अथ " चउरो " (नि० ९४) इति मूलद्वारगाथायां व्याख्यानयति—

चउरो अइक्कमवइक्कमा य अइयार तह अणायारो। निद्दरिसणं चउण्हवि आहाकम्मे निमंतणया १७९

केनापि श्राद्धेनाधाकर्म्मणि निमन्त्रणे कृते चत्वारो दोषा भवन्ति, तथाहि-अतिक्रमो व्यतिक्रमोऽतीचारोऽनाचारश्च, चतुर्णामपि निदर्शनं भावनीयम्, तच्च वक्ष्यति ॥ १७९ ॥ अथाधाकर्म्मनिमन्त्रणं वक्ति—

सालीघयगुलगोरस नवेसु वल्लीफलेसु जाएसुं। दाणे अहिगमसड्ढे आहायकए निमंतेइ ॥ १८० ॥

शालिषु-शाल्योदनेषु घृतगुडगोरसेषु साधूनाधाय कृतेषु नवेषु च वल्लीफलकेषु साध्वर्थमचित्तीकृतेषु दाने कोऽप्यभिनवश्राद्धो निमन्त्रयति ॥ १८० ॥ ततश्च—

आहाकम्मग्गहणे अइक्कमाईसु वइए चउसु। नेउरहारिगहत्थी चउतिगदुगएगचलणेणं ॥ १८१ ॥

आधाकर्म्मग्रहणे अतिक्रमादिषु चतुर्षु दोषेषु वर्त्तते, स च यथा २ उत्तरस्मिन् दोषे वर्त्तते तथा तथा तत्पापादात्मानं महता कष्टेन व्यावर्त्तयितुमीशः, अत्र दृष्टान्तमाह-'नेउरि'त्ति, नूपुरहारिकायाः कथानके यो हस्ती राजपत्नीं सञ्चारयन् प्रसिद्धः, स यथा "चउ तिग दुग एग चलणेणं" तं पश्चानुपूर्व्या एकेन द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिश्चरणैराकाशस्थैरतिकष्टेनात्मानं व्यावर्त्तयितुमीशस्तथाऽऽधाकर्म्मग्राह्यपि। सङ्क्षिप्तकथा चैवम्—

(द० ११) यथा राजा नूपुरहारिकाकथानके हस्ती स्वपत्नीभिंठाभ्यां [redacted] छिन्नटके पर्वते समारोपितः, ततो भिंठेन पर्वताग्रभागे व्यवस्थाप्य क्रमप्येक चरण नमसि कारितः, स च तथावस्थः स्तोकेन क्लेशेन तं चरण व्यावर्त्य तत्रैव पर्वते आत्मान स्थापयितु शक्नोति, एव साधुरपि कश्चिदतिक्रमाख्य दोष प्राप्यात्मानं सुखेन निवर्तयित्वा सयमे तु स्थापयितुमीशः, पर क्रमवृद्धौ गजस्य दोषवृद्धौ साधोरिति कष्ट स्यादिति भावः ॥ १८१ ॥ अथातिक्रमादीनां स्वरूपमाह—

आहाकम्मनिमंतण पडिसुणमाणे अइक्कमो होइ। पयभेयाइ वइक्कम गहिए तइएयरो गिलिए ॥१८२॥

आधाकर्मनिमन्त्रणे प्रतिशृण्वति–अङ्गीकुर्वति अतिक्रमो भवति–पदभेदाचरणविन्यासादाधाकर्मग्रहण प्रति व्यतिक्रमः स्यात्, आधाकर्मणि गृहीते तृतीयो दोषः, इतरश्चतुर्थो गलिते–भक्षिते सति स्यात् ॥ १८२ ॥ मूलद्वारगाथायां "गहणे य आणाई" (नि० ९४) इति व्याख्यानयति—

आणाइणो य दोसा गहणे जं भणियमह इमे ते उ। आणाभंगऽणवस्था मिच्छत्तविराहणा चेव ॥१८३॥

यदुक्तमाधाकर्मग्रहणे आज्ञादयः–आज्ञाभङ्गादयो दोषाः, अथ इमे ते–वक्ष्यमाणास्तानेवाह–आज्ञाभङ्गोऽनवस्था मिथ्यात्वं विराधना च ॥ १८३ ॥ क्रमात् व्याख्यानयति—

आणं सव्वजिणाणं गिण्हंतो तं अइक्कमइ लुद्धो। आणं च अइक्कमंतो कस्साएसा कुणइ सेसं? ॥१८४॥

सुगमा, नवरं तदाधाकर्म गृह्णन्निति ॥ १८४ ॥ अनवस्थादोषमाह—

आधाकर्मण्याज्ञाभङ्गादिदोषाः।

एक्केण कयमकज्जं करेइ तप्पच्चया पुणो अन्नो । सायावहुलपरंपर वोच्छेओ संजमतवाणं ॥१८५॥

एकेन अकार्यं आधाकर्मग्रहणलक्षणं कृतं, तत् प्रत्ययात्–तत् कारणात्पुनरन्यः करोति, एवं सातबहुलानां–सुखलम्पटानां परम्परया संयमतपसां व्यवच्छेदो भवति ॥ १८५ ॥ मिथ्यात्वदोषमाह—

जो जहवायं न कुणइ मिच्छाद्दिट्ठी तओ हु को अन्नो ?। वड्ढेइ य मिच्छत्तं परस्स संकं जणेमाणो ॥१८६॥

यो यथावादं आगमाभिहितं न करोति ततोऽन्यः को मिथ्यादृष्टिः स एवेत्यर्थः, चशब्दो हेतौ, यस्मात् परस्य शङ्कां जनयन् मिथ्यात्वं वर्द्धयति ॥ १८६ ॥ अन्यच्च—

वड्ढेई तप्पसंगं गेही अ परस्स अप्पणो चेव । सजियंपि भिन्नदाढो न मुयइ निद्धंधसो पच्छा ॥१८७॥

आधाकर्मग्राही परस्यात्मनश्च ततः प्रसङ्गं वर्द्धयति गृद्धिरत्यन्तासक्तिश्च जायते, ततः पश्चाद् भिन्नदंष्ट्राकस्तद्रसास्वादेन निर्द्धमसो-निर्दयः सजीवमपि फलादिकं न मुञ्चति ॥ १८७ ॥ विराधनादोषमाह—

खद्धे निद्धे य स(रु)या सुत्ते हाणी तिगिच्छणे काया । पडियरगाणवि हाणी कुणइ किलेसं किलिस्संतो १८८

खद्धे–प्रचुरे निद्धे-स्निग्धे आधाकर्मणि भुक्ते रुजा-रोगः स्यात्, ततः सूत्रहानिरगुणनेन जायते, चिकित्सायां काया–पृथ्वीकायादयो विराध्यन्ते, प्रतिचारकानां-परिपालकसाधूनां तद्वैयावृत्त्यतत्परतया सूत्रार्थसंयमहानिः, तथा क्लिश्यमानः परं क्लेशं करोति ॥ १८८ ॥ अथाधाकर्मणोऽकल्प्यविधिं कथयन् द्वारगाथामाह—

जह कम्म तु अकप्पं तच्छिक्क वाऽवि भायणठियं वा। परिहरणं तस्सेव य गहियमदोसं च तह भणइ १८९

यथा कर्म--आधाकर्म अकल्प्यं, यथा तत्स्पृष्टं यथा भाजनस्थितं वा अकल्प्यं तस्यैव यथा परिहरणं तद्गृहीतं यथा वाऽदोषं तथा गुरुर्भणति ॥ १८९ ॥ अत्र पञ्च द्वाराणि एतान्येव द्वाराणि विशेषेणाह—

अब्भोज्जे गमणाइ य पुच्छा दव्वकुलदेसभावे य। एव जयते छलणा दिट्ठंता तत्थिमे दोन्नि ॥ १९० ॥

यथा साधूनामाधाकर्म तत्स्पृष्टं कल्पत्रयाक्षालितभाजनस्थं वा अभोज्यं तथा भजनीयमिति द्वारत्रयं सूचितम्, तथा अविधिपरिहारे गमनादिकाः कायक्लेशादिदोषा वाच्याः, विधिपरिहारे यथा द्रव्यकालदेशभावे पृच्छा कर्तव्या, यथा च न कर्तव्येति वाच्यमिति चतुर्थं द्वारं, एवं यतमाने कदापि छलना जायते, ततस्तत्र इमौ वक्ष्यमाणौ दृष्टान्तौ वक्तव्यौ इति पञ्चमं द्वारम् ॥ १९० ॥ आधाकर्मणोऽकल्प्यताख्यं द्वारमाह—

जह वंतं तु अभोज्जं भत्तं जइवि य सुसक्कय आसि। एवमसंजमवमणे अणेसणिज्जं अभोज्जं तु ॥ १९१ ॥

यदोपभक्तं पूर्वं सुसंस्कृतं आसीत्, तदपि यथा वान्तमभोज्यमेव, एवमसंयमवमने साधोरनेषणीयमभोज्यमेवेति ॥१९१॥ एतदेव गाथाद्वयेन दृष्टान्तपूर्वकमाह—

मज्जापखइयमंसा मसासिरिथि कुणिमं सुणयवंतं। वत्थाइ अन्नउप्पाइयंपि किं तं भवे भोज्जं ? ॥१९२॥

आधाकर्मण्य-
कल्प्यादि-
पञ्च-
द्वाराणि।

केई भणंति पहिए उट्ठाणे मंसपेसिवोसिरणं । संभारिय परिवेसण वारेइ सुओ करे घेत्तुं ॥ १९३ ॥

(दृ० १२) च(व)क्रपुरं नगरं, तत्रोग्रतेजाः पदातिः, भार्या रुक्मिणी, अन्यदा चोग्रतेजसो ज्येष्ठभ्राता सोदासाभिधानः कुतोऽपि ग्रामादागतः प्राघूर्णकत्वेन, उग्रतेजसा मांसं क्रीत्वानीय भार्यायै समर्पितम्, तस्याश्च गृहकार्यसक्तायास्तन्मांसं मार्जारेण भक्षितं, रुक्मिणी चिन्तयामास, किं करोमि ? अत्रान्तरे क्वापि मृतस्य कार्पटिकस्य शुना मांसं भक्षयित्वा तद्गृहप्राङ्गणे दृष्टौ वातसङ्क्षोभादिवशादुद्वमितं, भोजनवेला समागतेति रुक्मिण्या तदेवाददे, जलेन प्रक्षाल्य संस्कृतं, समागतौ सोदासोग्रतेजसावुपविष्टौ भोजनार्थं परिवेषितं तन्मांसं, ततो गन्धविशेषेणोग्रतेजसा ज्ञातं, यथा—वान्तमेतदिति, ततः साक्षेपं भार्या पृष्टा, सा च कम्पमाना यथावस्थितं कथयामास, ततस्तन्मांसं परित्यज्य तां निर्भर्त्स्यान्यन्मांसं पाचितम् । प्रथमगाथाक्षरार्थस्त्वयम्—मार्जारेण खादितमांसं यस्याः सा मार्जारखादितमांसा मांसाशिन उग्रतेजसः स्त्री—महेला अन्यन्मांसमप्राप्नुवती श्ववान्तं कुणपं—मांसं गृहीतवती, तच्च वेसवारेण वर्णादिभिरन्यदिवोत्पादितमपि किं भवति भोज्यमपि तु नैव, एवमाधाकर्म्मापि । केचित्पुनरेवमाहुः—तस्या रुक्मिण्या गृहे कोऽप्यतीसारेण पीडितो दुष्प्रभनामा कार्पटिकः, किञ्चिद्विविक्तं स्थानं याचि[ता स्थि]तवान्, स चातीसारेण मांसखण्डानि व्युत्सृजति, मार्जारहृते मांसे तान्येव खण्डानि सज्जितानि, तच्च मृतसपत्नीपुत्रेणोग्रतेजसो जातेन गुणमित्रेण ददृशे, न च तदानीं भयात् किमपि कथितम्, भोजनावसरे द्वावपि पितृपितृव्यौ तेन करे कृत्वा निवारितौ, प्रोक्तश्च मांसवृत्तान्तः, तत उग्रतेजसा रुक्मिणी निर्भर्त्सिता, त्यक्तं तन्मांसम्, द्वितीयगाथार्थस्त्वयं—केचिद्भणन्ति पथिके पथिकस्य उट्ठाणे—अतीसारोत्थाने मांसपेशी-

आधाकर्मणि वान्तानादाने उग्रतेजस-उदा० ।

व्युत्सर्जन, मांसपेशीरादाय तासां सम्भृत्य–वेसवारेणोपस्कृत्य परिवेषणे कृते सुतः करेण गृहीत्वा तौ पितृपितृव्यौ भोजनाय वारयति स्म, ततो यथा पुरीषमांसमभोज्यं विवेकिनामेवमाधाकर्मापि ॥ १९२–१९३ ॥ किञ्च—

अविलाकरहीखीरं ल्हसण पलण्डू सुरा य गोमंस। वेयसमएवि अमयं किंचि अभोज्ज अपिज्जं च ॥१९४॥

अविला–ऊरणी करभी उष्ट्री तयोः क्षीरं, तथा लशुन पलाण्डु सुरा गोमांसं च यथा वेदे–अन्यसमयेऽपि अमत–असम्मतं अनभीष्ट भोजने पाने च तथा जिनशासने किञ्चित् आधाकर्मिकादिरूपमभोज्यमपेयं च ज्ञेयम् ॥ १९४ ॥ अथ तत्स्पृष्टस्याकल्प्यतामाह—

वन्नाइजुयावि वली सपललफलसेहरा असुइनत्था। असुइस्स विप्पुसेणावि जह छिक्काओ अभोज्जाओ १९५

यथा वर्णादियुतोऽपि बलिः–उपहारः सपललफलशेखरः–इह पलल तिलक्षोद उच्यते, फल–नालिकेरादि, अशुचिन्यस्तः, तथा अशुचिना विप्रुस्पर्शेनापि, [अथ] अशुचेः पदार्थस्य विस्पर्शेनापि स्पृष्टोऽभोज्यो भवति, तथाऽऽधाकर्मस्पृष्टमपीति ॥ १९५ ॥ अथ भाजनस्थितस्याकल्प्यतामाह—

एमेव उज्झियंमिवि आहाकम्मंमि अकयए कप्पे। होइ अभोज्जं भाणे जत्थ व सुद्धेऽवि तं पडियं ॥१९६॥

यथाऽऽधाकर्मावयवेन सस्पृष्टमभोज्यमेव यस्मिन् भाजने तदाधाकर्मगृहीतं तस्मिन्नाधाकर्मण्युज्झितेऽपि अकृतकल्पे वक्ष्यमाणन्यायेन कल्पत्रयेणाप्रक्षालितेऽपि ज्ञेयम्, यद्वा यत्र भाजने पूर्वं शुद्धेऽपि भक्ते गृहीते तदाधाकर्मस्तोकमात्रं पतित

तत्स्पृष्टस्य भाजनस्थितस्य चाकल्प्यता।

तत्रापि भाजने पूर्वशुद्धाहारे आधाकर्म्मणि च सर्वात्मना च त्यक्ते कल्पत्रयाभावेऽभोज्यमेवेति ॥१९६॥ अथ परिहरणमाह—

वंतुच्चारसरिच्छं कम्मं सोउमवि कोविओ भीओ। परिहरइ सावि य दुहा विहिअविहीए य परिहरणा१९७

वान्तोच्चारसदृशं कर्म्म—आधाकर्म्म श्रुत्वा 'अपि' सम्भावने 'कोविदः' पण्डितो भीतः सन् परिहरति, सा परिहरणा विधिना अविधिना च द्विधा स्यात् ॥ १९७ ॥ अथाविधिपरिहारे कथानकं गाथात्रयेणाह (ह० १२)—

सालीओअणहत्थं दट्ठुं भणई अकोविओ देंति। कत्तो चउत्ति साली वाणि जाणइ पुच्छ तं गंतुं ॥ १९८ ॥

गंतूण आवणं सोवाणियगं पुच्छए कओ साली?। पच्चंते मगहाए गोव्वरगामो तहिं वयइ ॥ १९९ ॥

कम्मासंकाएँ पहं मोत्तुं कंटाहिसावया अदिसिं। छायंपि[वि] वज्जयंतो डज्झइ उण्हेण मुच्छाई ॥ २०० ॥

शालिग्रामे ग्रामणीर्वणिक्, भार्याऽपि ग्रामणीः, अन्यदा भर्त्तरि हट्टं गते भिक्षार्थमटन्नकोविदः साधुस्तद्गृहं प्रविवेश, आनीतश्च ग्रामण्या शाल्योदन इति, साधुना चाधाकर्म्मशङ्कापनोदाय सा पृष्टा, यथा-श्राविके कुतस्त्यः शालिरेष इति ? सा प्रत्युवाच नाहं जाने, वणिग् जानाति, ततो वणिजं विपणौ गत्वा पृच्छ, सोऽपि साधुर्विपणौ गत्वा वणिजं पृष्टवान्—कुतः शालिरिति ?, वणिजाप्युक्तं—मगधजनप्रत्यन्तवर्त्तिनो गोर्ब्बरग्रामादागतः शालिः, ततः स तत्र गन्तुं प्रावर्त्तत, तत्रापि साधुनिमित्तं केनापि श्रावकेणायं पन्था कृतो भविष्यतीत्याधाकर्म्माशङ्कया पन्थानं विमुच्योत्पथेन व्रजति, उत्पथेन च व्रजन्नहिकण्टकश्वापदादिभिरभिद्रूयते, नापि काञ्चन दिशं जानाति, तथाऽऽधाकर्म्मशङ्कया वृक्षच्छायामपि परिहरन् मूर्ध्नि सूर्यकर-

निकरमपावेन तप्यमानो मूर्च्छामगमत्, क्लेशं च महान्तं प्रापेति ॥ १९८-२०० ॥

इय अविहीपरिहरणा नाणाईणं न होइ आभागी। दव्वकुलदेसभावे विहिपरिहरणा इमा तत्थ ॥ २०१ ॥

इति अविधिपरिहरणात् ज्ञानादीनामाभागी न भवति, तस्माद्विधिना परिहरणं कर्त्तव्यम्, तचेद्-द्रव्यकुलदेशभावाना-श्रित्य स्यात् ॥ २०१ ॥ के द्रव्यादीन् गाथाद्वयेनाह—

ओयणसमिइमसत्तुगकुम्मासाई उ होंति दव्वाइं। बहुजणमप्पजणं वा कुलं तु देसो सुरट्ठाई ॥ २०२ ॥

आयरऽणायर भावे सयं व अन्नेण वाऽवि दावणया। एएसिं तु पयाणं चउपयतिपया व भयणा उ ।२०३।

ओदनः समितिमाः माण्डादिकाः सक्तवः कुल्माषाद्या द्रव्याणि, बहुजनमल्पजन वा कुल, देशः सुराष्ट्रादिः, आदरोऽनादरो वा भावे, एतावेव विशेषयति-स्वय-वाऽन्येन-कर्मकरादिना दापन ततो यथासङ्ख्यमादरानादरौ, एतेषां च पदानां भजना-विकल्पना चतुष्पदा त्रिपदा वा स्यात्, यदा चत्वार्यपि द्रव्यादीनि भवन्ति, तदा चतुष्पदा, यदा नादरो नाप्यनादरस्तदा त्रिपदेति ॥ २०२-२०३ ॥ अथ याद्दशेषु द्रव्यादिषु सत्सु पृच्छा याद्दशेषु न पृच्छेत्याह—

अणुचियदेसं दव्वं कुलमप्पं आयरो य तो पुच्छा। बहुएवि नत्थि पुच्छा सदेसदविए अभावेवि ॥ २०४ ॥

अनुचितदेश-देशासम्भवि द्रव्य कुलं चाल्पं आदरश्च दृश्यते, ततः पृच्छा कार्या, स्वदेशभाविनि द्रव्ये बहुके प्रभूतेऽपि पृच्छा नास्ति, परं कुल विलोकनीयमल्पकुलपृच्छा स्यादिति, अभावे-आदररहितत्वे नास्ति पृच्छा ॥ २०४ ॥ अथ

आधाकर्मणि पृच्छोचिता द्रव्याद्याः।

पृच्छायां कृतायां यद्भवति तदाह—

तुज्झट्ठाए कयमिणमन्नोऽन्नमवेक्खए य सविलक्खं । वज्जंति गाढरुट्ठा का भे तत्तित्ति वा गिण्हे ॥२०५॥

यदा कापि दात्री ऋजुतया युष्मदर्थायेदं कृतमिति वक्ति, अथवा मायाविकुडुम्बं तन्मुखेनैवमाचष्टे–गृहार्थमेतत् कृतं न तवार्थायेति, परं ज्ञाता वयमिति सविलक्षं सर्वाण्यपि मानुषाणि परस्परमवेक्षन्ते, चकाराद्धसन्ति च तदा साधवस्तद्देयमाधाकर्मेति ज्ञात्वा वर्जयन्ति, यदा दात्री पृष्टे सति गाढं रुष्टा भवति, यथा हे तापस ! तव का तृप्तिरिति तदा शङ्कापरिहारेण गृह्णति ॥ २०५ ॥ अथ " गहियमदोसं चे "ति पञ्चमद्वारमाह—

गूढायारा न करेंति आयरं पुच्छियावि न कहेंति । थोवंति व नो पुट्ठा तं च असुद्धं कहं तत्थ ? ॥ २०६ ॥

ये गूढाचारा-गुप्तस्वभावा न कुर्वन्त्यादरं, पृष्टा अपि न कथयन्ति, स्तोकमिति साधुना न पृष्टाः तच्च देयवस्तु अशुद्धं तत्र साधोः कथं शुद्धिर्भविष्यतीति ? ॥ २०६ ॥ शिष्येण पृष्टे गुरुराह—

आहाकम्मपरिणओ फासुयभोईवि बंधओ होइ । सुद्धं गवेसमाणो आहाकम्मेवि सो सुद्धो ॥ २०७ ॥

प्रासुकभोज्येऽपि आधाकर्मपरिणतः कर्म्मणां बन्धको भवति, शुद्धं गवेषयन् आधाकर्मण्यपि गृहीते स शुद्धः स्यादिति, ॥ २०७ ॥ एतदेव कथानकाभ्यां भावयति—

संघुद्दिट्ठं सोउं एइ दुयं कोइ भाइए पत्तो । दिन्नंति देहि मज्झंति गाउ साउं तओ लग्गो ॥ २०८ ॥

शुद्धाहार-ग्रासावपि दोष-दर्शिका कथा ।

(ह० १४) शतमुखनगरे गुणचन्द्रः श्रावको महान्त जिनमन्दिरं कारयित्वा युगादिजिनप्रतिमां प्रतिष्ठापितवान्, ततः सङ्घभोज्यं दापयितुमारब्धम् । इतश्चासन्नग्रामे कोऽपि द्रव्यलिङ्गधारी साधुः, तेन शुश्रुवे, यथा-गुणचन्द्रः सङ्घभोज्य दत्ते, ततः स तत्रायपौ, सङ्घभक्त च सर्वं दत्त, तेन च श्रेष्ठी याचितो, यथा-मम देहि, श्रेष्ठिना च चन्द्रिकाभ्यधायि देहि साधवे भक्तमिति, सोवाच-दत्तं सर्वं न किमपीदानीं वर्त्तते, ततः श्रेष्ठी प्राह-मम रसवतीमध्यादेहि, ततः साऽदात्, साधुश्च सङ्घभक्तमिति बुद्ध्या परिगृह्य स्वोपाश्रये भुक्तवान्, ततः शुद्धमपि भुञ्जान आधाकर्मग्रहणपरिणामवशादाधाकर्मपरिभोगजनितेन कर्म्मणा बद्ध इति एवमन्योऽपि, घर्म्मं शृणु, नवरं देहि मज्झंति गाहत्ति भार्यया दत्तमित्युक्ते श्रेष्ठी भणति, देहि मम मध्यात्-मदीयभोजनमध्यात्, दत्ते च साधु मिदमिद सङ्घभक्तमिति भुञ्जानो विचिन्तयति, ततो लग्न-आधाकर्मपरिभोगकर्म्मणा बद्धः ॥ २०८ ॥ " सुद्ध गवेसमाणो " इति कथानकेन भावयति—

मासियपारणगट्ठा गमणं आसन्नगामगे खमगे । सड्ढी पायसकरणं कयाइ अज्जेज्जिही खमओ ॥२०९॥

खेल्लगमल्लगलेच्छारियाणि डिंभग निभच्छणं च रुंटणया । हदि समणाचि पायस घयगुलजुय जावणट्ठाए

एगंतमवक्कमणं जइ साहू इज्ज होज्ज तिन्नोमि । तणुकोट्ठंमि अमुच्छा भुत्तामि य केवलं नाणं ॥ २११ ॥

गाथात्रय । (ह० १५) पोतनपुरे पञ्चशतसाधुपरिवृताः श्रीरत्नाकरसूरयः समेता., तेषां मध्ये प्रियङ्करो नाम क्षपको मासोपवासी पारणे चान्यग्रामेऽज्ञातभिक्षायां याति, अथान्यदा पारणाय कापि ग्रामे जगाम, तत्र यशोमतिर्नाम श्राविका,

तथा च जनश्रुत्या पारण(क)दिनं ज्ञात्वा साधुः कदाऽप्यत्रायातीति बुद्ध्या पायसं संस्कृतं, ततः साधोरशुद्धदोषपरिहारावगत्यै वटादिपत्रैः कृतेषु शरावाकारेषु डिम्भयोग्या स्तोका क्षैरेयी क्षिप्ता, उक्तं च तेषां, यथा—रे बालकाः! यदा क्षपकः साधुः समायाति तदा युष्माभिरिति वाच्यं, हे अम्ब! प्रभूतास्माकं क्षैरेयी परिवेषिता न शक्नुमो मोक्तुं, एवमुक्तेऽहं युष्मान्निर्भर्त्सयिष्यामि, ततो भवद्भिः कथनीयं किं दिने २ पायसमुपस्क्रियते?, एवं बालकेषु शिक्षितेषु साधुरागतः, श्राविकापि कुटिलधियाऽऽदरं न कुर्वतीति, यथास्वभावमवतिष्ठते, बालकैर्यथाशिक्षितं चक्रे, ततस्तया सरुषेव साधुर्भणे, यथाऽमी बालाः पायसमपि नेच्छन्ति, ततो यदि युष्मभ्यं रोचते तर्हि गृह्णीत पायसं, नो चेत् व्रजतेति, ततः साधुना निःशङ्केन तद् गृहीतं, साधुर्निवृत्तो वृक्षाधः पारणार्थमुपविष्टश्चिन्तयति, अहो लब्धमुत्कृष्टं, यदि कोऽपि साधुर्मां संविभागयति तदा धन्यमित्याद्यन्यसाधून् स्तुवन्नात्मानं च निन्दन् भुञ्जानोऽपि मूर्च्छारहितो भोजनावसाने केवलज्ञानं प्राप्तः। सूत्रं सुगमम्, परं 'खल्लग'त्ति, मल्लकं-शरावं तदाकाराणि यानि खल्लकानि वटादिपत्रकृतभाजनानि तानि लिच्छारीमाणि डिम्भकयोग्यस्तोक २ पायसप्रक्षेपेण खरण्टितानि रुण्टणया इति-अवज्ञाया 'हन्दी'त्यामन्त्रणे भो श्रमण! यदि रोचते तदा गृहाणेतिशेषः, ततः शरीरयापनाय घृतगुडयुतं पायसं गृहीत्वा एकान्तेऽवक्रमणं, शेषं सुगमम् ॥ २०९–२११ ॥ अत्र च भगवदाज्ञैव प्रमाणमिति दृष्टान्तेन तां स्थापयति—

चंदोदयं च सूरोदयं च रन्नो उ दोन्नि उज्जाणा। तेसिं विवरियगमणे आणा कोवो तओ दंडो ॥ २१२ ॥

सूरोदय गच्छमहं पभाए चंदोदयं जंतु तणाइहारा। दुट्ठा रवी पच्चुरसंति काउं रायावि चंदोदयमेव गच्छे
पत्तलदुमसालगया दुच्छासु निवंगणत्तिदुच्चित्ता। उज्जाणपालएहिं गहिया य हया य बद्धा य ॥ २१४ ॥
सहस पइट्ठा दिट्ठा इयरेहिं निवंगणत्ति तो बद्धा। निंतस्स य अवरण्हे दंसणमुभओ वहविसग्गा ॥२१५॥

(इ० १६) 'चन्द्राननापुर्यां चन्द्रावतंसकराज्ञस्त्रिलोकरेखाप्रमुखा अन्तःपुरिकाः, राज्ञो द्वे उद्याने, पूर्वस्यां सूर्योदयं पश्चिमायां चन्द्रोदयमिति, अन्यदा वसन्तमासे नृपः क्रीडार्थं पुरीमध्ये पटहोद्घोषणं कारितवान्, यथा-भो! शृणुत जनाः! प्रातः सूर्योदयोद्यानेऽन्तःपुरीभिः सह यथेच्छं राजा विहरिष्यते, ततो मा तत्र कोऽपि यासीत्, सर्वेऽपि तृणकाष्ठाहारादय चन्द्रोदयं गच्छन्त्विति, पटहदापनानन्तरं सूर्योदयरक्षणार्थं पदातयः प्रेषिताः, राजा च निशि चिन्तयामास। सूर्योदये गच्छतामपि प्रभाते सूर्यः प्रत्युरसं स्यात्, ततः प्रतिनिवर्तमानानामपि मध्याह्ने प्रत्युरसं च सूर्यो दुःखावहः, तस्माच्चन्द्रोदयं गमिष्यामीति, इति चिन्तयित्वा प्रातस्तथैव कृतवान्। इतश्च केचिदपि लोकैश्चिन्ति, यदस्माभिर्नृपान्तःपुरिकाः कदापि न दृष्टाः, तत् प्रातः प्रच्छन्नवृत्त्या सूर्योदये राजानं सान्तःपुरिकं क्रीडन्तं पश्यामः इति बुद्ध्या तत्र गताः, आरक्षकैर्दृष्टाः, गृहीता बद्धाश्च, ये चान्ये तृणहारादयस्ते चन्द्रोदयं गतास्तैश्च सहसा प्रविष्टैर्दृष्टा राज्ञोऽन्तःपुरिकाः, तेऽपि राजपुरुषैर्बद्धाः, ततो नगराभिमुखं याति, नरेश्च राज्ञो द्वये(द्वाव)ऽपि निवेदिता(तौ)ः, कथितश्च वृत्तान्तस्तैः, ये आज्ञाभङ्गकारिणस्ते विनाशिताः, इतरे मुक्ताः। पत्र सुगमं, नवरं 'तओ बद्ध'त्ति, बन्धो-मरणं 'पच्चुरस'ति प्रत्युरस उरसः सम्मुखं 'निंतस्स

आधाकर्मणि परिणामप्राधान्यं, चन्द्रसूर्योद्यानोदाह०।

य 'त्ति, उद्यानादपराह्णे निर्गतो राज्ञ उभयेषां दर्शनं, ततो यथाक्रमं वधविसर्गौ, " दिट्ठंता तत्थिमो दुन्नि " समर्थितम् ॥ ॥ २१२-२१५ ॥ दार्ष्टान्तिकयोजनमाह—

जह ते दंसणकंखी अपूरिइच्छा विणासिया रण्णा। दिट्ठेऽवियरे मुक्का एमेव इहं समोयारो ॥ २१६ ॥

यथा–ते दर्शनकाङ्क्षिणः अपूरितेच्छा अपि आज्ञाभङ्गकारिण इति राज्ञा विनाशिताः, इतरे दृष्टेऽप्यन्तःपुरे आज्ञाकारित्वान्मुक्ता एवेति, एवमिहाप्याधाकर्म्मणि समवतारो–योजना कार्या, सा च सुगमा ॥२१६॥ भूय आधाकर्म्मभोजनं निन्दति–

आहाकम्मं भुंजइ न पडिक्कमए य तस्स ठाणस्स। एमेव अडइ बोडो लुक्कविलुक्को जह कवोडो ॥२१७॥

य आधाकर्म्म भुङ्क्ते न च तस्मात् स्थानात् प्रतिक्रामति–प्रायश्चित्तग्रहणेन निवर्त्तते, स बोडो–मुण्ड इति अधिक्षेपवाक्यं, एवमेव निष्फलमेव, अटति-जगति भ्रमति, दृष्टान्तमाह, यथा–कपोतः–पक्षिविशेषो लुक्कविलुक्को–लुञ्चितविलुञ्चित इति, तत्र सामान्यतो लुञ्चनं विच्छित्त्या विलुञ्चनं, यथा कपोतस्य लुञ्चनं अटनं च न धर्माय तथा साधोरप्याधाकर्म्मभोजिन इत्यर्थः ॥ २१७ ॥

आहाकम्मद्दारं भणियमियाणिं पुरा समुद्दिट्ठं। उद्देसियंति वोच्छं समासओ तं दुहा होइ ॥ २१८ ॥

भणितमाधाकर्म्मद्वारं, इदानीं पुरा पूर्वमौद्देशिकमिति यत्तद्द्वारं समुद्दिष्टं तत् वक्ष्ये ॥ २१८ ॥ तच्च समासतो द्विधा, तदेवाह—

ओहेण विभागेण य ओहे ठप्पं तु बारस विभागे। उद्दिट्ठ कडे कम्मे एक्केक्कि चउक्कओ भेओ॥ २१९ ॥

ओघेन–सामान्येन विभागेन–विशेषेण च द्विधौद्देशिकमिति, तत्र ओघे स्थाप्यं, नात्र व्याख्येयम्, पुरो व्याख्यास्यत इति भावः, विभागे द्वादशधा औद्देशिकं भवति, तदेवाह–'उद्दिट्ठे' त्यादि, प्रथमतस्त्रिधा विभागौद्देशिकं, तद्यथा–उद्दिष्टं कृतं कर्म्म च, तत्र स्वार्थनिष्पन्नमशनादि यद् भिक्षाचराणां दानाय उद्दिश्यते–कल्प्यते तदुद्दिष्टं, अनेनान्वर्थोऽपि सूचित इति, यदुद्धरितं शाल्योदनादिकरम्बादिरूपतया कृतं तत् कृतमुच्यते, यत्पुनर्विवाहादौ मोदकचूर्णाद्युद्धरितं तद् भिक्षाचराणां दानाय भूयोऽपि मोदकादिकृतं तत्कर्म्मेत्यभिधीयते, एकैकस्मिन्नुद्दिष्टादिके भेदे चतुष्कश्चतुःसङ्ख्यो भेदो भवति, त्रयश्चतुर्भिर्गुणिता द्वादश भवन्ति ॥ २१९ ॥ अथौघौद्देशिकस्य पूर्वं स्थाप्यतया उक्तस्य सम्भवमाह–प्रसङ्गस्य विभिन्नगतेः—

जीवासु कहवि ओमे नियय भिक्खावि कइवई देमो। हदि हु नत्थि अदिन्नं भुज्जइ अकयं न य फलेई ॥

[illegible] दुर्भिक्षानन्तरं केचिद् गृहस्था एव चिन्तयन्ति; कथमपि–महता कष्टेन जीविता, अवमे–दुर्भिक्षे ततो नियत कतिपया भिक्षा दद्मो, यतो हु–निश्चित हन्दीति स्वसम्बोधने नास्त्येतद् यदुत [illegible] [illegible] जन्मनि भवान्तरे भुज्यते, नापीह भवे अकृतं शुभं कर्म्म परलोके फलति, तस्मात् परलोकाय कतिपयभिक्षाप्रदानेन शुभं कर्म्मोपार्जयाम इत्योघौद्देशिकसम्भवः ॥ २२० ॥ अथौघौद्देशिकस्वरूपमाह—

सा उ अविसेसिय च्चिय मियंमि भत्तंमि तंडुले छुहइ। पासंडीण गिहीण व जो एहिइ तस्स भिक्खट्ठा ॥

औद्देशिकं द्वादशधा विभागौद्देशिकः, ओघौद्देशिकस्वरूपम्।

सा तु गृहनायिका योषित् प्रतिदिवसं यावत् प्रमाणं भक्तं पच्यते, तावत् प्रमाण एव भक्ते पक्तुमारभ्यमाने पाखण्डिनां गृहिणां वा मध्ये यः कोऽपि समागमिष्यति तस्य भिक्षार्थं अविशेषितमेव, एतावत् स्वार्थमेतावद्भिक्षादानार्थमिति विभागरहितमेव तन्दुलानधिकतरान् प्रक्षिपति, एतदोघौद्देशिकम् ॥ २२१ ॥ अत्र पूर्वपक्षं परस्याशङ्कयोत्तरमाह—

छउमत्थोघुद्देसं कहं वियाणाइ चोइए भणइ । उवउत्तो गुरु एवं गिहत्थसद्दाइचिट्ठाए ॥ २२२ ॥

छद्मस्थः कथमोघौद्देशिकं पूर्वोक्तस्वरूपं विजानाति ?, एवं प्रेरितो गुरुर्भणति, एवं वक्ष्यमाणन्यायेन गृहस्थशब्दादिचेष्टायामुपयुक्तो दत्तावधानो जानाति ॥ २२२ ॥ एतदेवाह—

दिन्नाउ ताउ पंचवि रेहाउ करेइ देइ व गणंति । देहि इओ मा य इओ अवणेह य एत्तिया भिक्खा ।२२३।

यदि पूर्वसङ्कल्पः कृतो भवति तदेवं गृहस्थानां चेष्टाविशेषा भवेयुः, यथा—कापि गृहे साधोः शृण्वत एव भर्त्रा पृष्टा पत्नी कथयति, ताः प्रतिदिवसं कल्पिताः पञ्चाऽपि भिक्षा अन्यभिक्षाचरेभ्यो दत्ताः, यद्वा भिक्षां ददती दत्तभिक्षापरिगणनाय भित्त्यादिषु रेखाः करोति, अथ प्रथमेयं द्वितीयेयं भिक्षेत्येवं गणयन्ती ददाति, अथवा काचित् कस्या अपि सन्मुखमेवं भणन्ति, यथा अस्मादुद्दिष्टदत्तिसत्कपिटकादेर्मध्याद्देहि मा इत इति, अथवा काचित् कां प्रत्याह अपनय—पृथक् कुरु विवक्षितस्थानादेतावतीभिंक्षा भिक्षाचरदानयोग्या इति, तत इत्यादि प्रकारैरोघौद्देशिकं ज्ञातुं शक्यते, ज्ञात्वा च परिह्रियते ॥ २२३ ॥ एतच्चोपयुक्तत्वेनैव ज्ञायते, इति सामान्यत उपयुक्ततां वक्ति—

सद्दाइएसु साहू मुच्छं न करेज्ज गोयरगओ य। एसणजुत्तो होज्जा गोणीवच्छो गवत्तिव ॥ २२४ ॥

साधुर्गोचर गतः शब्दादिषु मूर्च्छां न कुर्यात्, एषणायुक्तो भवेत् यथा–गोवत्सेण 'गवत्तिव'त्ति ॥ २२४ ॥ गाथाद्वयेन भावयति (द० १७)—

ऊसव मंडणवग्गा न पाणियं वच्छए न या चारिं। वणियागम अवरण्हे वच्छगरडणं खरंटणया ॥२२५॥
पंचविह विसयसोक्खक्खणी वहू समहिय गिहं तं तु। न गणेइ गोणिवच्छो मुच्छिय गढिओ गवत्तंमि ॥

गुणालयनगरे सागरदत्तश्रेष्ठी, तस्य भार्या श्रीमती नाम्नी, श्रेष्ठिना च नवीनं धवलगृहं कारितं जीर्णं स्फेटयित्वा, तस्य चत्वारस्तनयाः–गुणचन्द्रो गुणसेनो गुणचूडो गुणशेखरश्च, तेषां च क्रमेण इमास्तत्तो वध्वः–प्रियङ्गुलतिका प्रियङ्गुरुचिका प्रियङ्गुसुन्दरी प्रियङ्गुसारिका चेति, कालेन श्रेष्ठिनो भार्या मृत्युं प्राप्ता, श्रेष्ठिना प्रियङ्गुलतिका सर्वगृहसारार्थं स्थापिता, गृहे च सवत्सा गौर्विद्यते, गौर्दिवसे चहिर्गत्वा चरति, वत्सस्तु गृहमध्योऽवतिष्ठते, तस्य चारिं पानीयं च चतस्रोऽपि वध्वो यथायोग प्रयच्छन्ति। अन्यदा गुणचन्द्रप्रियङ्गुलतिकापुत्रस्य गुणसागरस्य विवाहदिवस उपतस्थे, ततस्ताः सर्वा अपि वध्वस्तस्मिन् दिने सविशेषमाभरणविभूषिताः स्वपरमण्डनादिकरणव्यापृता अभूवन्, वत्सश्च तासां विस्मृतिं गतः, न कयापि तस्मै पानीयादि ढौकितं, मध्याह्ने श्रेष्ठी तत्रैव समेतो, वत्सेनापि श्रेष्ठ्यागमने रटितुमारब्धं, ज्ञातश्चायं बुभुक्षितः, कुपितेन श्रेष्ठिना सर्वा अपि पुत्रवध्वो निर्भर्त्सिताः, ततस्ताभिश्चारिं पानीयं च गृहीत्वा तदग्रे ढौकितं, वत्सश्च ताभिः सुर-

औदेशिके एषणोपयोगे गोवत्सोदा०।

सुन्दरीमिरिव समलङ्कृतं गृहं वधूञ्च, सरागदृष्ट्या न विलोकयति, किन्तु केवलां तां चारिं पानीयं च समानीयमानं विभावयति। सूत्रं सुगमम्, किन्तु 'पंचविहे'त्यादि, पञ्चविधविषयसौख्यखनय इव या वध्वस्ताभिः समधिकमतिशयेन रमणीयं, तद्गृहं न गणयति, न दृष्ट्या परिभावयति, नापि ता वधूः, एवं साधुरपि भिक्षार्थं प्रविष्टो नालोकते रूपादि, भिक्षामेव परिभावयतीत्युपयुक्तम् [ता], तथा च जानाति शुद्धमशुद्धं वा ॥ २२५–२२६ ॥ तदेवाह—

गमणागमणुक्खेवे भासिय सोयाइइंदियाउत्तो। एसणमणेसणं वा तह जाणइ तम्मणो समणो ॥२२७॥

गमनमागमनं च दात्र्या उत्क्षेपो–भाजनादीनामुत्पाटनं भाषितं–जल्पितं 'इंदियाउत्तो' इत्यादि, श्रोत्रादीन्द्रियानि तैरुपयुक्तः, तथा वत्स इव तन्मनाः श्रमण एषणामनेषणां वा जानाति ॥ २२७ ॥ अथ विभागोद्देशिकमाह—

महईए संखडीए उवरिय कूरवंजणाईयं। पउरं दट्ठूण गिही भणइ इमं देहि पुण्णट्ठा ॥ २२८ ॥

महत्यां सङ्खड्यां विवाहादिप्रकरणे उद्धरितं कूरव्यञ्जनादिकं प्रचुरं धान्यं दृष्ट्वा गृही भणति, कमप्युद्दिश्य इदं भक्तं पुण्यार्थं भिक्षाचरेभ्यो देहीति। उद्दिष्टादिस्वरूपं पूर्वं कथितमेव ॥ २२८ ॥ भाष्यम्—

तत्थ विभागुद्देसियमेवं संभवइ पुव्वमुद्दिट्ठं। सीसगणाहियट्ठाए तं चेव विभागओ भणइ ॥भा.२३॥

तत्रोद्धरिते कूरादौ विभागौद्देशिकं एवं पूर्वोक्तन्यायेन पूर्वमुद्दिष्टं सम्भवन्ति, अथ तदेव शिष्यगणहितार्थं विभागतो भेदेन भणति ग्रन्थकारः—॥ २३ ॥

उद्देसियं समुद्देसियं च आएसियं समाएसं। एव कडे य कम्मे एक्केकि चउक्कओ भेओ ॥ २२९ ॥

उद्दिष्टं-विभागौद्देशिकं चतुर्द्धा, तथाहि-उद्देशिकं समुद्देशिकं आदेशं समादेशं च, एवं कृते कर्म्मणि च एकैकस्मिन् चतुःसङ्ख्यो भेदो ज्ञेय इति द्वादशधा ॥ २२९ ॥ अथ भेदचतुष्टयं व्याख्यानयति—

जावंतियमुद्देसं पासंडीण भवे समुद्देसं। समणाण आएसं निग्गंथाणं समाएसं ॥ २३० ॥

उद्दिष्टं कृतं कर्म्म वा यावन्तो भिक्षाचरा गृहिणो वा समेष्यन्ति तेभ्यो देयमिति सङ्कल्पे औद्देशिकं भवति, पाखण्डिनां कल्पितं समुद्देशं, श्रमणानामादेशं, निर्ग्रन्थानां समादेशम् ॥ २३० ॥ अथ भेदान्तरानाह—

छिन्नमछिन्न दुविहं दव्वे खेत्ते य काल भावे य। निप्फाइयनिप्फन्नं नायव्वं जं जहिं कमइ ॥ २३१ ॥

इहोद्दिष्टद्देशादिकं प्रत्येकं द्विधा, छिन्नमछिन्नं च, तत्र छिन्न-नियमितं, अच्छिन्नं तु विपरीतं, पुनरपि द्रव्य चतुर्द्धा, द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात्, एवं यथोद्दिष्टमौद्देशादिकं प्रत्येकमष्टधा, एवं निष्पादितनिष्पन्नमिति, निष्पादितेन-गृहिणा स्वार्थं कृतेन निष्पन्नं यत् करम्बादि (मोदकादि) वा, तन्निष्पादितनिष्पन्नमुच्यते, ततो यन्निष्पादितनिष्पन्नं यत्र कृते कर्म्मणि वा क्रामति-घटते, तत् प्रत्येकमौद्देशिकादिभेदभिन्नं छिन्नमच्छिन्नं चेत्यादिना प्रकारेणाष्टधा ज्ञातव्यम् ॥२३१॥ अथामुमेव गाथार्थं व्याख्यानयति-

भत्तुव्वरियं खलु संखडीए तद्दिवसमन्नदिवसे वा। अंतो बहिं च सव्वं सवदिणं देहि अच्छिन्नं ॥ २३२ ॥

खलु सङ्खड्यां भक्तादुद्धरितं, यदोदनादि तपस्मिन् दिवसे वा भार्यादिना दापयति गृहस्वामी, अन्तर्गृहमध्ये बहिर्वा,

विभागौद्देशिकगतावान्तरभेदाः।

अनेन क्षेत्राच्छिन्नमुक्तं, सर्वं इत्यनेन द्रव्याच्छिन्नं सर्वदिनं यावदिति, कालाच्छिन्नमच्छिन्नं-अनवरतं देहि, भावाच्छिन्नं स्वयमूह्यं, यदि तव रोचते वा न वा तदपि देहीति ॥ २३२ ॥ अथ द्रव्यादिच्छिन्नमाह—

देहि इमं मा सेसं अंतो वाहिरगयं व एगयरं । जाव अमुगत्तिवेला अमुगं वेलं च आरब्भ ॥ २३३ ॥

इदं देहि मा शेषमिति, द्रव्यच्छिन्नं, अन्तर्बहिर्वा व्यवस्थितं देहि एकतरमिति क्षेत्रच्छिन्नं, अमुकस्या वेलाया आरभ्य यावदमुका वेला, तावद्देहीति कालच्छिन्नं, भावच्छिन्नं स्वयमूह्यं, यावत्तव रोचते तावद्देहि नाधिकमिति भावच्छिन्नम् ॥ २३३ ॥ अथोद्दिष्टमुद्दिश्य कल्प्याकल्प्यविधिमाह—

दवाईच्छिन्नंपि हु जइ भणई आरओऽवि मा देह । नो कप्पइ छिन्नंपि हु अच्छिन्नकडं परिहरंति ॥ २३४

द्रव्यादिभिश्छिन्नमपि पृथङ्निर्द्धारितमपि हुः-निश्चितं यदि गृहस्वामी आरत एव-देयस्य वस्तुनो नियतावधेर्वागपि भणति, यथा मा इत ऊर्ध्वं कस्मायपि देहीति, तथा सङ्कल्पस्यान्यथा करणात् कल्पते, यदि अच्छिन्नं अनिर्द्धारितं कृतं वर्तते तत् परिहरन्ति, यदा त्वच्छिन्नमपि पश्चादात्मसत्ताकीकृतं दानपरिणामाभावात्तदा तदपि कल्पते ॥ २३४ ॥ अथ सम्प्रदानविभागमधिकृत्य कल्प्याकल्प्यविधिमाह—

अमुगाणंति व दिज्जउ अमुकाणं मित्ति एत्थ उ विभासा । जत्थ जईण विसिट्ठो निद्देसो तं परिहरंति ॥ २३५

अमुकेभ्यो दद्यान्मा अमुकेभ्य इति सम्प्रदानविषयसङ्कल्पे कृतेऽत्र विभाषा ज्ञेया, क्वचित्कल्पते क्वचिन्नेत्याह-यत्र देये

वस्तुनि यतीनामेव विशेषेण निर्देशो भवति, यथा—यतिभ्यो दातव्यमिति तत्परिहरन्ति, नात्र सन्देहः ॥ २३५ ॥

सदिस्संतं जो सुणइ कप्पए तस्स सेसए ठवणा । सकलिय साहणं वा करेंति असुए इमा मेरा ॥ २३६ ॥

भावौ समागते यत्रोद्दिश्यते तत्र 'यः साधुः सन्दिश्यमानमर्थिभ्यो देयमिति सङ्कल्प्यमानं शृणोति, अतस्तत्कल्पते तदेव, दोषाभावात्, तदप्युद्दिष्टौद्देशिकादि, न कृत कर्म च, शेषके न कल्पते, कुत इत्याह—स्थापनादोषात्, तथा अश्रुते शेषसाधुभिरनाकर्णिते इय मर्यादा—यत् सङ्कलिकया एकः सङ्घाटकोऽन्यस्मै कथयति सोऽप्यन्यस्मायित्येव रूपया, 'साहण' कथन करोति ॥ २३६ ॥ अथैवमपि यैः सङ्घाटकैर्न ज्ञात तत्परिज्ञानोपायमाह—

मा एयं देहि इम पुट्ठे सिट्ठमि तं परिहरंति । जं दिन्नं तं दिन्नं मा संपइ देहि गेण्हांति ॥ २३७ ॥

कापि भिक्षां ददती कयापि निषिध्यते—मा एतद्देहि किन्त्विदं, ततः साधुना पृष्टे इद दानाय कल्पितमिद नेति, शिष्टे—कथिते सति साधवस्तत्परिहरन्ति, यदि पुनर्यद्दत्त यद्य मा शेष सम्प्रति दद्यादिति निषिद्धे तद् कल्पते इति कृत्वा गृह्णन्ति, तदेवमुक्तमुद्दिष्टौद्देशिकम् ॥ २३७ ॥ अथ कृतौद्देशिकस्य सम्भवहेतून् स्वरूप चाह—

रसभायणहेउं वा मा कुच्छिहिई सुहं व दाहामि । दहिमाई आयत्तं करेइ कूरं कडं एयं ॥ २३८ ॥

मा काहंति अवण्णं परिक्खालिय व दिज्जइ सुहं तु । वियडेण फाणिएण व निद्धेण समं तु वट्टांति ॥ २३९ ॥

रसेन—दध्यादिना युक्तमिदं भाजनं, तस्मादेतेन दध्यादिना यदुद्धरितं शाल्योदनादि तद् करम्बीकृत्य रिक्तमिदं

कृतौद्देशिकस्य संभव-हेतवः स्वरूपञ्च ।

भाजनं करोमि येनान्यत्प्रयोजनमनेन क्रियते इति रसभाजनहेतोः, यद्वा इदं दध्यादिना अमिश्रं कोथिष्यते (ति), न च कुथितं दातुं शक्यते, तस्मात् कुथनं मा प्राप्नुयादिति बुद्धया, यद्वा दध्यादि सन्मिश्रकेनैव प्रयासेन सुखं दीयते, इत्यादि कारणजातेन दध्याद्यायत्तं-दध्यादिसन्मिश्रं करोति, कूरं-ओदनं एतत् कृतं ज्ञातव्यम्, तथा यदि भिन्नभिन्नमोदकाश्चूर्णीकृता दास्यामि, ततो मे पाखण्डयादयोऽवर्णं-अश्लाघां करिष्यन्ति, यद्वा परिकङ्कलितं-एकत्रपिण्डीकृतं सुखेन दीयते, ततो विकटेन-मद्येन देशविशेषापेक्षमेतद्, यद्वा फाणितेन अबद्धगुडेन, यद्वा स्निग्धेन घृतादिना मोदकचूर्णादि समं वर्त्तयन्ति-पिण्डतया बध्नन्ति । अत्र द्वयोरपि गाथयोः पूर्वार्द्धाभ्यां सम्भवहेतव उक्ताः, उत्तरार्द्धाभ्यां तु स्वरूपम् ॥ २३८-२३९ ॥

अथ कर्मौद्देशिकस्य सम्भवहेतून् स्वरूपञ्चाह—

एमेव य कम्मंमिऽवि उण्हवणे नवरि तत्थ नाणत्तं । तावियविलीणएणं मोयगचुन्नीपुणक्करणं ॥ २४०॥

यथा कृतस्य सम्भवः स्वरूपं चोक्तं तथा कर्म्मण्यपि द्रष्टव्यम्, नवरं तत्र कर्म्मणि नानात्वं-विशेषः, यतस्तापितेन विलीनेन च गुडादिना मोदकचूर्णस्य पुनर्मोदकत्वेन करणं नान्यथा, उपलक्षणत्वादन्यदुक्तमपि तथैव ज्ञेयम् ॥ २४० ॥

अथ कल्प्याकल्प्यविधिमाह—

अमुगंति पुणो रद्धं दाहमकप्पं तमारओ कप्पं । खेत्ते अंतो बाहिं काले सुइवं परेवं वा ॥ २४१ ॥

कोऽपि साधुं भणति, अहममुकं-मोदकचूर्णादि भूयोऽपि राद्धं तुभ्यं दास्यामि, त्वया पुनरागन्तव्यं मद्गृहे,

इत्युक्त्वा यदि तथा कृत्वा ददाति तर्हि न कल्पते, आरतो-भूयः पाकारम्भादर्वाक् पुनः कल्प्य दोषाभावात्, तथा क्षेत्रेऽन्तर्बहिर्वा काले श्वस्तन परतरदिनभव वा अकल्प्यमारतः कल्प्य, अथ भावः-यतो गृहान्तर्बहिर्वा मोदकचूर्णादिक भूय उपस्करिष्यामि कालविवक्षायां अथ श्वः परतरे वा दिने भूयोऽपि पक्ष्यामि तथुम्य दास्यामीत्युक्ते तथैव कृत्वा चेद्ददाति ततो न कल्पते, भूयोऽपि पाकारम्भाद् आरतः कल्पते ॥ २४१ ॥ तथैवाह—

जं जहेव कयं दाहं तं कप्पइ आरओ तहा अकयं। कयपाकमणिट्ठाचि ठियंपि आवत्तियं मोत्तुं ॥ २४२ ॥

यद्द्रव्य यथा वा क्षेत्रादिनिर्धारणेन भूयोऽपि कृत दास्यामीत्युक्ते तथाऽकृतं पाकारम्भादारतोऽर्वाक् कल्पते, तथा कृत तु न कल्पते, अथ कर्म्मौद्देशिकं कृतपाकमारमार्थीकृतमपि यावदर्थिकं मुक्त्वा शेषमनिष्ट-नानुज्ञातं तीर्थंकरगणधरैः, यावदर्थिकं त्वात्मार्थीकृत कल्पते ॥ २४२ ॥ क्वापि—

' उक्काये ' ति गाथा दृश्यते, परं सा वृत्तौ न व्याख्याता, सुगमा च, सम्बन्धश्च न कोऽपि ॥ अथ पूतिद्वारमाह—

२ पूतिदोषे तद्भेदो।

पूतिश्चतुर्धा नामादिभेदात्तत्र भेदद्वय प्राभिव, द्रव्यभावौ चाह—

पूईकम्मं दुविहं दव्वे भावे य होइ नायव्वं। दव्वंमि छगणधम्मिय भावंमि य बायरं सुहुमं ॥ २४३ ॥

द्रव्ये भावे च द्विधा पूतिकर्म्म ज्ञातव्य भवति, द्रव्ये छगणधार्मिको-गोमयोपलक्षितो धार्मिको दृष्टान्तः, भावे पुनर्द्विधा

१ मुद्रितादर्शे नैषा गाथा न च टीका, अतो न सम्पूर्णा लिखिता।

बादरं सूक्ष्मं च ॥ २४३ ॥ अथ द्रव्यपूतिलक्षणमाह—

गंधाइगुणसमिद्धं जं दव्वं असुइगंधदव्वजुयं । पूइत्ति परिहरिज्जइ तं जाणसु दव्वपूइत्ति ॥ २४४ ॥

यत् द्रव्यं गन्धादिगुणविशिष्टमपि अशुचिगन्धद्रव्ययुक्तं पूतिरपवित्रममिति परिह्रियते, तद्द्रव्यपूतिरिति जानीहि ॥२४४॥ अथ गाथाद्वयेन छगणधार्मिकदृष्टान्तं वक्ति—

गोट्ठिनिउत्तो धम्मी सहाएँ आसन्नगोट्ठि भत्ताए । समियसुरवल्लमीसं अजिन्न सन्ना माहिसिपोहो ॥२४५॥

संजायलित्तभत्ते गोट्ठिगगंधोत्ति वल्लवणिआयो । उक्खाणिय अन्न छगणेण लिंपणं दव्वपूई उ ॥ २४६ ॥

(दृ० १८) सम्मिल्लपुरोद्याने माणिभद्रो यक्षः; तत्रान्यदा शीतलकाभिधाने रोगे समुत्पन्ने लोकैरुद्यापनिका यक्षगृहे मानिता वर्षमेकं यावदष्टम्यादिषु तिथिपर्वसु, रोगोपशान्तौ सप्रातिहार्योऽयं यक्ष इति, देवशर्म्माख्यपूजाकृतः कथितः त्वयोद्यापनिकादिने गोमयेनोपलिम्पनं देवकुलाङ्गणे कार्यं, तेन प्रतिपन्नं, अथान्यदोद्यापनिकादिनेऽनुद्गत एव सूर्ये कस्यापि कुटुम्बिनो गोपाटके छगणग्रहणाय पूजाकृज्जगाम, तत्र च केनापि कर्म्मकरेण रात्रौ मण्डकवल्लसुराद्यभ्यवहारतो जाताजीर्णेन पश्चिमरात्रौ तत्रैव गोपाटके क्वचिद्दुर्गन्धमजीर्णं पुरीषं व्युदसर्जि, तस्य चोपरि कथमपि महिषी समागत्य छगणपोहं मुक्तवती, देवशर्म्मणा न ज्ञातमिति पुरीषमिश्रगोमयं गृहीतं, सभायां लिप्तायामुद्यापनिकार्थं मोदकाद्यादाय जनाः समागताः, तावत्तेषामतीवदुर्गन्धे नासाप्रविष्टे जनैर्देवशर्म्मा पृष्टः; तेनोक्तं—न जाने, ततस्तैः सम्यक् परिभावयद्भिरुपलेपनामध्ये

पल्लावयवचा दृष्टाः, सुरा गन्धश्च ज्ञातः, पुरीषमिश्रता च ज्ञाता लोकैः, ततः सर्वं भोजनमशुचीतिकृत्वा त्यक्तं, उपलेपनं धोरखाय नव्यगोमयेनोपलेपनं कारितं, नूतन पाकं-चाप शुक्रम्, मूत्र मुगम, नवर धर्मी-धार्मिकः, संज्ञा-पुरीष, पदुपलेपनं तत्र न्यस्त भोजनादिक द्रव्यपूतिरिति ॥ २४५–२४६ ॥ अथ भावपूतिमाह—

उग्गमकोडिअवयवमित्तेणावि मीसियं सुसुद्धंपि । सुद्धपि कुणइ चरणं पूइं तं भावओ पूइं ॥ २४७ ॥

उद्गमकोटय आधाकर्म्मादिरूपा भेदा, द्विधा–विशोधयोऽविशोधयश्च, तत्रेहाविशुद्धयो ग्राह्यास्तासामविशोधिरूपाणामुद्गमकोटीनामवयवमात्रेणापि मिश्रितमशनादिक सुशुद्धमपि; चरणं शुद्धमपि पूतिं करोति, तदशनादिकं भावपूतिरनेनात्वर्थोऽपि घटित इति ॥ २४७ ॥ अथोद्गमकोटीस्वरूपमाह—

आहाकम्मुद्देसिय मीस तह बायरा य पाहुडिया । पूईं अज्जोयरओ उग्गमकोडी भवे एसा ॥ २४८ ॥

आधाकर्मसकलमौद्देशिक यावदर्थिक मुक्त्वा शेष कर्म्मौद्देशिक मिश्रं बादरा च प्राभृतिका पूति-भावपूतिरध्यवपूरकश्चोत्तरभेदद्वयात्मकः, एषा भवति उद्गमकोटिरविशोधिकोटिरूपा ॥ २४८ ॥ अथ भावपूतिभेदानाह—

बायर सुहुमं भावे उ पूइय सुहुमसुवरि वोच्छामि । उवगरण भत्तपाणे दुविहं पुण बायरं पूइं ॥ २४९ ॥

भावे पाक्षा सूक्ष्माश्चेति द्विधा पूतिः, तत्रत्वानपुंसकनिर्देशः, सूक्ष्मामुपरि वक्ष्ये, बादरा पुनर्द्विधा–उपकरणे भक्तपाने च ॥ २४९ ॥ अथ भक्तपानपूतिं सामान्यत आह—

भावपूतिः तद्भेदाश्च ।

चल्लुक्खलिया डोए दव्वीछूढे य मीसगं पूइं । डाए लोणे हिंगू संकामण फोडणे धूमे ॥ २५० ॥

चुल्ली प्रतीता उखा–स्थाली डोयः–बृहद्दारुहस्तकः, महांश्चट्टुक इति, दर्वी–लघुदारुहस्तकः, एतानि सर्वाण्याधाकर्म्मरूपाणि ज्ञेयानि, एतेषु 'छूढं' ति क्षिप्तं 'मीसगं' ति, एतैः सन्मिश्रं शुद्धमप्यशनादि पूतिर्भवति, तत्र चुल्लयखाभ्यां कृत्वा रन्धनेन यद्वा तत्र स्थापनेन, तथा डायं–शाकं लवणं हिङ्गु च प्रतीतं, एतैराधाकर्म्मिकैः सन्मिश्रं पूतिः, तथा सङ्क्रामणस्फोटनधूमैरपि, तत्र सङ्क्रामणं–आधाकर्म्मखरण्टितभाजने पचनं मोचनं वा, स्फोटनं–आधाकर्म्मणा राजिकादिना संस्कारकरणं धूमो–हिङ्गादिसत्को वघारः ॥ २५० ॥ एनामेव गाथां व्याचिख्यासुः पूर्वमुपकरणशब्दं व्याख्यानयति—

सिज्झंतस्सुवयारं दिज्जंतस्स व करेइ जं दव्वं । तं उक्करणं चुल्ली उक्खा दव्वी य डोयाई ॥ २५१ ॥

यद्द्रव्यं चुल्ल्यादिकं सिद्ध्यतोऽन्यस्य यद्द्रव्यादिकं दीयमानस्य भक्तस्य उपकारं करोति तच्चुल्ल्यादिकमुपकरणं स्यादिति ॥ २५१ ॥ अथ चुल्ल्युखयोः स्थिताशनादेः कल्प्याकल्प्यविधिमाह—

चुल्लुक्खा कम्माई आइमभंगेसु तीसुवि अकप्पं । पडिकुट्ठं तत्थत्थं अन्नत्थगयं अणुन्नायं ॥ २५२ ॥

इह चुल्ल्युखयोः कर्म्मादि चतुर्भङ्गी स्यात्, तथा हि–चुल्ली उखा च द्वे आधाकर्मिके, चुल्ली आधाकर्म्मिकी नोखा, उखा आधाकर्म्मिकी न चुल्ली, नोखा नापि चुल्ली आधाकर्म्मिकीति, तत्रादिमेषु त्रिष्वपि भङ्गेषु रन्धनेनावस्थानमात्रेण वा स्थितमशनाद्यकल्प्यं पूतिदोषात्, अथ तत्रैव विषयविभागेन कल्प्यतामाह–तत्र चुल्ल्यादौ रन्धनेनान्यतो वाऽऽनीय स्था-

पनेन स्थित सत् प्रतिक्रुष्ट-निराकृत, अन्यत्र गतं पुनस्तदेवानुज्ञात तीर्थंकृदादिभिः, परं स्वभावेनान्यत्र नीत न साध्वर्थमिति विशेषः ॥ २५२ ॥ अथ चुल्ल्याद्युपकरणानां पूतिभाव दिदर्शयिषुः " चुल्लुखलिया डोए " इति पूर्वगाथामयव व्याख्यानयति—

पूतावुपकरण-भेद-व्याख्या।

कम्मियकद्दमलिस्सा चुल्ली उक्खा य फड्डगज्जुया उ । उवगरणपूइमेयं डोए दब्बे व एगयरे ॥ २५३ ॥

आधाकर्म्मिककर्दमेन या मिश्रा चुल्ली उखा च कियता शुद्धेन कियताऽऽधाकर्म्मिकेण च निष्पादितेत्यर्थः, ' सा फड्डगज्जुय 'त्ति, आधाकर्म्मिकेन पूता इति, उपकरणपूतिः, तथा 'डोए' त्ति, पदैकदेशन्यायेन डोयस्याग्रभागो ज्ञेयस्तस्मिन्नथ दण्डे एकतरस्मिन्नाधाकर्म्मणि स दारुहस्तकः पूतिर्भवति, इत्य सर्वोपकरणानां भावना कार्या पूतित्वे ॥ २५३ ॥ अथ " दव्वीछूढे " इति व्याख्यानयति—

दव्वीछूढेत्ति जं वुत्तं कम्मदव्वीऍ जं दए । कम्मं घट्टिय सुद्धं तु घट्टए हारपूइयं ॥ २५४ ॥

' दव्वी छूढे ' इति प्रागुक्त, तस्यायमर्थः, आधाकर्म्मिकदर्व्या यत् शुद्धमप्यशनादिक घटयित्वा ददाति तद् ' आहारपूतिः,' सा चेत् दर्व्वी स्थाल्याः सकाशान्निष्काशिता तर्हि स्थाल्याः सत्कं कल्पते, ' सूचनात् सूत्रमि 'ति, यद्वा माभूदाधाकर्म्मिकी दर्व्वी केवलं शुद्धयाऽपि दर्व्या यदि पूर्वमाधाकर्मिकं घटयित्वा–चालयित्वा पश्चादाधाकर्म्मावयवखरण्टितयाऽन्यत् शुद्धमपि घटयित्वा ददाति तदप्याहारपूतिः, अस्यां च दर्व्यां स्थाल्या निष्काशितायामपि शेष स्थालीभक्त न कल्पते,

आधाकर्मावयवमिश्रितत्वात् ॥ २५४ ॥ " डाये " त्याद्युत्तरार्द्धं व्याख्यानयति—

अत्तट्ठिय आयाणे डायं लोणं च कम्म हिंगुं वा । तं भत्तपाणपूई फोडण अन्नं व जं छुहइ ॥ २५५ ॥

संकामेउं कम्मं सिद्धं जं किंचि तत्थ छूढं वा । अंगारभूमि थाली वेसण हेट्ठा मुणीहि धूमो ॥ २५६ ॥

आत्मार्थे आदाने—तक्रादिपाकारम्भकरणरूपे सति यदाधाकर्म्मिकं डायं—शाकं, यद्वा लवणं यद्वा हिङ्गु अन्यद्वा स्फोटनं राजिकाजीरिकादि, ' जं छुभइ ' त्ति, तन्मध्ये क्षेपयति, तत् तक्रादिकं तेन सम्मिश्रं भक्तपानपूतिः, एतेन ' डाए लोणे हिंगू फोडण 'मिति व्याख्यातम्, तथा यस्यां स्थाल्यां राद्धमाधाकर्म्म तद् अन्यत्र सङ्क्रमय्य तस्यामेव स्थाल्यामकृत कल्पत्रयायां यद् आत्मार्थं सिद्धं किञ्चित्, यद्वा तत्र प्रक्षिप्तं तदपि भक्तपानपूतिः, अनेन सङ्क्रामणेति व्याख्यातं, तथा अङ्गारेषु—निर्धूमाग्निरूपेषु वेसने उपलक्षणत्वाद् हिङ्गुजीरकादौ प्रक्षिप्ते सति यो धूम उच्छलति स वेसनाङ्गारे धूम इति ज्ञेयम्, पूर्वगाथायां धूम इत्यस्य पदस्यायमर्थो भावनीय इत्यर्थः, अनेन च धूमेन या व्याप्ता स्थाली तक्रादिकं च तदपि पूतिः, अत्रार्षत्वाद्वेसनादिपदानां व्यस्तन्यासः ॥ २५५—२५६ ॥ अथ सूक्ष्मपूतिमाह—

इंधणधूमेगंधेअवयवमाईहिं सुहुमपूई उ । सुंदरमेयं पूई चोयग भणिए गुरू भणइ ॥ २५७ ॥

इन्धनधूमगन्धाद्यवयवैर्मिश्रं भक्तादिसूक्ष्मपूतिरादिशब्दाद्बाष्पादिपरिग्रहः, इन्धनाद्याधाकर्म्मिकं ज्ञेयम्, एषा च सूक्ष्मपूतिर्नागमेति निषिध्यते ॥ २५७ ॥ ततः शिष्य आह—सुन्दरं युक्तमेतत् पूतिपरिहरणमिति शिष्येण भणिते गुरुर्भणति—

सूक्ष्मपूतेर-
साध्यता।

इंधणधूमेगधेअवयवमाई न पूइयं होइ। जेसिं तु एस पूई सोही नवि विज्जए तेसिं ॥ २५८ ॥

पूर्वार्द्धं प्राग्वित्, येषां तु मते एवं पूतिर्भवति शुद्धिर्न विद्यते ॥ २५८ ॥ तेषां तथैवाह—

इंधनअगणीअवयव धूमो बप्फो य अन्नगंधो य। सव्वं फुसंति लोयं भन्नइ सव्वं तओ पूई ॥२५९॥

इन्धनाग्न्यवयवाः सूक्ष्मा ये धूमेन सहाऽऽश्रयाना गच्छन्ति, तथा धूमो बाष्पोऽन्नगन्धश्च, एते वातादिवशेन सर्वमपि लोकं स्पृशन्ति, ततस्तदभिप्रायेण सर्वमपि वसत्यादिकं पूतिर्भण्यते अतः कथं शुद्धिरिति गुरुवाक्यम् ॥ २५९ ॥ अथ परः स्वपक्षस्थापनमिच्छन्नाह—

नणु सुहुमपूइयस्सा पुव्वुदिट्ठस्सऽसंभवो एवं। इंधणधूमाईहिं तम्हा पूइत्ति सिद्धमिणं ॥ २६० ॥

ननु एव भवद्वाक्येनैव पूर्वोद्दिष्टस्य " भायणम्मि य बायर सुहुम " मित्यादिना पूर्वोक्तस्य सूक्ष्मपूतेः सम्भवः, अन्यथा तदभावात्, तस्मात् सिद्धमिदं यदिन्धनादिधूमादिभिर्मिश्र सूक्ष्मपूतिरिति ॥ २६० ॥ गुरुराह—

चोयग इंधणमाईहिं चउहिवी सुहुमपूइयं होइ। पन्नवणामित्तमिय परिहरणा नत्थि एयस्स ॥२६१॥

हे चोदक! इन्धनादिभिरिन्धनाग्न्यवयवधूमबाष्पगन्धैश्चतुर्भिरपि स्पृष्टं सूक्ष्मपूतिर्भवति, केवलमिदं प्रज्ञापनामात्रं, परिहरणं पुनस्तस्याः सूक्ष्मपूतेर्नास्ति ॥ २६१ ॥ एतदेवाह—

सज्झमसज्झं कज्जं सज्झं साहिज्जए न उ असज्झं। जो उ असज्झं साहइ किलिस्सइ न तं च साहेई ॥२६२

साध्यमसाध्यं च कार्यं द्विधा, तत्र साध्यं साध्यते न त्वसाध्यं, यस्त्वसाध्यं युष्मादृशः साधयति स क्लिश्यते, न च तत्कार्यं साधयति ॥ २६२ ॥ अथ परः सूक्ष्मपूतिपरिहरणं सुकरमिति प्रतिपादयति—

आहाकम्मियभायणपप्फोडण काय अकयए कप्पे। गहियं तु सुहुमपूई धोवणमाईहिं परिहरणा ।२६३।

यत्र भाजने गृहीतमाधाकर्म्म तस्मिन् भाजने आधाकर्म्मपरित्यागानन्तरं प्रस्फोटनं हस्तादिना कृत्वा, अकृते कल्पत्रये यद् गृहीतं तत् सूक्ष्मपूतिर्भवति आधाकर्म्मांशत्वात्, तस्याश्च परिहरणं जलप्रक्षालनादिभिरिति, तदेतदयुक्तं, तत्र बादरपूतिभावात् ॥ २६३ ॥

धोयंपि निरावयवं न होइ आहच्च कम्मगहणंमि। न य अद्दवा उ गुणा भन्नई सुद्धी कओ एवं ? ॥२६४॥

आधाकर्म्मग्रहणे सति तत्परित्यागानन्तरं कदाचित् धौतमपि निरवयवं भाजनं न भवति, पश्चादपि गन्धस्योपलभ्यमानत्वात्, अथ गन्ध एव उपलभ्यते, न कश्चिदवयव इति ब्रूपे, तत आह—न चाद्रव्या गुणा गन्धादयः सम्भवन्ति, तेनावश्यं धौतेऽपि केचिदवयवाः सूक्ष्मा ज्ञेयाः, तत एवमपि भवतु परिकल्पितप्रकारेणापि कुतः सूक्ष्मपूतेः शुद्धिरपि तु नैवेति, ततः प्रज्ञापना मात्रमेवेति स्थितम्, न च गन्धादयो दूरगताः पूतिकारणं स्युः ॥ २६४ ॥ तदेवाह—

लोएवि असुइगंधा विपरिणया दूरओ न दूसंति। न य मारंति परिणया दूरगयाओ(अवि)विसावयवा ॥

लोकेऽपि अशुचिगन्धा दूरत आगता विपरिणताः सन्तः स्पृष्टा अपि न दुष्यन्ति, न च विषावयवा अपि दूरगताः (सन्तः) परिणताः–पर्यायान्तरमापन्ना मारयन्ति, तथाऽऽधाकर्मगन्धाः पुद्गला अपीति ॥२६५॥ अथ द्रव्यपूतिपरिहार्यतामाह—

सेसेहि उ दव्वेहिं जावइय फुसइ तत्तिय पूई । लेवेहिँ तिहि उ पूई कप्पइ कप्पे कए तिगुणे ॥ २६६ ॥

शेषैरिन्धनाद्यवयवव्यतिरिक्तैः शाकलवणादिभिर्यावत् स्थाल्यादिपरिमितं द्रव्यं स्पृष्टं भवति, तावत् प्रमाणं पूतिः, तथा त्रिभिर्लेपैः पूतिः, अयं भावः–स्थाल्यां किलाधाकर्म राद्धं, ततस्तस्या अपनीय अपनीते च तस्मिन् या पाश्चात्या खरण्टिः सा एको लेपः, ततस्तस्यामेव स्थाल्यामकृतकल्पत्रयायां शुद्धं राद्धं पूतिः, एवं वारद्वयमन्यदपि राद्धं पूतिः, अथ गृहिणा-स्वकार्ये यदि कल्पत्रयं स्यात् तर्हि किमित्याह–कप्पे तिगुणे–त्रिसङ्ख्ये कृते तस्यामेव स्थाल्यां शुद्धमशनादि राद्धं कल्पते ॥ २६६ ॥ तथैवाह—

इंधणमाई मोत्तुं चउरो सेसाणि होंति दव्वाइं । तेसिं पुण परिमाणं तयप्पमाणाउ आरब्भ ॥ २६७ ॥

इन्धनावयवादीनि चत्वारि पूर्वोक्तानि मुक्त्वा शेषाणि द्रव्याणि पूतिकारणानि भवन्ति, तेषां च परिमाणं स्वकप्रमाणादारभ्य द्रष्टव्यम्, स्वकमात्रमादौ कृत्वा पूतिकारणत्वं तेषामित्यर्थः ॥ २६७ ॥ अथ साधुपात्रं दातृगृहं चाश्रित्य पूतिविषयं कल्प्याकल्प्यविधिमाह—

पढमदिवसंमि कम्मं तिन्नि उ दिवसाणि पूइयं होइ । पूईसु तिसु न कप्पइ कप्पइ तइओ जया कप्पो ॥

यत्र गृहे प्रथमदिवसे आधाकर्म्मनिष्पन्नं तत् प्रथमदिवसे आधाकर्म्मैव गृहं, त्रीणि दिवसानि तु पूतिः, पूतिदोषवस्तु त्रिषु दिनेषु आधाकर्म्मदिने चैवं चत्वारि दिनानि (न) कल्पते, साधुपात्रे च पूतिभूते यदि तृतीयः कल्पो दत्तो भवति तदाऽन्यच्छुद्धाशनादिकं गृहीतुं कल्पते ॥ २६८ ॥

समणकडाहाकम्मं समणाणं जं कडेण मीसं तु । आहार उवाहि वसही सवं तु पूइयं होइ ॥ २६९ ॥

श्रमणानामर्थाय कृतमाधाकर्म्म आहारोपधिवसत्यादिकं यत्पुनः श्रमणानामर्थाय कृतेन आधाकर्म्मणा मिश्रमाहारादि तत् सर्वं पूतिर्भवति ॥ २६९ ॥ अथ परिज्ञानोपायमाह—

सङ्घस्स थेवदिवसेसु संखडी आसि संघभत्तं वा । पुच्छित्तु निउणपुच्छं संलावाओ वऽगारीणं ॥२७०॥

साधुना गृहमागतेन सङ्खड्यादिकं चिह्नं दृष्ट्वा श्राद्धस्य श्राविकाया वा पार्श्वे निपुणपृच्छं प्रष्टव्यं, यथा—युष्माकं गृहे स्तोकदिवसेषु—स्तोकदिनमध्ये सङ्खडी—वीवाहादिरूपा सङ्घभक्तं (वा) दत्तमासीत् ?, सङ्खड्यां यदि साधुनिमित्तं किमपि कृतं भवेत् तदा पूर्वोक्तदिनपरिमाणेन त्याज्यं, अथवा क्वापि प्रश्नमन्तरेणापि अगारिणीनां संलापात् पूतिरपूतिर्वेति ज्ञातव्यम्, मिथो वर्त्ताकरणात् ॥ २७० ॥ मिश्रजातमाह—

मीसज्जायं जावंतियं च पासंडिसाहुमीसं च । सहसंतरं न कप्पइ कप्पइ कप्पे कए तिगुणे ॥ २७१ ॥

मिश्रजातं त्रिधा—यावदर्थिकं पाखण्डिमिश्रं साधुमिश्रं च, आत्मीयपाकारम्भे एतेषां सङ्कल्पेन मिश्रत्वात्, एतेनान्व-

पूतिज्ञानोपायो मिश्रजातदोषश्च ।

र्थोऽपि घृचित इति, एवच सहस्रान्तरमपि न कल्पते, यथा येन कृत तेनान्यस्मै दत्त तेनाप्यन्यस्मायिति सहस्रान्तरगत-मुच्यते, यस्मिन् भाजने तन्मिश्र गृहीत तस्मिन् मिश्रपरित्यागानन्तरं कल्पे त्रिगुणे कृतेऽन्यच्छुद्ध भक्तादि गृहीतुं कल्पते नान्यथा ॥ २७१ ॥ एनामेव गाथां भाष्यकृद् व्याख्यानयति, पूर्वं मिश्रसम्भवमाह—

दुग्गासे त समइच्छिउं व अद्धाणसीसए जत्ता । सड्ढी बहुभिक्खयरे मीसज्जायं करे कोई ॥ भा. २४ ॥

दुःखेन ग्रासो यत्र तद् दुर्गासं-दुर्भिक्ष तत्र भिक्षाचरसत्त्वानुकम्पया, यद्वा तद् दुर्भिक्ष समतिक्रान्तः कश्चिद् बुभुक्षाकष्ट महत्परिक्षाय यदि वा अध्वशीर्षके-कान्तारादिनिर्गमरूपे खिन्नभिक्षाचरानुकम्पया, यद्वा यात्रादिरूपे उत्सवविशेषे दानश्रद्धया कोऽपि श्राद्धी-श्रद्धावान् बहून् भिक्षाचरानुपलभ्य मिश्रजात करोति ॥ २४ ॥ अथ यावदर्थिकस्य परिज्ञानोपायमाह—

जावंतट्ठा सिद्धं नेयं तं देह कामियं जइण । बहुसु व अपहुप्पंते भणाइ अन्नंपि रंधेह ॥ २७२ ॥

कापि साधवे ददती कयापि निषिध्यते-नेद दीयमान यावदर्थः सिद्धं किन्तु विवक्षितमिति तस्माद्देहि यतिभ्यः कामित-यावद् गृह्णन्ति तावदित्यर्थः, यद्वा प्रचुरेषु भिक्षाचरेषु समागच्छत्सु अग्रेतनप्रमाणे राध्यमाने अप्रभवति-अपूर्यमाणे गृह-नायको भणति, यदा नैतावता भवति तदाऽन्यदपि प्रक्षिप्य राध्नुहि, एव श्रुते यावदर्थिकं ज्ञात्वा परिहर्तव्यम् ॥ २७२ ॥ अथ पाखण्डिसाधुमिश्रे आह—

अत्तट्ठा रंधते पासंडीणंपि बिइयओ भणइ । निग्गंथट्ठा तइओ अत्तट्ठाएऽवि रंधंते ॥ २७३ ॥

४ मिश्र-जातदोष-भेदाः ।

आत्मार्थं राध्यमाने यावदर्थिकमिश्रप्रवर्त्तकापेक्षया द्वितीयो भणति, पाखण्डिनामप्यर्थायाधिकं प्रक्षिपेति, तथाऽऽत्मार्थमेव राध्यमाने तृतीयो ब्रूते निर्ग्रन्थानामप्यर्थायाधिकं प्रक्षिपेति, तत एवं श्रुते पाखण्डिमिश्रसाधुमिश्रे परिज्ञाय त्यक्तव्ये ॥ २७३ ॥ अथ सहस्रान्तरगतमपि न कल्पते इति यदुक्तं तद्दृष्टान्तेनाह—

विसघाइ य पिसियासी मरइ तमन्नोवि खाइउं मरइ । इय पारंपरमरणे अणुमरइ सहस्ससो जाव ॥२७४॥

इह कोऽपि वेधकेन विषेण घातितस्तस्य पिशितं योऽश्नाति सोऽपि म्रियते, तस्यापि मांसं यो भक्षयति सोऽपि म्रियते, एवं परम्परया मरणे यावत् सहस्रश इति ॥ २७४ ॥

एवं मीसज्जायं चरणप्पं हणइ साहु सुविसुद्धं । तम्हा तं नो कप्पइ पुरिससहस्संतरगयंपि ॥ २७५ ॥

एवं सहस्रवेधकविषदृष्टान्तेन मिश्रजातं पुरुषसहस्रान्तरगतमपि साधोः सुविशुद्धं चरणात्मानं हन्ति तस्मान्न कल्पते ॥ २७५ ॥ अथ साधुविषयं विधिमाह—

निच्छोडिए करीसेण वावि उवट्टिए तओ कप्पा । सुक्काविचा गिण्हइ अन्न चउत्थे असुकेऽवि ॥ २७६ ॥

मिश्रे गृहीते त्यक्ते च भाजने निच्छोटिते—अङ्गुल्यादिना निरवयवे कृते, यद्वा करीषेण—शुष्कगोमयरूपेण उद्वर्त्तिते पश्चात्त्रयः कल्पा दीयन्ते, तत आतपे तद्भाजनं शोषयित्वा तस्मिन् भाजने पश्चाच्छुद्धमशनादि गृह्यते, अन्ये त्वेवं कथयन्ति—चतुर्थे कल्पे दत्ते सति अशुष्केऽपि गृह्यते, अयं प्रक्षालनविधिः सर्वत्राप्यविशोधिकोटिग्रहणे ज्ञातव्य इति ॥ २७६ ॥ स्थापनाद्वारमाह—

मिश्रस्याकल्प्यता पात्रस्य कल्पकरणविधिश्च ।

सट्ठाणपरट्ठाणे दुविहं ठवियं तु होई नायव । खीराइ परपरए हत्यगय घरतरं जाव ॥ २७७ ॥

साधुनिमित्त स्थापित द्विधा ज्ञातव्य भवति, स्वस्थाने परस्थाने चेति, एकैक पुनर्द्विधा–अनन्तर परम्पर च, तत्र घृताद्यनन्तरं, क्षीरादि पर, क्षीराद्दधिनवनीतादि परम्परता, हस्तगतभिक्षायां यावद्गृहान्तरं स्थापना गृहत्रयोपयोगसम्भवात्तदूर्ध्वं गृहान्तरमित्यर्थः, एतेनान्वर्थोऽपि कथित एव ॥ २७७ ॥ एनामेव गाथां भाष्यकृद् व्याख्यानयति, अथ स्वस्थानमाह—

चुल्ली अवचुल्लो वा ठाणसठाणं तु भायणं पिढरे । सट्ठाणट्ठाणंमि य भायणठाणे य चउभंगा ॥भा०२५

स्थानं द्विधा–स्वस्थानस्थान भाजनस्थानं चेति, तत्र चुल्ली प्रतीता, अथ अवचुल्लोऽपि उल्हक (अवचुल्हकः) इत्यर्थः, स्वस्थानस्थान स्यात्, भाजनस्थान पिठर–स्थाली, एतेषु स्विन्नमशनादि स्थापनेति, तत्र स्वस्थानस्थाने भाजनस्थाने चत्वारो भङ्गा भवन्ति, तथाहि–चुल्ल्यां स्थापितं पिठरे च १, तथा चुल्ल्यां स्थापित न पिठरे २, न चुल्ल्यां किन्तु पिठरे ३, न चुल्ल्यां नापि पिठरे ४, छब्बकादावन्यत्र स्थापितत्वात् ४ ॥ २५ ॥ अथ परस्थानमाह—

छब्बगवारगमाई होइ परट्ठाणमो वऽणेगविह । सट्ठाणे पिढरे छब्बगे य एमेव दूरे य ॥ २७८ ॥

छब्बकवारकादिकमनेकविध परस्थान भवति, तत्र छब्बक–पटलिकादिरूपं वारको–लघुघटः, आदिशब्दात्पाकभाजनवर्जशेषभाजनपरिग्रहः, अत्रापि स्वस्थानपरस्थानापेक्षया चतुर्भङ्गी, तद्यथा–स्वस्थाने स्वस्थाने, स्वस्थाने परस्थाने, परस्थाने स्वस्थाने, परस्थाने परस्थाने, एतदेवाह–सट्ठाणे त्ति, 'सट्ठाणे पिढरे छब्बगे य' इत्यनेन भङ्गद्वय सूचितम्, तथाहि–

५ स्थापनादोषः तद्भेदाश्च।

स्वस्थाने चुल्ल्यादौ पिठरे च तथा स्वस्थाने चुल्ल्यादौ छब्बके च परस्थाने, 'एमेव दूरं य' त्ति इह दूरं-चुल्ल्यवचुल्लाभ्यां अन्यत्प्रदेशान्तरं, तत्रापि तदपेक्षया एवमेव भङ्गद्वयं ज्ञेयं, तथाहि-भाजनरूपे स्वस्थाने पिठरे परस्थानेऽन्यत्र प्रदेशान्तरे, तथा परस्थानेऽन्यत्र प्रदेशान्तरे, परस्थाने छब्बकादाविति ॥ २७८ ॥ अथ " खीराइ " इत्यादिगाथां व्याख्यानयति—

एक्केकं तु दुविहं अणंतरपरंपरे य नायव्वं । अविकारिकयं दव्वं तं चेव अणंतरं होइ ॥ २७९ ॥

पूर्वार्द्धं सुगमम्, अविकारिकृतं द्रव्यं तदेव अनन्तरं भवति, परम्पराभेदश्च स्वयमूहनीयः ॥ २७९ ॥ अथ विकारीतराणि द्रव्याण्याह—

उच्छुक्खीराईयं विगारि अविगारि घयगुलाईयं । परियावज्जणदोसा ओयणदहिमाइयं चावि ॥२८०॥

इक्षुक्षीरादिकं विकारिद्रव्यं, घृतगुडादिकं त्वविकारि, तथा ओदनदध्यादिकमपि करम्बादिरूपं विकारि, कुत इत्याह—पर्यायापादनदोषात् ॥ २८० ॥ अथ परम्परास्थापितं भावयति—

उब्भट्ठपरिन्नायं अन्नं लद्धं पओयणे घेत्थी । रिणभीया य अगारी ददिहित्ति दाहं सुए ठवणा ॥२८१॥

नवणीय मंथुतक्कं व जाव अत्तट्ठिया व गिण्हंति । देसूणा जाव घयं कुसणंपि य जत्तियं कालं ॥२८२॥

केनापि साधुना क्षीरमभ्यर्थितं, दात्र्या च प्रतिज्ञातं-क्षणान्तरे दास्यामीति, साधुना चान्यत्र लब्धं दात्र्या दुग्धयोगे साधुर्निमन्त्रितः, साधुनोक्तं मयाऽन्यत्र लब्धं पुनः प्रयोजने सति घेत्थी-ग्रहीष्यामि, इत्युक्ते सा आगारिणी ऋणभीतेव स्वयं

नोपभुङ्क्ते, किन्त्वेवं चिन्तयामास, श्वः कल्ये दधि कृत्वा दास्यामीति स्थापयति, ततो द्वितीयदिने साधुना दधिग्रहणे नवनीतं जातं, मस्तु तक्रं च जातं, यावदेतान्यात्मार्थीकृतानि मा गृह्णीयात् साधुः कुटुम्बे भविष्यतीत्येवमात्मसत्ताकीकृतानि साधवो गृह्णन्ति, घृतं त्वात्मार्थीकृतमपि तेजस्कायारम्भादाधाकर्मेति न कल्पते, घृतं च स्थापितं यावद्देशोना पूर्वकोटी तावद् घटते एतावच्चारित्रस्यापि सम्भवात्, इत्थं गुडादिद्रव्यस्यापि, तथा कुसुणितमपि करम्बादिरूपतया कृतमपि यावन्तं कालमविनाशि तावत्कालं तस्य स्थापना पश्चात् कल्पत एवेत्यर्थः ॥ २८१–२८२ ॥ पुनराह—

६ प्राभृतिका-दोषः ।

रस कक्कब पिंडगुला मच्छंडिय खंडसक्कराणं च । होइ परंपरठवणा अन्नत्थ व जुज्जए जस्स ॥२८३॥

केनापि साधुना कोऽपीक्षुरसं याचितः, पूर्वगाथावत्स्थापनायां कक्कबं करोति यावच्छर्करेति, एवं परम्परस्थापना स्यात्, अन्यत्र वा द्रव्यान्तरे यत्र युज्यते–घटते तत्र भाव्येति ॥ २८३ ॥ " इत्थगय " त्ति व्याख्यानयति—

भिक्खग्गाही एगत्थ कुणइ बिइओ उ दोसु उवओगं । तेण परं उक्खित्ता पाहुडिया होइ ठवणा उ ॥२८४॥

भिक्षाग्राही एकत्रोपयोगं करोति द्वितीयस्तु द्वयोर्गृहयोस्तत्र त्रिषु गृहेषु स्थापनादोषो न भवति, गृहत्रयात् परं सान्तर्धूत्पाटिता भिक्षा प्राभृतिका स्थापना भवति ॥ २८४ ॥ अथ प्राभृतिकाद्वारमाह—

पाहुडियावि हु दुविहा बायर सुहुमा य होइ नायव्वा । ओस्सक्कणमुस्सक्कण कव्वट्ठीए समोसरणे ॥२८५॥

बादरा सूक्ष्मा च द्विधा प्राभृतिका ज्ञातव्या भवति, पुनरेकैका द्विधा–अवष्वष्कणेन उत्ष्वष्कणेन, तत्रावष्वष्कणं–अर्वा-

करणं, उत्ष्वष्कणं-परतः करणं, यत् पुरतो ढौक्यते तत्प्राभृतं, ततः प्राभृतमिव प्राभृतं साधुदेयं, ततः प्राभृतमेव प्राभृतिकेत्यन्वर्थः, तत्र बादरप्राभृतिकाविषयमाह—इह समयभाषया कच्छुट्टी-लघ्वी दारिका कथ्यते, तस्या उपलक्षणत्वात् पुत्रादेश्च विवाहस्यावष्वष्कणमुत्ष्वष्कणं वा भवति, समवसरणे-साधुविषये साधुनामागमनं ज्ञात्वा कोऽप्येवं करोति, प्रतिष्ठितलग्नात्पूर्वं पश्चाद्वा साधूनां मोदकादिप्रतिलाभनार्थमित्यर्थः ॥ २८५ ॥ अथापसर्प्पणरूपां सूक्ष्मप्राभृतिकां गाथाद्वयेनाह—

कन्तामि ताव पेलुं तो ते देहामि पुत्त! मा रोव। तं जइ सुणेइ साहू न गच्छए तत्थ आरंभो ॥ भा २६

अन्नट्ठ उट्ठिया वा तुब्भवि देमित्ति किंपि परिहरति। किह दाणि न उट्ठिहिसी ? साहुपभावेण लब्भामो

काचित् कर्त्तयन्ती भोजनं याचमानं बालकं वदति, तावदिदं पेलुं-रूतपूणिकां, कृणन्मीति 'कृदुपवेष्टने' इत्यस्य रौधादिकस्य प्रयोगः, ततः-पश्चात्ते-तुभ्यं दास्यामीति मा रोदीः, अत्रान्तरे यद्यागतः साधुस्तच्छृणोति तर्हि तत्र गृहे न गच्छति, तत्र मा भूत् साधुनिमित्तं आरम्भो बालकभोजन(दानतदनन्तर)हस्तक्षालनादिक इति, अथवा काचिदेवं वदति-अन्यार्थ-अन्यप्रयोजनोत्थिता सती तुभ्यमपि किमपि दास्यामि, इतः साधुस्तच्छ्रुत्वा गृहं परिहरति, तत्रापि प्रागिवारम्भसम्भवात्, अथ तथाभूतगृहस्थावचनानाकर्णनेऽपि साधोः समागते बालको जननीं वदति, कथमिदानीं नोत्थास्यसि ?, समागतो ननु साधुस्ततोऽवश्यमुत्थातव्यम्, तथा च सति साधुप्रभावेन वयमपि लप्स्यामहे, इत्थमपि श्रुत्वा दीयमानं परिहरति ॥२६-२७॥ अथोत्सर्पणरूपां सूक्ष्मप्राभृतिकां गाथाद्वयेनाह—

मा ताव झंख पुत्तय ! परिवाडीए इहेहि सो साहू। एयस्स उट्ठिया त दाह सोउं विवज्जेइ ॥२८६॥
अहवा-अंगुलियाए घेत्तुं कड्डइ कप्पट्ठओ घरं जत्तो। किंति कहिए न गच्छइ पाहुडिया एस सुहुमा उ ॥

काचित्पुत्रमेव भणति—हे पुत्र ! मा तावज्झष—वारं २ रुदस्व, इह परिपाट्या साधुरागमिष्यति, ततस्तस्यार्थमुत्थिता सती तुभ्य दास्यामि, एतदपि श्रुत्वा साधुर्वर्जयति, अथवा जननीवचने तथाविधे बालकेन श्रुते कप्पट्ठओ—बालकस्त साधुमङ्गुल्या गृहीत्वा यातो निजगृहम्, ततः समाकर्षति, किमिति साधुना पृष्टे स यथावस्थित कथयति, कथिते च तत्र न गच्छति साधुः, एषा सूक्ष्मप्राभृतिका ॥ २८६–२८७॥ अथ "कप्पट्ठिए समोसरणे" इति व्याचिख्यासुः पूर्वमवष्वष्कणबादरप्राभृतिकामाह—

पुत्तस्स विवाहदिणं ओसरणे अइच्छिए मुणिय सड्डी। ओसक्कंतोसरणे संखडिपाहेणगदवट्ठा ॥२८८॥

पुत्रस्योपलक्षणत्वात् पुत्रिकायाश्च विवाहदिन अवसरणे—साधुसमुदाये यथाविहारक्रममतिक्रान्तेऽन्यत्र गते सत्युपलिप्यमान ज्ञात्वा अवष्वष्कते, अर्वाग्दिन एव विवाह करोति, किमर्थमित्याह षष्ठीसप्तम्योरभेदात् समवसरणस्य—साधुसमुदायस्य सत्कृतयां प्रहेणक—मोदकादि, द्रव—तन्दुलधावनादि तद्दानार्थम् ॥ २८८ ॥ अथोत्सर्पणरूपां बादरप्राभृतिकामाह—

अप्पत्तमि य ठवियं ओसरणे होहिइत्ति उस्सकणं । त पागडमियरं वा करेइ उज्जू अणुज्जु वा ॥

स्थापित प्रतिष्ठितलग्न अवसरणे—साधुसमुदाये प्राप्त एव—अनागत एव भविष्यतीति, उत्ष्वष्कणमुत्सर्पणं करोति साधुसमागमनकाल एव करोतीत्यर्थः, तां द्विधाऽपि प्राभृतिकां ऋजुः प्रकट करोति, अनृजुरितर—प्रच्छन्नमित्यर्थः ॥ २८९ ॥

बादर-प्राभृतिका-यामवष्व-ष्कणादि ।

अथ किमर्थं बादरप्राभृतिका गृहिणा क्रियत इत्याह—

मङ्गलहेउं पुन्नट्ठया व ओसक्कियं दुहा पगयं। उस्सक्कियंपि किंति य पुट्ठे सिट्ठे विवज्जंति ॥२९०॥

प्रकृतं-विवाहादिकं द्विधा अवष्वष्कितं भवति, साधुदर्शनान्मङ्गलहेतोः पुण्यार्थं वा एवमुत्ष्वष्कितमपि, ततः किमिदमिति साधुना पृष्टे गृहस्थेन यथावस्थिते कथिते तद्विवर्जयन्ति ॥ २९० ॥ ये न वर्जयन्ति तेषां दोषमाह—

पाहुडिभत्तं भुञ्जइ न पडिक्कमए अ तस्स ठाणस्स। एमेव अडइ बोडो लुक्कविलुक्को जह कवोडो ॥

यः प्राभृतिकाभक्तं भुङ्क्ते न च तस्मात् प्राभृतिकापरिभोगस्थानात् प्रतिक्रामति, स बोडो-मुण्ड एवमेव निष्फलमटति, यथा लुञ्चितविलुञ्चितकपोत इति ॥ २९१ ॥ अथ गाथा षट्केन प्रादुष्करणद्वारसम्भवमाह—

लोयाविरलुत्तमंगं तवोकिसं जल्लखउरियसरीरं। जुगमेत्तंतरादिट्ठिं अतुरियचवलं सगिहमितं ॥२९२॥

दट्ठूण य अणगारं सड्ढी संवेगमागया काइ। विपुलन्नपाण घेत्तूण निग्गया निग्गओ सोऽवि ॥

नीयदुवारंमि घरे न सुज्झई एसणात्ति काऊणं। नीहंमिए अगारी अच्छइ विलिया व गहिएणं ॥

चरणकरणालसंमि य अन्नंमि य आगए गहिय पुच्छा। इहलोगं परलोगं कहेइ चइउं इमं लोगं॥

नीयदुवारंमि घरे भिक्खं निच्छंति एसणासमिया। जं पुच्छसि मज्झ कहं कप्पइ लिंगोवजीवीऽहं॥

साहुगुणेसणकहणं आउट्टा तंमि तिप्पइ तहेव । कुक्कुडि चरंति एए वयं तु चिन्नवया धीओ ॥

(द. १९) कापि श्राविका साधुं लोचविरलोत्तमाङ्ग, अत्रोत्तमाङ्गशब्देनोत्तमाङ्गस्थाः केशा ज्ञेयाः, तपःकृश मलकलुषितशरीर युगमात्रान्तरन्यस्तदृष्टिमत्वरितमचपल स्वगृहमागच्छन्तं दृष्ट्वा संवेगमागता, विपुलं भक्तपानं गृहीत्वा निर्गता गृहमध्यात्, सोऽपि साधुर्नीचद्वारेऽस्मिन् गृहे न शुद्ध्यति ममैषणेति कृत्वा निर्जगाम, निर्गते च तस्मिन् श्राविकागृहीतेन भक्तपानेन सञ्जातविप्रियेवावतिष्ठते, अत्रान्तरे परवञ्चनाकाङ्क्षोऽन्यस्मिन् मायी तत्रागते तस्मै सा भिक्षा दत्ता, गृहीतायां च भिक्षायां स साधुः पृष्टः–यत्पूर्वमागतेन साधुना न गृहीता त्वया गृहीता, तत्र किं कारणमिति ?, ततः स ऐहलौकिक भिक्षालाभमात्रं पारलौकिक धर्म यथाक्रमस्वरगुरुं बहुगुणं चिन्तयित्वा इमं लोकं परित्यज्य कथयति, यथा–नीचद्वारे गृहे साधवः एषणा(समिति)रयिता भिक्षां नेच्छन्ति, तत्रान्धकारभावात्, यदप्युक्तं–त्वया किं कारणं गृहीतेति ?, तत्राहं लिङ्गमात्रोपजीवी, न साधुगुणयुक्त इत्यर्थः, साधुगुणैषणयोः कथनं साधुना कृतं, ततस्तस्य परगुणप्रकाशकोऽयं योग्य इति गुणेनाकृष्टा, पश्चात् आउट्टा–अतिशयेन भक्तिं कृतवती श्राविका, 'तिप्पइ' इति–भक्तादिना तर्पयति, प्रीणयति साधुं, पश्चात् भक्तपानं तपते क्षरति स्रवति भावः, अथ गते तस्मिन्नन्यः कोऽपि निर्धर्मा साधुरागतः, सोऽपि भिक्षां दत्त्वा पृष्टः, तेन पापात्मना प्रोक्तमेते कुक्कुट्या–मायया चरन्ति, तेन त्वयि चावर्जनार्थमेव कृतं, न कोऽपि तत्र दोषः, ईदृशानि मायारूपाणि व्रतानि अस्माभिः पूर्वं चीर्णानि, अथ वयं मायां न कुर्मः, ततस्तया दुरात्मायमिति विसर्जितः ॥ २९२–२९७ ॥ इत्थंभूता च श्राविका भक्त्या प्रादुष्करणमपि कुर्यादिति प्रादुष्करणसम्भवः । अथ प्रादुष्करणस्वरूपं गाथाद्वयेनाह–

प्रादुष्करणसम्भवः ।

पाओकरणं दुविहं पागडकरणं पगासकरणं च। पागड संकामण कुड्डदारपाए य छिन्ने व ॥२९८॥
रयणपईवे जोई न कप्पइ पगासणा सुविहियाणं । अत्तट्ठि अपरिभुत्तं कप्पइ कप्पं अकाऊणं ॥

प्रादुष्करणं द्विधा–प्रकटकरणं प्रकाशकरणं च, तत्र प्रकटकरणमन्धकारादन्यत्र सङ्क्रामणेन प्रकाशकरणं 'कुड्डदारपाए' इत्यादि कुडयस्य द्वारपातेन–रन्ध्रकरणेन, यद्वा कुडयेन मूलत एव छिन्नेन–तथा रत्नेन प्रदीपेन ज्योतिषा, वैश्वानरेण, तत्रैवं प्रकाशना सुविहितानां न कल्पते, एतेनान्वयोऽपि ज्ञेय इति, अथापवादमाह–आत्मार्थीकृतं तदपि कल्पते, अथ साधुपात्रमाश्रित्य विधिमाह–अपरीत्यादि, सहसा प्रादुष्करणदोषाघ्रातं भक्तादिगृहीतमपरिभुक्तमुपलक्षणत्वादर्द्धभुक्तमपि परिस्थाप्योद्धरितसिक्यादिना युक्तेऽपि पात्रे कल्पं–जलक्षालनरूपमकृत्वापि अन्यच्छुद्धं भक्तादि ग्रहीतुं कल्पते ॥ २९८–२९९ ॥ एतद् गाथाद्वयं व्याचिख्यासुः पूर्वं चुल्लीसङ्क्रामणमुद्दिश्य प्रकटकरणमाह—

संचारिमा य चुल्ली बहिं व चुल्ली पुरा कया तेसिं । तहि रंधंति कयाई उव्वही पूई य पाओ य ॥

त्रिधा चुल्ली–एका सञ्चारिमा या स्थानान्तरे नेतुं शक्यते, चकारादाधाकर्म्मिकी द्वितीया बहिरेव, तेषां–साधूनां निमित्तं पुरा कृता आसीत्, चशब्दात्तदानीं च साधुनिमित्तं बहिष्कृता सा तृतीया, ततो यदि कदाचित्तिसृणामन्यतमस्यां गृहस्था राध्यन्ति, तदा द्वौ दोषौ उपकरणपूतिः प्रादुष्करणं च, शुद्धायां चुल्ल्यामेक एव प्रादुष्करणदोषः पृथक्कृतेऽपि च ॥ ३०० ॥ अथ श्राविका प्रादुष्करणे कृते यद् ऋजुत्वेन भाषते तदाह—

नेच्छइ तमिसंमि तओ बाहिरचुल्लीयँ साहु सिद्धण्णे । इय सोउं परिहरए पुट्ठे सिट्ठंमिवि तहेव ॥

हे साधो ! तमिस्रे—अन्धकारे त्वं भिक्षां नेच्छसि, ततो बहिश्चुल्ल्यां भक्तं सिद्धति अस्माभिः, इति श्रुत्वा तत्परिहरति, तथा प्रादुष्करणशङ्कायां साधुपृष्टे दात्र्या शिष्टे यथाऽवस्थिते कथिते तथैव परिहारः ॥ २०१ ॥ अथ सङ्क्रामणे कृताहारस्य प्रकारान्तरेण कल्पतामाह—

मच्छियघम्मा अंतो बाहिं पवायं पगासमासन्नं । इय अत्तट्ठियगहणं पागडकरणे विभासेयं ॥२०२॥

एवं माध्वर्थं चुल्ल्यादि कृत्वा काऽप्येव चिन्तयति, गृहस्यान्तर्मक्षिका घर्मश्च, बहिश्च प्रवात, तथा प्रकाशमासन्नं, ततो वयमप्येवात्मनिमित्तं सदैव पक्ष्याम इति आत्मार्थी कृते ग्रहणं कल्पते ॥ २०२ ॥ इय प्रकटकरणे विभाषा कल्प्याकल्प्यविषया, अथ प्रकाशकरणे " कुड्डदारपाए " इति व्याख्यानयति—

कुड्डस्स कुणइ छिड्डं दारं वड्डेइ कुणइ अन्नं वा । अवणेइ छायणं वा ठावइ रयणं व दिप्पंतं ॥

जोइ पइवे कुणइ व तहेव कहणं तु पुट्ठ दुट्ठे वा । अत्तट्ठिए उ गहणं जोइ पइवे उ वज्जित्ता ॥

कुड्यस्य छिद्रं करोति, यद्वा द्वारं लघु सत् वर्द्धयति, यदि वा अन्यत् द्वितीयं द्वारं करोति, अथ गृहोपरि वर्त्तिनं छादनमपनयति, अथ दीप्यमानं रत्नं स्थापयति, तथा ज्योतिः प्रदीपं च करोति, तथैव पूर्वोक्तप्रकारेण पृष्टेऽपृष्टे वा कथनमात्मसात्कृते कल्पते, अन्यथा नेति, ज्योतिःप्रदीपाभ्यां प्रकाशमात्मार्थीकृतमपि न कल्पते, तेजस्कायारम्भसम्भवात्

प्रादुष्करणे कल्प्याकल्प्यविचारः ।

॥ ३०३-३०४ ॥ अथ "अपरिशुद्ध"मित्यादि व्याख्यानयति—

पागडपयासकरणे कयंमि सहसा व अहवऽणाभोगा। गहियं विगिंचिऊणं गेण्हइ अन्नं अकयकप्पे॥

प्रकटकरणे प्रकाशकरणे च कृते सति सहसानाभोगतो वा गृहीतं परिस्थाप्य तस्मिन् पात्रे अकृतकल्पे अन्यत् शुद्धाशनादि गृह्णाति न कोऽपि दोष इति ॥ ३०५ ॥ अथ क्रीतद्वारमाह—

कीयगडंपि दुविहं दवे भावे य दुविहमेक्केक्कं । आयकियं च परकियं परदवं तिविहं चित्ताई ॥३०६

क्रयणं क्रीतं तेन कृतं निष्पादितं क्रीतमित्यर्थः, तदपि द्विविधं-द्रव्ये भावे च, पुनरेकैकं द्विधा-आत्मक्रीतं परक्रीतं च, 'विचित्रगतित्वात् सूत्रस्य' पूर्वं परद्रव्यक्रीतमाह-परद्रव्यं गृहस्थसत्कं त्रिविधं-सचित्ताचित्तमिश्रभेदात् ॥ ३०६ ॥ अथ शेषं भेदत्रयमाह—

आयकियं पुण दुविहं दवे भावे य दव चुन्नाई। भावंमि परस्सट्ठा अहवावी अप्पणा चेव ॥३०७॥

आत्मक्रीतं पुनर्द्विधा-द्रव्ये भावे, तत्र द्रव्ये चूर्णादिना वक्ष्यमाणेन, भावे परस्य साधोरर्थाय यन्निजविज्ञानदर्शनादिनोपार्ज्यते तद्भावक्रीतं, अथवा आत्मना स्वयमेवाहारार्थं धर्मकथादिनाऽऽवर्ज्य यद् गृह्णाति तदात्मभावक्रीतमिति ॥ ३०७ ॥ अथ विशेषेणाह—

निम्मल्लगंधगुलिया वन्नय पोत्ताइ आयकय दवे। गेलन्ने उड्डाहो पउणे चडुगारि अहिगरणं ॥३०८॥

परभावक्रीते मङ्खोदा० ।

निर्माल्यं–तीर्थसम्बन्धिः गन्धाः–पटवासादयः, गुटिकाः–रूपपरावर्तनादियोग्या वर्णकः–चन्दन पोतानि–लघुबालकयोग्यानि वस्त्रखण्डानि इत्यादि समर्पयित्वा भक्तादि गृह्णाति तदात्मद्रव्यक्रीतम् । अथ दोषानाह–निर्माल्यादिदानानन्तरं यदि दैवयोगतो ग्लानत्वे सत्युड्डाहो भवति, अथ प्रगुणो–नीरोगो भवति, तदा चटुकारी जायते, यथाऽह साधुना प्रगुणीकृत' इति चाटु जल्पति, तथा च सत्यधिकरणमन्यजनभवणात् ॥ ३०८ ॥ अथ परभावक्रीतमाह—

वङ्घयाइ मंखमाई परभावकयं तु संजयट्ठाए । उप्पायणा निमंतण कीडगडं अभिहडे ठविए ॥३०९॥

प्रविका–लघुगोकुल, तच्चोपलक्षणत्वात् पत्तनादौ च, मह्वादिर्यः पटमुपदर्श्य लोकमावर्जयति, स मङ्खस्तदादिः भक्तिवशात् संयतार्थं यद् दुग्धादेरुत्पादन करोति, ततो निमन्त्रयति, तत् परभावक्रीतं, तत्र च त्रयो दोषाः, क्रीत, अन्यगृहादानीत इत्यभ्याहृत, स्थापना च व्यक्तैव ॥ ३०९ ॥ एतदेव गाथाद्वयेन स्पष्टयति—

सगारि मंख छंदण पडिसेहो पुच्छ बहु गए वासे । कयरिं दिसिं गमिस्सह ? अमुइं तहिं संथवं कुणइ ॥

दिज्जते पडिसेहो कज्जे घेत्थं निमंतणं जइणं । पुव्वगय आगएसुं संछुहई एगगेहंमि ॥ ३११ ॥

(दृ.२०) शालिग्रामे देवशर्माख्यो मङ्खस्तद् गृहैकदेशेऽन्यदा साधवश्चतुर्मासीं स्थिताः, स च साधुगुणैर्भक्तो जातो भक्तादिना साधून् निमन्त्रयति, शय्यातरपिण्डमिति यतयः प्रतिषेधयन्ति, ततस्तेनाचिन्ति–यदमी मद्गृहे किमपि न गृह्णन्ति, तस्माद्वर्षाकालानन्तरं यत्रामी गमिष्यन्ति तत्राग्रे गत्वा कथमप्येतेभ्यो ददामि, ततः शेषे वर्षाकाले साधवस्तेन

पृष्टा, यथा-कस्यां दिशि गमिष्यथ ?, साधुभिर<मुकस्यां दिशी>त्युक्ते ज्ञाते स तस्यामेव दिशि क्वचिद् गोकुले निजपटमुपदर्श्य वचनकौशलेन लोकावर्जनं चकार, लोकश्च तस्मै घृतदुग्धादिकं दातुं प्रावर्त्तिष्ट, ततः स ऊचे-यदा याचिष्ये तदा दातव्यम्, अथ साधवश्च विहारक्रमेण तत्रागतास्तेन चात्मानमज्ञापयता पूर्वप्रतिषिद्धघृतदुग्धादिकं प्रतिगृहं याचित्वा एकत्र च गृहे सम्मील्य मुक्तं, ततः साधवो निमन्त्रितास्ते छद्मस्थत्वभावागतं, शुद्धमिति गृहीतं चेति, परं ज्ञाते सति परिहर्त्तव्यमिति। सूत्रं सुगमम्, नवरं सागारिकः-शय्यातरः संस्तवः-परिचयः ॥ ३१०-३११ ॥ अथात्मभावक्रीतमाह—

धम्मकह वाय खमणं निमित्त आयावणे सुयट्ठाणे। जाई कुल गण कम्मे सिप्पम्मि य भावकीयं तु

धर्म्मकथां वादं क्षपणं-षष्ठाष्टमादि निमित्तं आतापनां करोति, तथा श्रुतस्थानमाचार्योऽहमिति कथयति, जातिं कुलं गणं शिल्पं कर्म्म वा परेभ्यः प्रकटयति, इत्थं च परभावमावर्ज्य यद् भक्तादि गृह्णाति तदात्मभावक्रीतम् ॥ ३१२ ॥ अथ धर्म्मकथां वक्ति—

धम्मकहा अक्खित्ते धम्मकहाउट्ठियाण वा गिण्हे। कहांति साहवो चिय तुमं व कहि पुच्छिए तुसिणी॥

आहाराद्यर्थं कृतधर्म्मकथाक्षिप्तानां धर्म्मकथात उत्थितानां वा पार्श्वे यद् गृह्णाति तदात्मभावक्रीतं, यद्वा श्राद्धाः पृच्छन्ति-यो धर्म्मकथकः श्रूयते, स च किं त्वमिति पृष्टे वक्ति साधुर्भक्तादिलोभार्थं, यथा-साधव एव धर्म्मकथां कथयन्ति, नान्ये, यद्वा तूर्ष्णीं-मौनेनावतिष्ठते, ततस्ते श्रावका जानते-स एवायं, परं गम्भीरत्वादात्मानं न प्रकाशयतीति,

प्रभूत तस्मै प्रयच्छन्तीति, आत्मभावक्रीतम् ॥ २१३ ॥ अथवा धर्मकथकपृच्छायां इत्यमुत्तरमाह—

किं वा कहिज्ज छारा दगसोयरिआ व अहवऽगारत्था। किं छगलगगलवलया मुंडकुडुंबीव किं कहए ? ॥

किं छारा–भस्मावगुण्ठितवपुषः कथयेयुः, किं वा दकशौकरिकाः ?, दकस्य–जलस्य शौकरिका इव पापर्द्धिकारिण इव–सांख्याः, अथवा अगारस्थाः, यद्वा छगलस्य गलं वलयन्ति–मोटयन्ति ये ते, यद्वा मुण्डा' सन्तो ये कुटुम्बिनः शौद्धोदनीयास्ते किं कथयेयुः ?, नैव ते कथयन्ति, किन्तु यतय एवेति, याह्रा जानते न एवायमिति ॥ २१४ ॥ अथ शेषद्वाराण्याह—

एमेव वाइ खमए निमित्तमायावगम्मि य विभासा। सुयठाणं गणिमाई अहवा वायणायरियमाई ॥

एवमेव धर्मकथावत् वादिनि क्षपके निमित्तज्ञे आतापके च विभाषा कर्त्तव्या, यथाऽहं वादीत्यादि, तथा श्रुतस्थान–गण्यादि, गणित्वं–आचार्यत्वमिति, अथवा वाचनाचार्यत्वादि, आदिशब्दादाचार्यादिद्वाराण्यप्यवसेयानि ॥ २१५ ॥
अथ प्रामित्यद्वारमाह—

पामिच्चंपि य दुविहं लोइय लोगुत्तरं समासेण। लोइय सज्झिलगाई लोगुत्तर वत्थमाईसु ॥ २१६ ॥

प्रामित्य–भूयोऽपि तव दास्यामीत्यभिधाय यत् साधुनिमित्तं गृह्यते तत् प्रामित्यमित्यर्थः, प्रामित्यमपि समासेन द्विविध–लौकिकं लोकोत्तरं च, तत्र लौकिकं ' सज्झिलगाई ' सज्झिलया–भगिनी आदिशब्दात् भ्रात्रादि परिग्रहः तस्मिन्, किमुक्तं भवति ?, भगिन्यादिभिः क्रियमाणं द्रव्यमिति, अनेन च कथानकं सूचितम्, तदग्रे वक्ष्यति, लोकोत्तरं वस्त्रादिषु साधूनामेव

९
प्रामित्य-
दोषः ।

परस्परमवसेयम् ॥ ३१६ ॥ अथ भगिनीदृष्टान्तं गाथात्रयेणाह (द० २१)—

सुयअभिगमनाय विही बाहि पुच्छा एग जीवइ ससा ते। पविसण पाग निवारण उच्छिंदण तेल्ल जइदाणं
अपरिमिय नेहवुड्ढी दासत्तं सो य आगओ पुच्छा। दासत्तकहण मा रुय अचिरा मोएमि एत्ताहे ॥
भिक्खदगसमारंभे कहणाउट्टो काहिंति वसहित्ति। संवेया आहरणं विसज्जु कहणा कइवया उ ॥३१९

कोशलाविषये क्वापि ग्रामे देवराजकुटुम्बिनो भार्या सारिका, सम्मतप्रमुखाः सुताः, सम्मतिमुख्याः पुत्र्यः, सकलमपि कुटुम्बं श्रावकं, तत्रैव शिवदेवः श्रेष्ठी, भार्या शिवा, अथ (अन्यदा) समुद्रघोषसूरिपार्श्वे सम्मतेन दीक्षा गृहीता, क्रमेण गीतार्थो गुरूनापृच्छ्य निजबन्धुग्रामे समागतः, बहिः कस्यापि पार्श्वे पृष्टं–देवराजस्य कोऽप्यस्तीति ?, तेनोक्तम्–सर्वं मृतमेका विधवा पुत्रिका जीवति स्म सम्मत्यभिधाना, साधुस्तद् गृहे जगाम, सा भ्रातरमायन्तं दृष्ट्वा हृष्टा वन्दितः साधुः, तन्निमित्तं चाहारपचनमारब्धं, साधुना ज्ञात्वा निषिद्धं, अथ भिक्षावेलायां साऽन्यत् किमप्यलभमाना शिवदेवहट्टात्तैलपलिकाद्वयं दिने २ द्विगुणवृद्धि(रूपेण) कलान्तरेण समानीय भ्रातृसाधवे दत्तवती, तेनाजानता शुद्धमिति जगृहे, तस्मिन् दिने साधुपर्युपास्तिपरत्वेन तैलपलिकाद्वयं न दत्तं, द्वितीयदिने तद्वियोगशोकेन, तृतीयदिने कर्षद्वयं देयमभूत्, प्रभूततया प्रवेशयितुं न शक्नोति, कियत् काले शिवदेवेन भणितं मम तैलं देहि, यद्वा दासिका भवेति, तैलदानासमर्था दासी जाता, पुनरेकदा स एव साधुस्तत्रागतो भगिनीं स्वगृहे न दृष्टा, ततः कर्म्म कृत्वाऽऽगता सती पृष्टा, तया च सर्वोऽपि वृत्तान्तः

प्रामित्ये वस्त्रादि-
विषये
दोषाः ।

कथितो यावद्दासत्वं जातमिति, दुःखाच्च रोदितु लग्ना, ततः साधुरूचेऽहमचिरात्त्वां मोचयिष्यामि, मोचनोपायं चिन्तयन् शिवदेवगृहे जगाम, तद्भार्या शिवा भिक्षादानार्थं जलेन करप्रक्षालनं कर्तुं लग्ना, तां च साधुर्निवारयामास, यथैवमस्माकं न कल्पते, समीपस्थेन शिवदेवेन साधुः पृष्टः—कोऽत्र दोषः ?, साधुना चाप्कायविराधनादिदोषाः प्रोक्ताः, पुनः श्रेष्ठिनोचे —क ते वसतिः ?, साधुनोचे—नास्ति मे प्रतिश्रयः, श्रेष्ठिना निजगृहेकदेशे वसतिर्दत्ता, धर्मश्रवणात् सम्यक्त्वादि प्रतिपन्न, अन्यदा साधुना श्रेष्ठ्यग्रे वासुदेवस्य दीक्षाग्राहकानिवारणाभिग्रहः प्रोचे, शिवदेवेनाभिग्रहो वासुदेवस्य अगृहे, तदा च शिवदेवस्य ज्येष्ठपुत्रः सम्मतिश्च दीक्षां ग्रहीतुमुपस्थे, श्रेष्ठ्यनुज्ञातौ द्वावपि दीक्षां प्रतिपन्नाविति, सत्र सुगमं, केवलं श्रुताभिगमश्राद्धविधिरिति, अत्र अपर आह—परम्परया प्रव्रज्याकारणत्वात् साधुना विशेषेण प्रामित्यं प्राह्यमित्याह—कइवयाओ, एवंविधा गीतार्थाः कतिपया एव स्युर्न भूयांस इति प्रामित्यदोष एव ॥ ३१७–३१९ ॥ अथ वस्त्रादिविषये दोषानाह—

घए चेव य दोसा सविसेसयरा उ वत्थपाएसुं । लोइयपामिच्चेसु लोगुत्तरिया इमे अन्ने ॥ ३२० ॥

लौकिकेषु प्रामित्येषु वस्त्रपात्रेषु एत एव सविशेषतरा बन्धनादिका दोषा ज्ञातव्याः, लोकोत्तरप्रामित्यविषयाः पुनरिमेऽन्ये वक्ष्यमाणाः ॥ ३२० ॥ तानेवाह—

मइलिय फालिय खोसिय हियनट्ठे वावि अन्न मग्गंते। अवि सुंदरेवि दिण्णे दुक्कररोई कलहमाई ॥

इह द्विधा लोकोत्तर प्रामित्यं, तत्र कोऽपि कस्यापि सत्कमेव वस्त्रादि गृह्णाति, यथा कियद्दिनानि परिभुज्य पुनस्ते समर्प-

११

क्वचित्ति-परिवर्त्तने अकथिते, पंतावे-अताडयत्, 'ओसवियाण'त्ति-उपशमितानां, अत्राह-परः परिवर्त्तनमपि प्रव्रज्याकारणत्वाद् भव्यमित्याह-कइ च इत्याह-कइवत्ति कतिपया एव क्षेमङ्करसाधुतुल्या ये कलहमुपशाम्य दीक्षां ग्राहयिष्यन्ति, तस्मान्नैवेदमाचरणीयम् ॥३२४-३२६॥ अथ लोकोत्तरं परिवर्त्तनं-यत्र साधुः साधुना वस्त्रादिपरावर्त्तनं करोति, तत्र दोषानाह—

ऊणहिय दुब्बलं वा खर गुरु छिन्नमइलं असीयसहं। दुव्वन्नं वा नाउं विपरिणमे अन्नभणिओ वा ३२७

वस्त्रपरिवर्त्तने कृते इदं वस्त्रं न्यूनमधिकं दुर्बलं-जीर्णप्रायं खरं-कर्कशं गुरुः-स्थूलसूत्रं छिन्नं मलीमसं अशीतसहं-शीतरक्षणाक्षमं दुर्वर्णं वा मया यदर्पितं तन्नैवंविधमिति ज्ञात्वा विपरिणामेत्, पृष्टोऽहमिति विचिन्तयेत् ॥ ३२७ ॥ अत्रैवापवादमाह—

एगस्स माणजुत्तं न उ बिइए एवमाइ कज्जेसु । गुरुपामूले ठवणं सो दलयइ अन्नहा कलहो ॥ ३२८

एकस्य साधोर्यस्य तत्र भवति तस्य वस्त्रं मानोपेतं, न द्वितीयस्य-साधोर्यस्य सत्कं तस्य मानयुक्तं नेति, इत्यादि कार्येषु परिवर्त्तनसम्भवः, कथं पुनः परिवर्त्तनं कार्यमित्याह-वस्त्रादौ गुरुपादमूले स्थापनं कर्त्तव्यम्, स गुरुर्ददाति, अन्यथा कलहः स्यादिति ॥ ३२८ ॥ अथाभ्याहृतद्वारमाह—

आइन्नमणाइन्नं निसीहऽभिहडं च नोनिसीहं च। निसिहाभिहडं ठप्पं वोच्छामी नोनिसीहं तु ॥३२९

अभ्याहृतं द्विधा-आचीर्णं अनाचीर्णं च, तत्रानाचीर्णं द्विधा-निशीथाभ्याहृतं नोनिशीथाभ्याहृतं च, तत्र निशीथं-अर्द्ध-

रात्र तत्रानीत किल प्रच्छन्न भवति, एवं साधूनां यदि विदितमभ्याहृत तन्निशीथाभ्याहृत, तद्विपरीत नोनिशीथाभ्याहृत, साधुज्ञातमेवेत्यर्थः, अभि–सम्मुख साधूनामाहृतमानीतमित्यन्वर्थः, तत्र निशीथाभ्याहृत स्थाप्य, अग्रे वक्ष्यमाणत्वात्, नोनिशीथं तु वक्ष्यामि ॥ ३२९ ॥

सग्गाम परग्गामे सदेस परदेसमेव बोद्धव्वं । दुविह तु परग्गामे जलथल नावोडु जंघाए ॥ ३३० ॥

नोनिशीथाभ्याहृत द्विधा–स्वग्रामे परग्रामे, पुनः परग्रामाभ्याहृत द्विधा–स्वदेशे परदेशे वा, एवद् द्विविधमपि प्रत्येकं द्विधा–जलथलयोः, 'सूचनात् सूत्र'मिति, जलपथेन स्थलपथेन च, तत्र जलपथेनाभ्याहृत द्विधा-नावा उडुपेन च, उपलक्षणत्वात् स्तोकजले जङ्घाभ्यामपि, नौ–तरिका, उडुपः–तरकाष्ठं, स्थलपथेनापि द्विधा–जङ्घाभ्यां पङ्ग्र्या च, उपलक्षणत्वात् गन्त्र्यादिपरिग्रहः ॥ ३३० ॥ अथामूनेव जलस्थलाभ्याहृतभेदान् सदोषानाह—

जघा बाहु तरीइ व जले थले खंध आरखुरनिबद्धा । संजमआयविराहण तहियं पुण संजमे काया ३३१॥

अत्थाहगाहपंकामगरोहारा जले अवाया उ । कंटाहितेणसावय थलंमि एए भवे दोसा ॥ ३३२ ॥

जलमार्गे जङ्घाभ्यां बाहुभ्यां तरिकयाऽभ्याहृत स्यात्, स्थलमार्गे तु स्कन्धेन, तथा आरखुरनिबद्धा–गन्त्रीतया खुरनिबद्धा रासभबलीवर्दादयस्तैरभ्याहृतम्, अत्र संयमात्मविराधनारूपा दोषाः, तत्र पुनः संयमविराधनायां काया–अप्कायादय, इति मार्गद्वयो(य्ये)ऽपि, अथात्मविराधनामाह–जलमार्गे अस्ताघनिमज्जनसम्भवात्, तथा ग्राहेभ्योऽपि पङ्कतो मकरेभ्यो

११ अभ्या
हृतदोषः,
तद्भेदाश्च

अभ्याहृत-भेदाः।

ओहारेत्ति-कच्छपेभ्यो'ऽपाया'-विनाशादयो दोषा भवन्ति, स्थलमार्गे कण्टकादिस्तेनश्वापदेभ्यो एत एव दोषा अपायादयः ॥ ३३१-३३२ ॥ अथ स्वग्रामाभ्याहृतं नोनिशीथं गाथाद्वयेनाह—

सग्गामेऽवि य दुविहं घरंतरं नोघरंतरं चेव । तिघरंतरा परेणं घरंतरं तं तु नायव्वं ॥ ३३३ ॥

नोघरंतरऽणेगविहं वाडगसाहीनिवेसणगिहेसु। काये खंधे मिम्मय कंसेण व तं तु आणेज्जा ॥ ३३४ ॥

स्वग्रामाभ्याहृतं द्विधा-गृहान्तरं नोगृहान्तरं च, तत्र त्रिगृहान्तरात् परेण यदानीतं तद् गृहान्तरं ज्ञातव्यं, नोगृहान्तरमनेकविधं, वाटकादिविषयं, तत्र वाटकः प्रतीतः, साही-वर्त्तनी सैवैकान्तराले विद्यते, निवेशनं-एकनिष्क्रमणप्रवेश्यानि द्व्यादिगृहाणि, गृहं-मन्दिरं, एतच्च सकलमपि अनाचीर्णमनुपयोगसम्भवात्, एतच्च द्विविधमपि गृहान्तरं नोगृहान्तरं(च) साधोरुपाश्रयमानयेत् कापोत्या स्कन्धेन वा, मृन्मयेन भाजनेन कांस्येन वा भाजनेन वा ॥ ३३३-३३४ ॥ अथ स्वग्रामाभ्याहृतनोनिशीथस्य सम्भवमाह—

सुन्नं व असइ कालो पगयं व पहेणगं व पासुत्ता । इय एइ काइ घेत्तुं दीवेइ य कारणं तं तु ॥ ३३५ ॥

यदा साधुर्भिक्षार्थमायातस्तदा शून्यं गृहमासीत्, यद्वा असन्-अविद्यमानो भिक्षाकालः, अथ प्रकृतं स्वजनार्हगौरवभक्तादिकरणेन व्याकुलतया तदा दातुं न प्रपारिता, यद्वा पश्चात् प्रहेणकं-लाह्णकं समेतं, अथ तदा श्राविका प्रसुप्ताऽभूदिति, एतैः कारणैः कापि गृहीत्वा उपाश्रये साधोरानयेत्, तच्च कारणं तस्य दीपयति ॥ ३३५ ॥ अथ स्वग्रामपरग्रामभेद-

॥ ६३ ॥

मिश्र निशीथाभ्याहृतमाह—

एमेव कमो नियमा निसीहऽभिहडेऽवि होइ नायव्वो। अविइअदायगभावं निसीहिअं तं तु नायव्वं

य एव क्रमो नोनिशीथाभ्याहृते उक्तः, स एव निशीथाभ्याहृते ज्ञातव्यः, अविदितदायकभाव निशीथाभ्याहृत तु ज्ञातव्यमिति शेषः ॥ २३६ ॥ अथ निशीथाभ्याहृतस्य सम्भव गाथाचतुष्टयेनाह—

अइदूरजलंतरिया कम्मासंकाए मा न घेच्छंति। आणंति संखडीओ सड्ढो सड्ढी व पच्छन्नं ॥ २३७

निग्गम देउल दाणं दियाइ सन्नाइ निग्गए दाणं। सिट्ठंमि सेसगमणं दिंतऽन्ने वारयंतऽन्ने ॥ २३८ ॥

भुंजण अजीरपुरिमड्ढगाइ अच्छंति भुत्तसेसं वा। आगमनिसीहिगाईं न भुंजई सावगासंका ॥ २३९

उक्खित्त निक्खिप्पइ आसगय मज्झगमि पासगए। खामित्तु गया सड्ढा तेऽवि य मु(सु)द्धा असढभावा

(१० २१) क्वापि ग्रामे धनावहप्रमुखाः श्रावकाः, धनवतीप्रमृतयः श्राविकाश्चैककुटुम्बवर्तिनः, अन्यदा तेषां गृहे वीवाहः समजनि, तेनोद्धरिते मोदकादौ साधु दानश्रद्धया चिन्तयामासुः, एके साधवोऽतिदूरे तथाऽन्ये जलान्तरिता नद्यादि भावात्, कथमागमिष्यन्ति ?, ते आगता अपि आधाकर्माशङ्कया न ग्रहीष्यन्ति, ततो यत्र ग्रामे साधवः सन्ति तत्रैव प्रच्छन्न प्रजाम इति, तथा कृत, ततः साधूनाऽऽहूय यदि दास्यामस्तदाऽशुद्धशङ्का भविष्यतीति द्विजेभ्यो(ऽपि किमपि)दत्त इति, तथापि साधुहृदो निःशङ्कतोत्पादनार्थं दत्त इति, बहिर्देवकुले द्विजादिभ्यो दातुमारब्धम्, तत उच्चारादिकार्यार्थं विनिर्ग-

परग्रामा-
भ्याहृते से-
नावहादि
दृष्टान्तः।

तानां साधूनां निमन्त्र्य दानं साधुभिः शुद्धमिति जगृहे, अन्यसाधूनां च कथितं, तेऽपि तद्ग्रहणाय गता इति, तत्रैके श्राद्धा ददति, अन्ये मातृस्थानतो निवारयतः प्रतिषेधयन्ति, यथा सर्वः कोऽपि भुक्तः शेषं सर्वं साधुभ्यो दीयतामिति, साधवोऽपि ये नमस्कारसहितास्ते भुक्ता, ये च पौरुषीप्रत्याख्यानास्ते भुञ्जाना वर्तन्ते, ये चाजीर्णवन्तस्ते पूर्वार्द्धादि प्रतीक्ष्यमाणा वर्त्तन्ते, ततः श्राद्धैर्ज्ञातं साधवो भुक्ता भविष्यन्ति, वन्दित्वा याम इति साधुवसतावुपागता साधुभिर्विमर्शना, पूर्वमुपलक्षिता नूनमेतैरभ्याहृतं कृतमिति निश्चित्य भोजनायानु < पविश्रित्य भोजनायानु > पविष्टैर्न भुक्तं भुञ्जानैश्च यः कवल उत्क्षिप्तः स भाजनेऽमुच्यत, यत्तु मुखे क्षिप्तं नाद्यापि गलितं तत्समीपस्थे मल्लके क्षिप्तं, सर्वमपि परिस्थापितं, श्रावकश्राविकावर्गश्च क्षमयित्वा जगाम ये भुक्ता ये चार्द्धभुक्तास्ते सर्वेऽप्यशठतया शुद्धा इति। सूत्रं सुगमम् ॥ ३३७–३४० ॥ उक्तं परग्रामाभ्याहृतनिशीथम्, अथ स्वग्रामाभ्याहृतं, तदेवाह गाथाद्वयेन—

लद्धं पहेणगं मे अमुगत्थगयाएँ संखडीए वा। वंदणगट्ठपविट्ठा देइ तयं पड्डिय नियत्ता ॥ ३४१ ॥

नीयं पहेणगं मे नियगाणं निच्छियं व तं तेहिं। सागारि सयज्झियं वा पडिकुट्ठा संखडे रुट्ठा ॥ ३४२ ॥

काऽप्यभ्याहृतशङ्कापनोदाय साधुमाह–यथा मयेदं प्रहेणकममुकं गृहे गतया लब्धं, यद्वा सङ्खड्यां, सम्प्रति वन्दनार्थमत्र प्रविष्टा, इत्युक्त्वा तकद् आनीतं ददाति पड्डियत्ति, पूर्वमस्य गृहं प्रस्थिता ततो निवृत्ता सती यद्वा एवमाह—निजकानां–स्वजनानामर्थाय प्रहेणकं < मया स्वगृहान्नीतं, परं तैर्नेप्सितं, तत्प्रतिनिवृत्ता वन्दनार्थमत्रागतेत्युक्त्वा दत्ते, अथ कापि

मायया सागारिका–शय्यातरिकां, यद्वा सहजिकय–भगिनीं वसतीप्रवेशिनीं पूर्वगृहीतसङ्केतां यथा साधवः शृण्वन्ति तथा वक्ति–गृहाणेद प्रहेणक, तया च मातृस्थानतो निषिद्धा, यथा–त्वया मदीय प्रहेणक > नादायि, अहमपि तावकीनं नादास्ये इत्यादि वचोभिः सखडे–कलहे प्रहेणकनेत्री यद्वा वसतिप्रविष्टा वृत्तान्तकथनेन तद्दाति ॥ ३४१–३४२ ॥ अथानाचीर्णनिगमयआचीर्णस्य भेदानाह—

एयं तु अणाइन्नं दुविहपि य आहडं समक्खायं। आइन्नपि य दुविह देसे तह देसदेसे अ ॥ ३४३ ॥

एतदनाचीर्णमभ्याहृतद्विविधमपि समाख्यात, आचीर्णमपि द्विधा–देशे तथा देशदेशे च ॥ ३४३ ॥ अथ देशस्य देश-देशस्य च स्वरूपमाह—

हत्थसय खलु देसो आरेणं होइ देसदेसो य । आइन्नंमि(उ)तिगिहा ते चिय उवओगपुव्वागा ॥३४४॥

हस्तशतप्रमाण क्षेत्र देशोऽर्वाक्–हस्तशतमध्ये देशदेश इति, तत्र हस्तशतप्रमाणे आचीर्णे त्रीणि गृहाणि उपयोगपूर्वकाणि भवन्ति, ततः कल्पते नान्यथेति ॥ ३४४ ॥ अथ गृहत्रयव्यतिरेकेण हस्तशतसम्भव तद्विषयं कल्प्याकल्प्यविधिं चाह—

परिवेसणपंतीए दूरपवेसो य घंघसालगिहे । हत्थसया आइन्न गहणं परओ उ पडिकुट्ठं ॥ ३४५ ॥

परिवेषणपङ्क्तौ–भोक्तृजनश्रेण्यां यद्वा दूरप्रवेशे प्रलम्बगमनमार्गे छिण्डिकादौ यद्वा घङ्घशालायां हस्तशतादानीतस्य ग्रहणमाचीर्णं परतस्त्वनाचीर्णमिति ॥ ३४५ ॥

अभ्याहृते आचीर्णस्य भेदाः ।

उक्कोस मज्झिम जहन्नगं तु तिविहं तु होइ आइन्नं। करपरियत्त जहन्न सयमुक्कोसं मज्झिमं सेसं ॥

त्रिविधमाचीर्णमभ्याहृतं उत्कृष्टं मध्यमं जघन्यं च यत् स्वयोगेन परिवेषणार्थं वा मण्डकादि करे गृहीतं स्यात्, तदानीय ददाति, तत्करपरिवर्त्तितमात्रं जघन्यं, हस्तशतानीतमुत्कृष्टं, अपान्तराले मध्यममिति ॥ ३४६ ॥ अथोद्भिन्नद्वारमाह—

पिहिउब्भिन्नकवाडे फासुय अप्फासुए य बोद्धव्वे। अप्फासु पुढविमाई फासुय छगणाइदद्दरए ॥

उद्भेदनं कुतुपादिमुखानां साधुदाननिमित्तमुद्भिन्न इत्यन्वर्थः, उद्भिन्नं द्विधा–पिहितोद्भिन्नं कपाटोद्भिन्नं, तत्र पिहितोद्भिन्ने पिधानं द्विधा–प्रासुकमप्रासुकं च, तत्राप्रासुकं सचित्तपृथ्व्यादि प्रासुकं छगणादि, दर्दुरको–मुखबन्धनं वस्त्रखण्डम् ॥ ३४७ ॥ अथ द्विधोद्भिन्ने दोषानाह—

उब्भिन्ने छक्काया दाणे कयविक्कए य अहिगरणं। ते चेव कवाडंमिवि सविसेसा जंतमाईसु ॥ ३४८

पिहितोद्भिन्ने षट्काया विराध्यन्ते, तथा पुत्रादिभ्यस्तैलादिदाने, क्रयविक्रये चाधिकरणं स्यात्, त एव दोषाः कपाटोद्भिन्ने, विशेषास्तु यन्त्ररूपकपाटादिषु द्रष्टव्याः, तत्राधिकविराधनायोगात् ॥ ३४८ ॥ अथैनामेव गाथां व्याचिख्यासुः, " उब्भिन्ने छक्काया " इति गाथाद्वयेन व्याख्यानयति—

सच्चित्तपुढविलित्तं लेलुं सिलं वाऽवि दाउमोलित्तं। सच्चित्तपुढविलेवो चिरंपि उदगं अचिरलित्ते ३४९

एवं तु पुव्वलित्ते काया उल्लिंपणेऽवि ते चेव। तिम्मेउं उवलिंपइ जउमुद्दं वावि तावेउं ॥ ३५० ॥

इह कुतुपादिमुख कदाचित्पूर्ददरकोपरि लेष्टु शिला–पाषाणखण्डं वा प्रक्षिप्य जलार्द्रसचित्तपृथ्वीलिप्त भवति, पृथिवीलेपश्चिरकालमपि सचित्तः स्यात्, उदक त्वचिरलिप्ते चिरकालोऽन्तर्मुहूर्तान्तरं ज्ञेयः, चिरलिप्ते पृथ्वीकायस्य विनाशोऽप्कायस्य तु पृथ्वीकायशस्त्रादचित्ततेति, एवं पूर्वलिप्ते दोषा उक्ताः, एतदेव शेषस्य रक्षणार्थमुपलिप्यमाने अप्कायविराधनादयो दोषाः; पवस्तापयित्वा जलेन पृथ्वीकायं मिश्र कृत्वा उपलिम्पति, पृथ्वीमध्ये क्षुद्राः कीटिकादयश्च सम्भाव्यन्ते, तथा कोऽपि तापयित्वा जतुमुद्रां करोति ॥ ३४९–३५० ॥ एतदेवाह—

उद्भिन्ने षट्कायविराधनादि संभावना।

जह चेव पुव्वलित्ते काया दाउं पुणोऽवि तह चेव। उवलिप्पते काया मुइअंगाई नवरि छट्ठे ॥ ३५१ ॥

यथा चैव पूर्वलिप्ते षट्काया विराध्यन्ते, तथा देय दत्वा पुनरुल्लिप्यमाने षट्काया विराध्यन्ते, < नवरं षष्ठे त्रसकाये विराध्यमाने >, मृदङ्गादयः–पिप्पीलिकाकुन्थ्वादयो ज्ञेयाः ॥ ३५१ ॥ अथ “दाणे कयविकए” इति व्याख्यानयति—

परस्स तं देइ स एव गेहे, तेल्लं व लोणं व घयं गुलं वा।

उग्घाडिए तंमि करे अवस्सं, सविक्कयं तेण किणाइ अन्नं ॥ ३५२ ॥

तस्मिन् कुतुपादिमुखे साध्वर्थमुद्घाटिते सति परस्मै ग्राहकादिकाय स्वगृहे वा पुत्रादिभ्यस्तैल लवणं घृत गुड वा ददाति, यद्वा स करोत्यवक्रय विक्रय तेन च मूल्येनान्यत् क्रीणाति ॥ ३५२ ॥ “अहिगरणे” त्ययत्र व्याख्यानयति—

दाणे कयविक्कए वा होई अहिगरणमजयभावस्स। निवयंति जे य तहियं जीवा मुइयंगमूसाई ॥ ३५३ ॥

दाने क्रये विक्रये वाऽपतभावस्याधिकरणं जायते, तथा तत्रोद्घाटितमुखे मुइङ्गमूषकादयो जीवाः पतन्ति, तदप्यधिकरणम् ॥ ३५३ ॥ अथ " ते चेव कवाडंमिवि " (गा. ३४८) इति व्याख्यानयति—

जहेव कुंभाइसु पुव्वलित्ते, उब्भिज्जमाणे य हवंति काया ।
ओलिंपमाणेवि तहा तहेव, काया कवाडंमि विभासियव्वा ॥ ३५४ ॥

यथैव कुम्भादौ—घटादौ पूर्वलिप्ते उद्भिद्यमाने तथा उल्लिप्यमाने षट्काया विराध्यमानाः स्युः, उपलक्षणत्वादधिकरणं च, तथा कपाटेऽपि वेदितव्याः, यथा कपाटे उद्भिद्यमाने जलभृतभाजने भिद्यमाने पानीयं चुल्ल्यादावपि प्रविशेत्, कीटिकादयश्च प्लाव्यन्ते इत्यादिभावनीयम् ॥ ३५४ ॥ अथ " सविसेसा " इति व्याख्यानयति—

घरकोइलसंचारा आवत्तण पीढगाइ हेट्ठुवरिं । निंतेवि एयअंतो डिंभाईपेल्लणे दोसा ॥ ३५५ ॥

सञ्चारात्—कपाटस्य सञ्चलनात् गृहगोधिकादयो जीवा विराध्यन्ते, तथा पीठिकायां अध उपरितले च कपाटैकदेशस्यावर्त्तने तदाश्रितजीवविनाशः, पीठिकेति—कपाटस्थितिभूमिः, तथा निन्ते—पश्चान्मुखं नीयमाने उद्घाटयमाने अन्तःस्थितस्य डिम्भादेः प्रेरणे दोषाः, शिरस्फोटनादयोऽपि भवन्ति ॥ ३५५ ॥ अथात्रापवादमाह—

घेप्पइ अकुंचियागंमि कवाडे पइदिणे परिवहंते । अजऊमुद्दिय गंठी परिभुज्जइ दद्दरो जो य ॥ ३५६ ॥

अकुञ्चिका—कुञ्चिकाविवररहिते कपाटे सततं प्रतिवहति दीयमाने उद्घाटयमाने चोद्घाट्यते गृह्यते भिक्षेति, यत्र

कुक्षिकाविवर तत्रोद्घालकयोगात् घर्षणद्वारेण सत्त्वविराधना, तथा यत्र दर्दरकः परिभुज्यते-बध्यते< छोडयते> च, यत्र यदि वस्त्रमुद्रा व्यतिरेकेण केवलवस्त्रग्रन्थिर्दीयते, न च पृथ्व्यादिलेपस्तत्रोद्भिन्ने कल्पते, स्थविरकल्पिकानामाचीर्णत्वात् ॥ ३५६ ॥ अथ मालापहृतमाह—

मालोहडंपि दुविहं जहन्नमुक्कोसगं च बोद्धव्वं। अग्गतलेहिं जहन्नं तव्विवरीयं तु उक्कोसं ॥ ३५७ ॥

मालापहृतं द्विविध—जघन्यमुत्कृष्टं च, तत्र भून्यस्ताभ्यां अग्रतलाभ्यां पादयोरग्रभागाभ्यां फलकसंज्ञाभ्यां पार्ष्णिभ्यां चोत्पाटिताभ्यां सिक्ककादिस्थितं दात्र्या दृष्टेरगोचरं यद्दीयते तज्जघन्यं, तद्विपरीतं वृहद्भिःश्रेण्यारोहणादिना दीयमानमुत्कृष्टं, मालादपहृतमानीतमित्यन्वर्थः ॥ २५७ ॥ अनयोरेव दृष्टान्तौ सदोषौ वक्तुकाम आह—

भिक्खू जहन्नगंमी गेरुय उक्कोसगंमि दिट्ठंतो। अहिडसणमालपडणे य एवमाई भवे दोसा ॥ ३५८ ॥

जघन्ये भिक्षुर्दृष्टान्तः, उत्कृष्टे गैरुक—कापिलः, जघन्ये अहिदशनं, उत्कृष्टे मालात्पतनमित्येवमादयो दोषा भवन्ति ॥ ३५८ ॥ अथ गाथाद्वयेन भिक्षुदृष्टान्तमाह—

मालाभिमुहं दट्ठूण अगारिं निग्गओ तओ साहू। तच्चन्निय आगमणं पुच्छा य अदिन्नदाणन्ति ॥३५९॥

मालंमि कूडे मोयग सुगंध अहि पविसणं करे डक्का। अन्नदिण साहु आगम निहुय कहणा य संवोही ॥

(द० २४) जयन्तपुरे यज्ञदिन्नो गृहपतिर्भार्या वसुमती, अन्यदा धर्मरुचिः साधुस्तद्गृहे भिक्षार्थमागतो, यज्ञदिन्नेन

सादरं वसुमती बभणे-देहि साधवे अमुकान् मोदकानिति, चेत् (ते च) सिक्कोपरि घटेऽवतिष्ठन्ते, सा तान्यदातुं चचाल, साधुश्च सदोषमिति निवृत्तः, ततस्तदैव कोऽपि भिक्षुरागतः, पृष्टो यक्षदिन्नेन-किं संयतेन सिक्ककादानीयमाना भिक्षा नाददे, तेन प्रवचनमात्सर्यादित्यूचे-अदत्तदाना अमी वराका इति, श्रेष्ठिना तानेव मोदकान् तस्मायपि दापिता वसुमती, सा च यावत्तानादातुं गता तावत्तत्र घटे मोदकगन्धेन भुजङ्गमः प्रविष्टो अत्र तिष्ठते, वसुमती मोदकघटे यावत् करं क्षिपति तावदहिना दष्टा, वैद्यौपधैरायुरत्रुटीतमिति निरुग् बभूव। अन्यदा च स एव धर्म्मरुचिस्तत्रागतः, यक्षदिन्नेनोपलक्ष्य पृष्टम्-यदि दयाप्रधानो धर्म्मस्तर्हि सर्प्पदर्शने कथमुपेक्षा तवेति ? साधुराह-न मया दृष्टोऽहिः, किन्तु भगवदादेशोऽयं-मालापहृतभिक्षा त्याज्येति, तेनाहं प्रतिनिवृत्तः, तच्छ्रुत्वा यक्षदिन्नेन साधुपार्श्वे धर्म्मश्रवणेन वैराग्याद्भार्यया सह दीक्षा जगृहे, सूत्रं सुगमम् ॥ ३६० ॥ अथ जघन्य एवान्यानपि दोषानाह—

आसंदिपीढमंचकजंतोदूखल पडंत उभयवहे। वोच्छेय पओसाई उड्डाहमनाणिवाओ य ॥ ३६१ ॥

आसन्दी-मञ्चिका पीठं-गोमयाद्यासनं, मञ्चकः प्रतीतः, यन्त्रं-व्रीह्यादिदलनोपकरणं, उदूखलः प्रतीतः, एतेष्वारुह्य दात्री भिक्षां ददती, यदि मञ्चकादिल्हसनतो निपतति, तदोभयवधो-दात्र्याः पृथिवीकायादीनां च (विनाशः), तथा एतस्मै भिक्षामहं ददती प्रागपि पतिता ततोऽनेकोऽप्यस्मै दास्यतीति तद्गृहे तद्द्रव्यान्यद्रव्यव्यवच्छेदः स्यात्, प्रद्वेषः साधौ, तथा प्रवचनोड्डाहः, अज्ञानवादश्च यथैते एवंविधानपि न जानन्तीत्येवं मूर्खताप्रवादः ॥ ३६१ ॥ अथोत्कृष्टस्य दोषानाह—

एमेव य उक्कोसे वारणनिस्सेणि गुव्विणीपडण। गब्भित्थिकुच्छिफोडण पुरओ मरणं कहण बोही ॥२६२

मालापहृते द्वितीय-दृष्टान्तः। भङ्गानि च।

(दृ० २५) जयन्तीपुर्यां सुरदत्तश्रेष्ठी, भार्या वसुन्धरा, अन्यदा गुणचन्द्रार्यस्तद्गृहे भिक्षायै समेतः, सुरदत्तेन वसुन्धराऽभिहिता–मालादानीयास्मै मोदकान् देहि, सा चान्ववर्त्तनी परं पत्युरादेशात् मालाभिमुख चचालेति, साधुरस्माकं न कल्पते इति तां निवार्य निर्ययौ, तदा कोऽपि कापिलस्तत्राजगाम भिक्षार्थं, सुरदत्तेन पृष्टः–संयतेन मालादानीयमाना भिक्षा कथं न गृहीता ?, तेनापि मात्सर्यादिसम्बद्ध किमप्युक्तं, सुरदत्तो वसुन्धरया तस्मायपि मोदकान् दापितवान्, सा च निःश्रेणिमारोहन्ती पादस्खलनतो भूमौ पपात, अथच मीहिदलनयन्त्रेणोदरद्विधाकरणाद् गर्भः पृथक् जातः, [redacted] पीडया माता गर्भश्च द्वयमपि मृतम्, उत्थितः कापिलस्यावर्णवादोऽन्यथा स एव साधुस्तद्गृहे भिक्षार्थमागतो यथाविधिपृष्टे यथावस्थिते कथिते प्रव्रज्या । अत्र सुगमम् ॥ २६२ ॥ अथ मालापहृत भङ्ग्यन्तरेणाह—

उड्ढमहे तिरियंपि य अहवा मालोहडं भवे तिविहं । उड्ढे य महोयरणं भणियं कुंभाइसू उभयं ॥२६३॥

अथवा मालापहृत त्रिविध, तथाहि–ऊर्ध्व अधस्तिर्यक् च, ऊर्ध्वं सिक्ककादिगतम्, अधो भूमिगृहादावपतरणं, कुम्भादिषु–घटादिषु पृहद्भाजनेषूभय भणितम्, अधोमुखकरणादूर्ध्वं पार्ष्णुत्थापनात् ॥ २६३ ॥ अथापवादमाह—

दद्दर सिल सोवाणे पुव्वारूढे अणुच्चमुक्खित्ते । मालोहडं न होई सेसं मालोहड होइ ॥ २६४ ॥

दर्दरका–निरन्तरकाष्ठफलकमयो निःश्रेणिविशेषः, शिला प्रतीता, सोपानानि इष्टकामयान्यवतरणानि, एतान्यारुह्य

यद्ददाति तन्मालापहृतं न भवति, तथा पूर्वारूढः साध्वागमनात्, अनुच्चोत्क्षिप्ते साधुपात्रे यद्ददाति तदपि मालापहृतं न स्याच्छेपं तु भवति ॥ ३६४ ॥ अथानुच्चोत्क्षिप्तयोः स्वरूपमाह—

तिरियायय उज्जुगएण गिण्हई जं करेण पासंतो । एयमणुच्चुक्खित्तं उच्चुक्खित्तं भवे सेसं ॥३६५

तिर्यग् आयतेन–दीर्घेण ऋजुकेन–सरलेन करेण–हस्तेन पात्रं दृष्ट्वा निमालयन् यत् गृह्णाति पात्रे हस्तं प्रक्षिप्य ददाति दाता यत्र, तदित्थं भूतं पात्रमनुच्चोत्क्षिप्तं भवति, शेषं पुनरुच्चोत्क्षिप्तं स्यात् ॥ ३६५ ॥ अथाच्छेद्यमाह—

अच्छिज्जंपि य तिविहं पभू य सामी य तेणए चेव । अच्छिज्जं पडिकुट्ठं समणाण न कप्पए घेत्तुं ॥३६६॥

यद्बलादाच्छिद्य दीयते साधुभ्यस्तदाच्छेद्यमित्यन्वर्थः । आच्छेद्यमपि त्रिविधं प्रभुस्वामिस्तेनविषयत्वात् तदाच्छेद्यं प्रतिकुष्टं–निषिद्धं तीर्थकरादिभिः श्रमणानां गृहीतुं न कल्पते ॥ ३६६ ॥ अथ प्रभुविषयमाह—

गोवालए य भयएऽखरए पुत्ते य धूय सुण्हाए । अचियत्त संखडाई केइ पओसं जहा गोवो ॥ ३६७॥

प्रभुकर्तृकमाच्छेद्यं, गोपालके भृतके–कर्म्मकरे अक्षरके–द्व्यक्षराभिधाने दास इत्यर्थः, पुत्रे दुहितायां स्नुषायां भवति, अत्र दोषानाह–अचियत्तं–अप्रीतिः संखडं–कलह इत्यादि दोषाः, केचित्पुनः प्रद्वेषमपि साधौ गच्छन्ति, यथा गोपः ॥ ३६७ ॥ गोपदृष्टान्तं गाथाद्वयेनाह—

गोवपओ अच्छेत्तुं दिन्न तु जइस्स मइदिणे पहुणा । पयमाणूणं दट्टुं खिंसइ मोई रुवे चेडा ॥ २६८ ॥

पडियरणपओसेणं भाव नाउं जइस्स आलावो । तन्निबंधा गहियं इदि स मुक्कोसि मा बीय ॥ २६९ ॥

(इ० २६) वसन्तपुरे जिनदासरुक्मिण्यौ दम्पती, वत्सराजो गोपालः, स चाष्टमे दिनं सर्वासामपि गोमहिषीणां दुग्ध माददे, इदमेव भाटकमिति, अन्यदा साधुर्भिक्षार्थं तत्रागमत्, तस्मिन् दिने गोपस्य सर्वदुग्धादानवारकस्तेन सर्वगोमहिषीणां दुग्धेन परिपूर्णता, जिनदासेन भक्त्या प्रतिलाभ्य साधवे पायस बलादाच्छिद्य गोपाद्दत्तं, ततस्तद्भाजनं कतिपयपयसोन गृहे नीतवान्, भार्या च तद् दृष्ट्वा ज्ञातवृत्तान्ता खिंसति, चेटरूपाणि दुग्धं स्तोकमालोक्य रोदितु प्रवृत्तानि, तथा वसतौ (च सति) गोपः सकोपः साध्वनर्थाय चचाल, दृष्टः क्वापि साधुः, प्रधावितो लकुटमुत्पाद्य गोपः, साधुस्त सकोपमायात दृष्ट्वा नूनमस्य दुग्धं बलादाच्छिद्य जिनदासेन दत्तमिति चिन्तयित्वा विशेषात् प्रसन्नीभूय तत् सन्मुख चचाल भणितं च, भो गृहाण स्वदीय दुग्धमित्युक्ते सोऽप्युपशान्तो निजभाव प्रकटयन् चोक्तवान्, मुक्त इदानीं, याहि दुग्ध लात्वा, परं भूयोऽप्येवमाच्छेद्य न गृहीतव्य, गोपसाधू स्वस्थान गतौ । अत्र सुगमम्, नवरं पयमाणूण-पयोभाजनमून दृष्ट्वा मोई इति-मोच्या-भार्या रोयिति-रुदन्ति, इन्दीत्यामन्त्रणे तन्निर्बन्धात्, त्वदीयजिनदासाख्यप्रभुनिर्बन्धात् गृहीत, ततः स प्राह-मुक्तोऽसि सम्प्रति मा द्वितीय वारमेव गृह्णीथाः ॥ २६८-२६९ ॥ अथ गोपविषय एव "अचियत्तसखडाई" इति व्याख्यानयति—

नानिविट्ठ लब्भइ दासीवि न भुञ्जए रिते भत्ता । दोद्देगयरपओसं जं काही अतरायं च ॥ २७० ॥

आच्छेद्ये गोप दृष्टान्तः ।

इह प्रभुणा बलाद् दुग्धादिकमाच्छिद्यमाने कोऽपि गोप एवं ब्रुवाणः सम्भाव्यते, यथा–अनित्रि(वृं)ष्टः–अनुपार्जितं किमपि न लभ्यते, ततो मया दुग्धमिदं शरीरायासेनार्जितं, ततस्त्वं कथमत्र प्रभवसि ?, न हि दास्यप्यास्तामुत्तमरूयादिकमिति भक्तादृते–भरणपोषणं विना भुज्यते–भोक्तुं लभ्यते, ततो मदीयं भोजनमिदमिति न प्रभुत्वावकाशः, एवमुक्तो द्वयोरेकतरस्य वा प्रद्वेषः, प्रद्वेषे च यत् करिष्यति धनहरणमारणादिकं तद्दोषतया भाव्यम्, यच्चान्तरायं गोपालस्य तत् कुटुम्बस्य वा तदपि दोषरूपमिति ॥ ३७० ॥ अथ स्वामिविषयमाच्छेद्यमाह—

सामीचारभडा वा संजय दट्ठूण तेसि अट्ठाए । कलुणाणं अच्छेज्जं साहूण न कप्पए घेत्तुं ॥ ३७१ ॥

स्वगृहमात्रनायकः प्रभुः, ग्रामादिनायकः स्वामी, तथा चोक्तम्–" होइ पभूघरमाणे सामी पुण गामसामिओ भणिओ। तेणो पसिद्धगोच्चिय एयच्छिन्नं न गेण्हिज्जा ॥ १ ॥" चारभटाः स्वामिभटा वा संयतान् दृष्ट्वा तेषां संयतानामर्थाय करुणानां–कृपास्थानानां दरिद्रकौटुम्बिकादीनां सम्बन्ध्याच्छिद्य यद्ददाति तत् साधूनां गृहीतुं न कल्पते ॥ ३७१ ॥ एतदेव व्यक्तमाह—

आहारोवहिमाई जइअट्ठाए उ कोइ अच्छिंदे । संखडि असंखडीए तं गिण्हंते इमे दोसा ॥ ३७२ ॥

यदि कोऽपि स्वामी भटो वा यतीनामर्थाय परकीयमाहारोपध्यादिकं संखडया–कलहेन असङ्खडया–कलहाभावेनाच्छिद्य यतिभ्यो ददाति तद् गृह्णत इमे दोषाः वक्ष्यमाणाः ॥ ३७२ ॥ तानेवाह—

अचियत्तमंतरायं तेनाहड एगऽणेगवोच्छेओ। निच्छुभणाइदोसा तस्स अलंभे य जं पावे ॥ ३७३ ॥

यस्सत्कं गृह्यते, तस्याप्रीतिर्भवेत् अन्तरायं वा तथाभूतं साधूनां गृह्णतां स्तेनाहृतं भवति, तत् स्वामिनाऽननुज्ञातत्वात्, तद्दोषादेकस्य तस्यैव साधोर्यद्वाऽन्येषां साधूनामनेकेषां तद्गृहे भक्तादिव्यवच्छेदः स्यात्, यद्वा ते रुष्टाः सन्तो यः पूर्वमुपाश्रयो दत्तस्तस्मान्निष्कासयन्ति, तथा तस्योपाश्रयस्यालाभे यत् किमपि कष्टं प्राप्नुवन्ति तद्व्यवच्छेदादाननिमित्तमिति शेषः ॥ ३७३ ॥ अथ स्तेनाछेद्यमाह—

तेणो व सजयट्ठा कलुणाणं अप्पणो व अट्ठाए। वोच्छेय पओसं वा न कप्पई कप्पणुन्नायं ॥ ३७४ ॥

स्तेना अपि केचित् संयतान् प्रति भद्रका भवन्ति, संयता अपि दरिद्रसार्थेन सह व्रजन्ति, ततस्तान् भिक्षावेलायां भिक्षामप्राप्नुवतो दृष्ट्वा संयतानामर्थाय यद्वा तस्यात्मनोऽर्थाय तेषां करुणानां—कृपास्थानानां दरिद्रसार्थमनुष्याणां सकाशादाच्छिद्य यद्दाति स्तेनः तत् स्तेनाच्छेद्यं ज्ञेयम्, तत् साधूनां न कल्पते, यतस्तद्ग्रहणे पूर्वोक्तन्यायेनैकानेकसाधूनां भक्तादिव्यवच्छेदः प्रद्वेषश्च जायते, यदि पुनस्ते सार्थिका वक्ष्यमाणप्रकारेणानुजानन्ते तर्हि कल्पते ॥ ३७४ ॥ एतदेव गाथाद्वयेनाह—

सजयभद्दा तेणा आयंती वा असथरे जइणं। जइ देंति न घेतव्वं निच्छुभवोच्छेउ मा होज्जा ॥ ३७५ ॥

घयसत्तुयदिट्ठंतो समणुन्नाया व घेत्तुणं पच्छा। देंति तयं तेसिं चिय समणुन्नाया व भुजंति ॥ ३७६ ॥

इह स्तेना अपि संयतभद्रका भवन्ति, सायवश्च दरिद्रसार्थेन सह कदापि यान्ति, ततस्तेषां साधूनां भिक्षावेलायाम

स्तेनाच्छेद्यनिरोधः।

संस्तरे—अनिर्वाहे ते स्तेनाः स्वग्रामाभिमुखं प्रत्यागच्छन्तो वा शब्दादन्यत्र गच्छन्तो वा यदि तेषां भक्तादि बलादाच्छिद्य ददति, तर्हि न कल्पते, न ग्राह्यं, यतो माऽभूच्चित्तक्षोभः—निष्काशनं मार्गात्, एकानेकसाधूनां भक्तादिव्यवच्छेदः, यदि पुनः सार्थिकैः स्तेना अपि गृहीष्यन्ति, ततो गच्छद्भिर्गृह्यतामिति: भयेनानुज्ञाताः साधवस्तदा तद् गृहीत्वा भक्तादि तत्तेभ्य एव पश्चाददति, यथा तदानीं चौरप्रतिभयादस्माभिर्गृहीतं, अथ ते गता यूयमात्मीयं भक्तादि गृह्णीथेति, एवमुक्तेऽपि यद्यनु जानन्ते युष्मभ्यं दत्तमिति तर्हि भुञ्जते, कश्चिद्द्वितीयगाथायां " घय सत्तुग दिट्ठंतो " इति दृश्यते, तत्र न मार्थिकाः स्तेनैर्बलाद्दाप्यमाना यदि एवं ब्रुवते, यथाऽस्माकं घृतसक्तुदृष्टान्तः, यथा—घृतं सक्तुमध्ये क्षिप्तमपि संयोगाय एवमस्माकं चौरैर्गृहीतव्यम्, ततो यदि चौरा अपि युष्मभ्यं दापयन्ति, ततो महानस्माकं ममाशिरिति अनुज्ञाताः साधवः, शेषं प्राग्वत् ॥ ३७५–३७६ ॥ अथानिसृष्टद्वारमाह—

अणिसिट्ठं पडिकुट्ठं अणुनायं कप्पए सुविहियाणं । लड्डुग चोल्लगजंते संखाडि खीरावणाईसु ॥३७७॥

अनिसृष्टं यदननुज्ञातं तत् प्रतिक्रुष्टं, एतेनान्वयोऽपि भाव(वि)त एव, अनुज्ञातं सुविहितानां कल्पते, तच्चानिसृष्टमनेकधा, मोदके चुल्लके भोजने यन्त्र इति—कोल्हुकादिघाणके सङ्खड्यां क्षीरे आपणादौ च, अयं भावः—इह सामान्येनानिसृष्टं द्विधा-साधारणानिसृष्टं भोजनानिसृष्टं च, तत्र चोल्लकशब्देन भोजनानिसृष्टमुक्तं, शेषभेदैः साधारणानिसृष्टमिति ॥ ३७७ ॥ तत्र मोदकविषयसाधारणानिसृष्टोदाहरणं गाथाचतुष्टयेनाह—

वत्तीसा सामन्ने ते कहिँ ण्हाउ गयत्ति इअ वुत्ते। परसंतिएण पुन्नं न तरसि काउंति पच्चाह ॥ ३७८ ॥
अविय हु वत्तीसाए दिन्नेहिँ तवेगमोयगो न भवे। अप्पवयं बहुआयं जइ जाणसि देहि तो मज्झं ॥३७९
लाभिय नेंतो पुट्ठो किं लद्धं नत्थि पेच्छिमो दाए। इयरोऽवि आह नाहं देमित्ति सहोढ चोरत्ति ॥ ३८०
गिण्हण कड्ढण ववहार पच्छकड्डुड्डाह पुच्छ निव्विसए। अपहुंमि भवे दोसा पहुंमि दिन्ने तओ गहणं॥

(द० २७) रत्नपुरे माणिभद्रप्रमुखा द्वात्रिंशद्वयस्याः साधारणान् मोदकान् कारयित्वोद्यापनिकार्थं गताः, एको मोदकरक्षार्थं मुक्तोऽन्ये स्वेकत्रिंशद्वयस्या स्नातुं गताः, अत्रान्तरे कोऽपि लोलुपसाधुस्तत्रागतो, मोदका याचिताः, आरक्षकेनोक्तं न ममैकस्यैते, किन्तु परेषां एकत्रिंशज्जनानां, ततः कथं ददामि, साधुराह–ते कुत्र गताः ?, नद्यां गताः–नद्यां स्नातुं गता इति तेनोक्ते साधुर्ब्रूते–परसत्केन मोदकसमूहेन त्वं पुण्यं कर्तुं न शक्नोषि ?, पश्चाद्धृति व प्रत्याह साधुरिति, अपि च द्वात्रिंशतमपि मोदकान् यदि मे प्रयच्छसि तथापि तव भागे एक एव मोदको याति, तत एवमल्पव्ययं बह्वाय दानं यदि जानासि तर्हि मह्यं सर्वानपि मोदकान् देहि, तत एवमुक्ते दत्ताः सर्वेऽपि मोदकाः, गृत साधुभाजन, साधुः पश्चाद्वलितः, अत्रान्तरे माणिभद्रादयः सन्मुखमागच्छन्ति, पृष्टश्च साधुस्तैः, किमत्र त्वया लब्धं ?, साधुना च मोदकधनिका इति ज्ञात्वा, नेत्युक्ते, तैर्माराक्रान्तं साधुमालोक्योक्तम्–दर्शय निजभाजनं यथा प्रेक्षामहे, साधुश्च न दर्शयति, बलादालोकिते दृष्टा मोदकाः,

साधिक्षेपमारक्षकः पृष्टः, तेन यथावस्थिते कथिते चौरस्त्वं, सहोढ-सलोप्त्र इदानीं प्राप्तोऽसि, कुतस्ते मोक्ष इत्युक्त्वा बद्धः, गृहीतो वस्त्राञ्चले, कर्पितो बाहुना, पश्चात्कृत इति-गृहीत्वा रजोहरणादिकं गृहस्थीकृतः, तत उड्डाह इति, नीतो राजकुलम्, धर्म्माधिकरणिकानां कथिते तैः पृष्टे च साधुर्लज्जयाऽधोमुख एवास्थात्, चौराणां मौनमेव स्यादिति निर्विषयश्चक्रे, अप्रमावित्थं दोपा भवन्ति, तस्मात् प्रभुदत्तग्रहणं कार्यमिति ॥ ३७८-३८१ ॥

एमेव य जंतंमिवि संखडि खीरे य आवणाईसुं। सामन्नं पडिकुट्ठं कप्पइ घेत्तुं अणुन्नायं ॥ ३८२ ॥

एवमेव मोदकोदाहरणप्रकारेण यन्त्रेऽपि सङ्खड्यामपि क्षीरे च आपणादिषु सामान्यं साधारणं तत् स्वामिभिः सर्वैरप्यनिसृष्टं प्रतिक्रुष्टं, अनुज्ञातं पुनः कल्पते ग्रहीतुम् ॥ ३८२ ॥ अथ चुल्लकद्वारप्रस्तावनां सभेदानाह—

चुल्लत्ति दारमहुणा बहुवत्तव्वंति तं कयं पच्छा। वन्नेइ गुरु सो पुण सामिय हत्थीण विन्नेओ ॥३८३॥

अधुना 'चुल्ल' इति द्वारं व्याख्येयं, तच्च बहुवक्तव्यमिति पश्चात्कृतं, गुरुः तीर्थकरादिर्वर्णयति, स पुनश्चुल्लको द्विधा-स्वामिनो हस्तिनश्च विज्ञेय इति ॥ ३८३ ॥ अथ स्वाम्यनिर्दिष्टमाह—

छिन्नमच्छिन्नो दुविहो होइ अच्छिन्नो निसिट्ठ अणिसिट्ठो। छिन्नंमि चुल्लगंमी कप्पइ घेत्तुं निसिट्ठंमि ॥३८४

छिन्नो दिट्ठमदिट्ठो जो य निसिट्ठो भवे अच्छिन्नो य।

द्विधा चुल्लकः-स्वामिसम्बन्धी छिन्नोऽच्छिन्नश्च, यो बहूनां हालिकानां पृथक् २ भाजने कृत्वा कौटुम्बिकेन प्रेष्यते स

च्छिन्न एकत्रभाजने त्वच्छिन्न इति, अच्छिन्नोऽपि द्विधा–निसृष्टोऽनिसृष्टश्च, कौटुम्बिकेन हालिकैश्चानुज्ञातानुज्ञातत्वात्, तथा छिन्ने शुल्के धनिकेन निसृष्टे गृहीतु कल्पते, तथा छिन्नो यस्य निमित्त तेन कौटुम्बिकेन वा दृष्टोऽदृष्टो वा कल्पते, तथा यश्चाच्छिन्नो योऽपि च्छिन्न, सोऽनुज्ञातोऽन्योऽन्यदीयमानो दृष्टोऽदृष्टो वा कल्पते दर्शन मात्र स्वाम्यपेक्षया ज्ञेय, इयरोत्ति–इतर एतद् व्यतिरिक्तः, पुनश्छिन्नोऽच्छिन्नो वा स्वस्वामिभिरननुज्ञातो दृष्टोऽदृष्टो वा न कल्पते ॥ २८४–½ ॥ एतदेव गाथार्द्धेन वक्ति—

सो कप्पइ इयरो उण अदिट्ठदिट्ठो वऽणुन्नाओ ॥ २८५ ॥

अणिसिट्ठमणुन्नायं कप्पइ घेत्तुं तहेव अदिट्ठं ।

अनिसृष्टमपि पूर्व पश्चादनुज्ञातमिति कल्पते, यथानुज्ञातं सदृष्टमपि ग्रहीतुं कल्पते, दोषाभावात् ॥ २८५–½ ॥ उत्तरार्द्धेन हस्तिशुल्कानिसृष्टमाह—

जड्डस्स य अनिसिट्ठं न कप्पई कप्पइ अदिट्ठं ॥ २८६ ॥

हस्तिनो भक्त मिण्ठेन गजेन वाऽनिसृष्ट न कल्पते, यथा मिण्ठेन स्वस्व भक्तं दीयमान गजेनादृष्ट कल्पते, गजदृष्टे ग्रहणे वक्ष्यमाणोपाश्रयभङ्गादिदोषप्रसङ्गात् ॥ २८६ ॥ अस्यैव विधेरन्यथाकरणे दोषानाह—

निवपिंडो गयमत्तं गहणाई अतराइयमदिन्नं। डुवस्स संतिपावि डु अभिक्ख वसहीएँ फेडणया ॥२८७

छिन्नाच्छिन्नो दृष्टादृष्टो च।

यद् गजभक्तं स राज्ञः पिण्डस्ततो राज्ञाऽननुज्ञातस्य ग्रहणे ग्रहणाकर्षणादयो दोषा भवन्ति, अन्तरायिकं च कर्म्म अदत्तादानं, तथा कुडुम्बस्य–मिण्ठस्य सत्के पिण्डे मिण्ठेन दीयमाने यदि सदा साधुर्गजस्य पश्यतस्तद् गृह्णाति, तदा मदीय कवलमध्यादनेन पिण्डो गृहीत इति कदापि रुष्टो गजस्तं भिक्षुमेव मार्गे प्राप्य मारयेत्, वसतिमुपाश्रयं वा स्फोटयेत् ॥ ३८७ ॥ अथाध्यवपूरकद्वारमाह—

अज्झोयरओ तिविहो जावंति य सघरमीसपासंडे। मूलंमि य पुव्वकये ओयरई तिण्ह अट्ठाए ॥ ३८८

अध्यवपूरकस्त्रिविधः, जावंति य इत्यत्र स्वगृहमिश्रशब्दयोः सम्बन्धनात् स्वगृहयावदर्थिकमिश्रः, सघरमीसत्ति, अत्र साधुशब्दोऽध्याह्रियते स्वगृहसाधुमिश्रः, पासंडे इति, अत्रापि स्वगृहमिश्रशब्दसम्बन्धः स्वगृहपाखण्डिमिश्र इति, मूले–आरम्भ पूर्वे कृते पश्चात्त्रयाणामर्थाय अवतारयति–गृहस्था अधिकतरान् तन्दुलान् प्रक्षिपति, अधिकमवपूरयतीत्यध्यवपूरक इत्यन्वर्थः ॥ ३८८ ॥ अथाध्यवपूरकमिश्रजातयोर्भेदं दर्शयति—

तंडुलजलआयाणे पुप्फफले सागवेसणे लोणे। परिमाणे नाणत्तं अज्झोयरमीसजाए य ॥ ३८९ ॥

अध्यवपूरकमिश्रजातयोर्नानात्वं भेदस्तन्दुलपुष्पफलशाकवेसनलवणानामादाने–आदानकाले यत् परिमाणं तेन द्रष्टव्यम्, तथाहि मिश्रजाते पूर्वमेव स्थाल्यां प्रभूतं जलमारोप्यते, अधिकतराश्च तन्दुलाः कण्डनादिभिरुपक्रम्यन्ते, इत्थं फलादिकमपि भाव्यम्, अध्यवपूरके तु पूर्वं स्तोकमेव तन्दुलादिर्गृह्यते, पश्चादधिकप्रक्षेप इति भावः ॥ ३८९ ॥ अध्यव-

अध्यवपूरकस्य कल्प्याकल्प्यविधिमाह—

जावंतीए विसोही सघरपासडि मीसए पूई । छिन्ने विसोही दिन्नंमि कप्पइ न कप्पई सेसं ॥ ३९० ॥

यावदर्थिके-स्वगृहयावदर्थिकमिश्रेऽध्यवपूरके विशोधिकोटिस्तावन्मात्रे शुद्धभक्तादपनीते शेषस्य शुद्धिरित्यर्थः, स्वगृहपाखण्डिमिश्रे उपलक्षणत्वात्, स्वगृहसाधुमिश्रे च शुद्धभक्तमध्यपतिते पूतिर्भवति, तथा विशोधिकोटौ यावत् कणाः पश्चाद्विक्षिप्तास्तावन्मात्रे छिन्ने-पृथक्कृते भजना, यद्वा कार्पटिकादिभ्यो दत्ते शेषं कल्पते, साधूनां शेषं स्वगृहपाखण्डिमिश्रं स्वगृहसाधुमिश्र-चाध्यवपूरकं न कल्पते ॥ ३९० ॥ अथ " जावंतिए विसोही " (गा० ३९०) इति व्याख्यानयति—

छिन्नंमि तओ उक्कड्डियमि कप्पइ पिहीकए सेसं । आहावणाए दिन्न च तत्तियं कप्पए सेसं ॥ ३९१ ॥

एषा गाथा क्वापि न दृश्यते इति पूर्णा ज्ञेया, यावत् क्षिप्तं तावन्मात्रे छिन्ने-पृथक्कृते उत्कर्षिते-उत्पाटिते पृथक्कृते-बहिर्निष्काशिते शेषं [redacted] साधूनां कल्पते । छिन्नादि बहूनि पदानि मन्दमत्यवबोधनाय तथा आमावनया-उद्देशेन न तु भिक्षादिपरिगणनेन यदि तावन्मात्रं कार्पटिकादिभ्यो दत्तं स्यात्, [redacted] शेषं कल्पते ॥ ३९१ ॥ अथोद्गमदोषाणां निगमनमाह—

एसो सोलसभेओ, दुहा कीरइ उग्गमो । एगो विसोहिकोडी, अविसोही उ चावरा ॥ ३९२ ॥

१ एषा गाथा मलयगिरिपादैः व्याख्यातैव (११६ तमे पत्रे मुद्रिता, गा० ३९१) ।

अध्यव-
पूरकस्य
कल्प्या-
कल्प्य-
विधिः ।

एष षोडशभेद उद्गमः सामान्येन द्विधा क्रियते, एका विशोधिकोटिरविशोधिकोटिश्चापरा ॥ ३९२ ॥

आहाकम्मुद्देसिय चरमतिगं पूइ मीसजाए य । बायरपाहुडियावि य अज्झोयरए य चरिमदुगं ॥३९३॥

आधाकर्म्म १, औद्देशिकस्यान्त्यभेदत्रयं २, पूतिर्भक्तपानरूपा ३, मिश्रजातं–पाखण्डिगृहमिश्रसाधुगृहमिश्ररूपं ४, बादरप्राभृतिका ५, या अध्यवपूरकस्य चरमद्विकं ६, एते उद्गमदोषा अविशोधिकोटिः ॥ ३९३ ॥ तत्र दोषमाह—

उग्गमकोडी अवयव लेवालेवे य अकयए कप्पे । कंजियआयामगचाउलोयसंसट्ठपूईओ ॥ ३९४ ॥

उद्गमकोट्या–अविशोधिकोट्या अवयवेन–शुष्कसिक्थादिना लेपेन–तक्रादिना अलेपेन–वल्लचनकादिना संस्पृष्टं यद्भक्तं तस्मिन्नुज्झितेऽपि अकृतकस्य त्रये यच्छुद्धमपि गृह्यते तत् पूतिरिति, अथ कोऽपि मतिदौर्बल्यादेकमोदनमेवाधाकर्म्म मन्यते न शेषमवश्रावणादिकं तदभिप्रायनिराकरणार्थमाह–किंजि इत्यादि, साध्वर्थमोदने निष्पाद्यमाने काञ्जिकाद्यप्याधाकर्म्मैव, तदवयवरूपत्वात्, ततः काञ्जिकेन आयामेन तन्दुलोदकेन च यत् संस्पृष्टं तदपि पूतिर्भवति ॥ ३९४ ॥ गाथात्रयेण भाष्यकृदेतदेव व्याख्यानयति—

सुक्केणऽवि जं छिक्कं तु असुइणा धोवए जहा लोए । इह सुक्केणऽवि छिक्कं धोवइ कमेण भाणं तु ? ॥२८॥

लेवालेवत्ति जं वुत्तं, जंपि दव्वमलेवडं । तंपि घेत्तुं ण कप्पंति, तक्काइ किमु लेवडं ? ॥ भा० २९ ॥

आहाय जं कीरइ तं तु कम्मं, वज्जेहिही ओयणमेगमेव ।

सोवीर आयामग चाउलो वा, कम्मंति तो तग्गहणं करेंति ॥ भा० ३० ॥

सुगम, नवरमाद्यगाथायामवयव इति व्याख्यात, द्वितीयायां लेवालेवत्ति, तत्राय भावार्थः—यदपि वल्लचनकादिद्रव्यमलेपकृत्, तदपि प्रथममनाभोगादिकारणतः पात्रे गृहीत्वा पश्चात्कथमपि परिज्ञाते परित्यज्य पात्र कल्पयन्ति—कल्पत्रयेण प्रक्षालयन्ति, किं पुनस्तक्रादिक लेपकृद् गृहीत्वा, तत्र सुतरां प्रक्षालन कर्त्तव्यमिति परिज्ञापनार्थं इत्युक्तम्, तथा यदेव साधूनाथाय क्रियते तदेवाधाकर्म्म नान्यदिति बुद्ध्या, वर्जयिष्यन्ति शिष्या ओदनमेवैकं, न शेष तन्दुलोदकादिक, ततो गुरवो भद्रबाहुस्वामिनः सौवीरायामतन्दुलोदकान्याधाकर्म्मेति परिज्ञापनार्थं तद् ग्रहणं—सौवीरादि ग्रहण विशेषतः कुर्वन्ति ॥ २८–३० ॥ तदेवमविशोधिकोटिरुक्ता, अथ विशोधिकोटिमाह—

उद्गमे विशोधिकोटिः ।

सेसा विसोहिकोडी भत्त पाणं विगिंच जहसत्ति । अणलक्खिय मीसदवे सव्वविवेगेऽवयवसुद्धो ॥३९५॥

अविशोधिकोटिव्यतिरिक्ताः शेषभेदादि विशोधिकोटिः, उक्तम्—" उद्देसियमि नवग उवगरणे जं च पूइयं होइ । जावंतिय मीसगय च अज्झोयरए य पढमपय ॥ १ ॥ परियट्टिए अभिहडे उब्भिन्ने मालोहडे इय । अच्छिज्जे अणिसिट्ठे पाओयर कीय पामिच्चे ॥ २ ॥ सुहुमा पाहुडियावि य ठवियगपिंडो य जो भवे दुविहो । सव्वोवि एस रासी विसोहिकोडी मुणेयव्वो ॥ ३ ॥ " अत्र विधिमाह—'विगिंच'त्ति, अनया विशोधिकोट्या यत्तत्स्पृष्टं भक्तादि तद्यथाशक्ति 'विगिंच' त्यज सर्वभक्त तावन्मात्र चेत्यर्थः, यदि पुनरलक्षितेन सदृशवर्णगन्धादितया पृथक् परिज्ञातुमशक्येन मिश्रित भवति,

यद्वा द्रव्येण–तक्रादिना अन्यत्तक्रादि तदा सर्वस्यापि तस्य विवेकः, कृतेऽपि सर्वात्मना विवेके यदि केऽपि सूक्ष्मा अवयवा लग्ना भवन्ति, तथापि तत्र पात्रे अकृतकल्पे भक्तादिगृह्णन् शुद्धो यतिरिति ॥ ३९५ ॥ अथ चतुर्धा विवेकैः स्यादित्याह—

दव्वाइओ विवेगो दव्वे जं दव्व जं जहिं खेत्ते। काले अकालहीणं असढो जं पस्सई भावे ॥ ३९६ ॥

द्रव्यादिको–द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदाच्चतुर्द्धा विवेकः, तत्र यद्द्रव्यं त्यजति स द्रव्यविवेकः, तथा परिष्ठाप्यं यत्र क्षेत्रे त्यज्यते स क्षेत्रविवेकः, यद्विशोधिकोटिदुष्टमकालहीनं शीघ्रं परित्यज्यते स कालविवेक इति, अशठोऽरक्तद्विष्टः सदोषं भक्तादि दृष्ट्वा त्यजति स भावविवेक इति ॥ ३९६ ॥ अथात्र विशोधिकोटौ चतुर्भङ्गीमाह—

सुक्कोल्लसरिसपाए असरिसपाए य एत्थ चउभंगो। तुल्ले तुल्लनिवाए तत्थ दुवे दोन्नऽतुल्ला उ ॥३९७॥

अत्र शुष्कस्य आर्द्रस्य च सदृशोऽन्यवस्तुनि मध्यपाते सति, तथा असदृशे वस्तुनि पाते सति चतुर्भङ्गी, तथा दर्शयति–'तत्थ'त्ति, तत्र तुल्ये तुल्यनिपाति द्वौ प्रथमचतुर्थभङ्गौ लब्धौ, द्वौ च भङ्गौ द्वितीयतृतीयौ अतुल्यात् प्रक्षिप्यमाणाल्लब्धौ, तथा हि–शुष्के शुष्कं शुष्के आर्द्रं आर्द्रे शुष्कं आर्द्रे आर्द्रमिति ॥ ३९७ ॥ अथोद्धरणविधिमाह—

सुक्के सुक्कं पडियं विगिंचिउं होइ तं सुहं पढमो। बीयंमि दवं छोढुं गालंति दवं करं दाउं ॥ ३९८ ॥

तइयंमि करं छोढुं उल्लिंचइ ओयणाइ जं तरइ। दुल्लहदव्वं चरिमे तत्तियमित्तं विगिंचंति ॥ ३९९ ॥

शुष्के शुष्कं पतन्ति तत् परित्यक्तुं सुखं भवति एष प्रथमो भङ्गः, द्वितीये भङ्गे द्रव्यं प्रभूतं मध्ये क्षिप्तान्यपात्रकर्णैकदेशे

कोटि-प्रकाराः।

शुद्धभक्तपानरक्षणार्थं कर दत्वा सर्वं द्रव्य मालयन्ति, तृतीये भङ्गे भाजनमध्ये कर धित्वा यावन्मात्र शक्नोति तावन्मात्र-मुच्छिन्नति–आकर्षति, चरिमे भङ्गे दुर्लभद्रव्ये सति तावन्मात्रमुद्देशतस्त्यजन्ति ॥ ३९८–३९९ ॥

सथरे सबमुज्झति, चउभंगो असथरे। असढो सुज्झई जेसु, मायावी जेसु वज्झई ॥ ४०० ॥

संस्तरे–निर्वाहे सति सर्वं त्यजन्ति, असंस्तरे–अनिर्वाहे चत्वारो भङ्गास्तेषु भङ्गकेषु अशठः शुद्ध्यति मायावी येषु च बध्यते ॥ ४०० ॥ अथ संक्षेपतः कोटीकरणमाह—

कोडीकरणं दुविहं उग्गमकोडी विसोहिकोडी य। उग्गमकोडी छक्क विसोहिकोडी अणेगविहा ॥४०१॥

कोटीकरण द्विविध–उद्गमकोटिर्विशोधिकोटिश्च, तत्रोद्गमकोटिः षट्क आधाकर्माद्यविशोधिकोटिरूप, विशोधिकोटिः पुनरनेकविधा ॥ ४०१ ॥ अथ प्रकारान्तरेण कोटीः प्रतिपादयति—

नव चेव अट्ठारसगं सत्तावीसा तहेव चउ पन्ना। नउइ दो चेव सया उ सत्तरी होइ कोडीणं ॥४०२॥

स्वयं हननमन्येन घातन अनुमोदन च, तथा स्वयं पचन पाचनमन्येनानुमोदन, तथा स्वयं क्रयणं क्रापणमनुमोदन चेति, इहाद्याः षडविशोधिकोटयोऽन्तिमास्तु तिस्रो विशोधिकोटयः, एता अपि नव कोटीः कोऽपि रागेण कोऽपि द्वेषेण सेवते, ततो द्विगुणिता अष्टादश भवन्ति, तथा मिथ्यात्वाज्ञानाविरतिरूपेण त्रिकेण नव गुणिताः सप्तविंशतिर्भवति, रागद्वेषौ त्वत्र न विवक्षितौ, यदा तद्विवक्षा तदा सप्तविंशतिर्द्विगुणाश्चतुःपञ्चाशद्भवति, तथा नवकोटयः कदापि क्षान्त्यादि दशविधधर्म

पालनार्थं सेव्यन्ते, यथा दुर्भिक्षे कान्तारे चाऽनेन फलादिना स्वदेहं धृत्वा क्षान्त्यादिकं पालयामीत्यादि, ततो नव दश गुणिता जाता नवतिः, एषा नवतिर्ज्ञानदर्शनचारित्ररूपेण त्रिकेन गुणिता द्वे शते सप्तत्यधिके कोटीनां भवन्ति इति, उक्तञ्च— " रोगाई मिच्छाई (रागाई) समणधम्म नाणाई । नवे नवे सत्तावीसा नव नउईए उ गुणकारा ॥ १ " ॥ ४०२ ॥ अथोद्गमदोषाणां वक्ष्यमाणोत्पादनादोषाणां च सम्भवमाह—

सोलस उग्गमदोसे गिहिणो उ समुट्ठिए वियाणाहि । उप्पायणाए दोसे साहूउ समुट्ठिए जाण ॥४०३॥

षोडश उद्गमदोषान् गृहिणः सकाशादुत्थितान् विजानीहि, उत्पादनादोषान् साधोः सकाशादुत्थितान् जानीहि ॥४०३॥ अथोत्पादनाद्वारे पूर्वमुत्पादनामाह—

णामं ठवणादविए भावे उप्पायणा मुणेयवा । दवंमि होइ तिविहा भावंमि उ सोलसपया उ ॥४०४॥

नामस्थापनाद्रव्यभावभेदादुत्पादना चतुर्विधा ज्ञातव्या, नामस्थापने सुगमे, द्रव्ये सचित्ताचित्तमिश्रभेदात्त्रिधा भवति, भावे प्रशस्ताप्रशस्तविवक्षायां ज्ञानादीनि प्रशस्तानि अप्रशस्तानि षोडशपदा ॥ ४०४ ॥ अथ सचित्तद्रव्योत्पादनमाह—

आसुयमाइएहिं वालचियतुरंगवीयमाईहिं । सुयआसदुमाईणं उप्पायणया उ सच्चित्ता ॥ ४०५ ॥

सुताश्वद्रुमादीनां द्विपदचतुष्पदापदरूपाणां, यथा सद्व्यमाप्र्यादिभिराद्यं औपयाचितकं, आदिशब्दाद्घाटकजलादिपरिग्रहः, तथा वालचित्ततुरङ्गबीजादिभिस्तत्र वालैः—केशरोमादिभिश्चितो—व्याप्तः पुरुष इति, यावत्तुरङ्गबीजे च प्रसिद्धे, तैर्या

उत्पादना, तथाहि–केनचिन्निजभार्यायाः पुत्रासम्भवे देवताया औपयाचितकेन ऋतुकाले स्वसंप्रयोगेण च सुत उत्पाद्यते, तथा हि निजघोटिकायां मातृकप्रदानेन परघोटकमारोप्य तुरङ्ग उत्पाद्यते, तथा जलसेकेन बीजारोपणेन द्रुमवल्ल्यादिश्च, सा सचित्तद्रव्योत्पादना ॥ ४०५ ॥ अचित्तमिश्रद्रव्योत्पादने आह—

कणगरययाइयाणं जहेट्ठधाउविहिया उ अच्चित्ता । मीसा उ समंडाण दुपयाइकया उ उप्पत्ती ॥४०६

कनकरजतादीनां यथेष्टधातुविहिता अचित्ता, तथा या द्विपदादीनां दासादीनां समाण्डानां सालङ्कारादीनां चेतनप्रदानेनास्मीयत्वेनोत्पत्तिः कृता सा मिश्रा द्रव्योत्पादना ॥ ४०६ ॥ अथ भावोत्पादनामाह—

भावे पसत्थ इयरो कोहाउप्पायणा उ अपसत्था । कोहाइजुया धायाइणं च नाणाइ उ पसत्था

भावे उत्पादना द्विविधा–प्रशस्ता इतरा च, यत्र क्रोधादियुता धात्रीत्वादीनामुत्पादना साऽप्रशस्ता, ज्ञानादीनां च प्रशस्ता ॥ ४०७ ॥ इहाप्रशस्तयाऽधिकारः, सा च षोडशभेदाः, तानेवाह—

धाई दूइ निमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छा य । कोहे माणे माया लोभे य हवंति दस एए ॥४०८

पुव्विं पच्छा संथव विज्जा मंते य चुन्न जोगे य । उप्पायणाइ दोसा सोलसमे मूलकम्मे य ॥४०९॥

सुगमम् ॥ ४०८–४०९ ॥ अथ धात्रीदोषं प्रकटयन् पूर्वं धात्रीभेदानाह—

खीरे य मज्जणे मंडणे य कीलावणकधाई य । एक्केक्कावि य दुविहा करणे करावणे चेव ॥ ४१० ॥

उत्पादनायां अचित्तमिश्रभावोत्पादनाः ।

क्षीरे–स्तन्यपाने मज्जने मण्डने क्रीडापने अङ्के–उत्सङ्गसु(पु)त्रधारणे ? धात्रीशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते, एवं पञ्चधा धात्री, एकैका पुनर्द्विधा स्यात्, करणे कारणे च, यथा कापि स्वयं स्तन्यं पाययति, काचिच्चान्यया पाययति ॥ ४१० ॥ अथ धात्रीशब्दनिष्पत्तिमाह—

धारेइ धीयए वा धयंति वा तमिति तेण धाई उ । जहविहवं आसि पुरा खीराई पंच धाईओ ॥४११॥

धारयति बालकं धीयते भाटकदानेन धि(धी)यते पोष्यते वा, यद्वा धयन्ति–पिबन्ति बालकास्तामिति धात्री, ताश्च धात्र्यो यथा विभवं परा–पूर्वं क्षीरादिकाः पञ्च आसन् ॥ ४११ ॥ अथ गाथोः स्तन्यदापनधात्रीत्वं वक्ति—

खीराहारो रोवइ मज्झ कयासाय देहि णं पिज्जे । पच्छा व मज्झ दाही अलं व भुज्जो व एहामि ॥४१२॥

कोऽपि भिक्षागतो बालकं रुदन्तं दृष्ट्वा जननीमाह–अयं बालोऽद्यापि क्षीराहारो रोदिति तस्मान्मह्यं कृताशाय शीघ्रं भिक्षां देहि पश्चादेनं बालकं स्तन्यं पायय, यद्वा मह्यं पश्चाद्देहि, यद्वा अलं–पूर्णं मे सम्प्रति भिक्षया भूयोऽपि भिक्षार्थमहमेष्यामि ॥ ४१२ ॥ तथा—

मइमं अरोगि दीहाउओ य होइ अविमाणिओ बालो । दुल्लभयं खु सुयमुहं पिज्जाहि अहं व से देमि ४१३

बालोऽविमानितो–ऽनपमानितो मतिमानरोगी दीर्घायुश्च स्यात्, तथा ' दुर्लभं खलु लोके सुतमुखं ', तस्मात् सर्वाण्यपि कर्म्माणि मुक्त्वा त्वमेनं बालकं स्तन्यं पायय, यदि त्वं न पाययसि तर्हि अहमस्मै क्षीरं ददामि ॥ ४१३ ॥ अत्र दोषमाह—

अहिगरण भद्दपंता कम्मुदय गिलाणए य उड्डाहो। चडुकारी य अवन्नो नियगो अन्नं च णं सके ॥४१४

यदि माता भद्रा तदाऽऽधाकर्म्मादधिकरणं करोति, अथ प्रान्ता तर्हि प्रद्वेष च, अथ कर्म्मोदयाद्बालस्य ग्लानत्वे उड्डाहः प्रवचनस्य, तथा चाटुकारीति लोकेऽवर्णः, तथा निजको-भर्त्ता अन्यद्वा-मैथुनादिकं णमित्यलङ्कारे, तादृशसाधुवचनश्रवणतः शङ्कते-सम्भावयति ॥ ४१४ ॥

अयमवरो उ विकप्पो भिक्खायरि सड्ढि अद्धिई पुच्छा। दुक्खसहाय विभासा हियं मे धाइत्तणं अज्ज

वयगंडथुल्लतणुयत्तणेहिं तं पुच्छिउं अयाणंतो। तस्स गओ तस्समक्खं भणाइ तं पासिउं बालं ॥४१६

अयमपरो विकल्पो धात्रीकरणे, यथा-भिक्षाचर्यां प्रविष्टेन साधुना काचित् श्राद्धिका अधृति-धृतिरहिता दृष्टा पृष्टा, तयोक्त यो दुःखसहायो भवति तस्मै निवेद्यते, साधुराह-अहं सहायो दुःखस्येति, साऽऽह-अद्य मम धात्रीत्वं अमुकगृहे हृत-स्फेटितं, साधुराह-मा विषादं कुर्विति, तथाऽभिनवस्थापिताया धात्र्या वयः-तारुण्यं जरा वा, गण्डावपि-स्तनापरपर्यायो कीदृशौ शरीरे किं किं स्थूलस्य कृशस्य वा अजानानः पृच्छति, तत एव दृष्ट्वा तत्र बालसत्के गृहे गतस्तं बालकं दृष्ट्वा तत् समक्ष-गृहस्वाम्यादिप्रत्यक्षं भणति ॥ ४१५-४१६ ॥ किं तदित्याह—

अहुणुट्ठिय व अणाविक्खियं व इणम कुलं तु मन्नामि।
पुन्नेहिं जहिताए (जदिच्छाए) तरई बालेण सूयमो ॥ ४१७ ॥

उत्पाद-
नायां
१ धात्री,
दोषः।

अहं मन्ये-इदं युष्मदीयं कुलं अधुनोत्थितं-सम्प्रत्येवेश्वरीभूतं, धात्रीलक्षणापरिज्ञानात्, यद्वा अनवेक्षितं-अपरिभावितं महत्तरपुरुषैः, तेन या वा सा वा धात्रीति, एतच्च बालेन दृष्टेन सूचयामो-लक्षयामः, यदीदृशं कुलं धरते (तरति)-क्षेमेण वर्तते तन्मन्ये पुण्यैर्यदृच्छया एवमेव वेति ॥ ४१७ ॥ साधुनेत्युक्ते जनको जननी वा पृच्छति, के दोषा धात्र्या ? इति, साधुराह—

थेरी दुब्बलखीरा चिमिढो पेल्लियमुहो अइथणीए । तणुई उ मंदखीरा कुप्परथणियाएँ सूइमुहो ॥४१८

स्थविरा धात्री दुर्बलक्षीरा अतिस्तनी-दीर्घस्तनोपेता तस्याः स्तन्यं पिबन् स्तनेन प्रेरितमुखः-चम्पितमुखावयवोष्ठनासिकश्चिपिटिनासिको भवति, कृशा तु मन्दक्षीरा, तथा या कर्पूरस्तनी तस्याः स्तन्यपाने बालः शूचीमुखो जायते ॥ ४१८ ॥

जा जेण होइ वन्नेण उक्कडा गरहए य तं तेणं । गरहइ समाण तिवं पसत्थमियरं च दुवन्नं ॥ ४१९ ॥

या नूतना येन वर्णेन उत्कटा भवति तां तेन वर्णेन गर्हते, यथा "कृष्णा प्रशंसति वर्णं, गौरी तु बलवर्जिता । तस्माच्छयामा भवेद्धात्री, बलवर्णैः प्रशंसिता ॥ १ ॥" इत्यादि, तथा यामभिनवस्थापितां गर्हते सा चेत् समानवर्णा तर्हि चिरन्तनीं तीव्रं-अतिशयेन प्रशस्तवर्णां श्लाघते इतरां नवीनां दुर्वर्णां वेति ॥ ४१९ ॥ एवं प्रोक्ते साधुना पुरातनीं धारयति गृही नूतनां त्यजति, ततः को दोष इत्याह—

उव्वट्टिया पओसं छोभग उब्भामओ य से जं तु । होज्जा मज्झावि विग्घो विसाइ इयरी वि एमेव ॥४२०॥

उद्वर्त्तिता-निष्कासिता साधौ प्रद्वेषं करोति, तथा च सति छोभगं दद्यात्, यथाऽन्यमुद्भामको जारोऽनया धात्र्या सह

तिष्ठती'ति, से-तस्य साधोर्यत् प्रद्वेषवशात् कर्त्तव्यम् नथादि तत् करोति, या चिरन्तनी सापि कदाचिदेव चिन्तयेत्, यथैषा तस्या धात्रीत्वनिरासः कृत एवमेव रुष्टे सति ममापि विशो-धात्रीत्वपरित्याजनरूपः करिष्यतेऽनेनेति, एवं चिन्तयित्वा मारणाय विषादिकं प्रयुञ्जीत ॥ ४२० ॥ अथ शेषधात्रीदोषानाह—

एमेव सेसियासुवि सुयमाइसु करणकारणं सगिहे। इड्ढीसुं धाईसु य तहेव य उव्वाढियाण गमो ॥४२१॥

एवमेव क्षीरधात्रीवत् शेषाणामपि मज्जनादिधात्रीणां सुतमातृकल्पानां स्वयं करणं कारणं चान्यया तत् स्वगृहे-बाल गृहे गतः, साधुर्यथा करोति तथा वाच्यम्, दोषाश्च वक्तव्याः, तथा ऋद्धिषु-ऋद्धिमत्सु ईश्वरगृहेषु अभिनवस्थापितानां मज्जनादिधात्रीणां धाईसु चि-धात्रीत्वेभ्य उत्सर्पितानां योग 'उव्वाढिया पओसं' इत्यादिरूपः स सकलोऽपि तथैव ॥ ४२१ ॥ अतिसङ्क्षिप्तमिदमिति विशेषमाह—

धात्रीणां दोषाः।

लोलइ महीऍ धूलीऍ गुंडिओ ण्हाणि अहव णं मज्जे। जलभीरु अबलनयणो अइउप्पिलणे अ रत्तच्छो ॥

एष बालो मह्यां लोलति-लोटते ततो धूल्या गुण्डितो वर्त्तते तस्मात् स्नापय, एतत् मज्जनधात्रीत्वस्य कारणं, अथ त्व न प्रपारयसि तदाऽहं स्नापयामि, एतत् स्वयं करणं, अथ मूलधात्रीदोषोद्भावनं पूर्वधात्र्या निमन्त्रितो यथा करोति, तथाऽऽह-अतिशयेनोत्प्लावनेन-प्रभूतजलप्लावनेन बालो गुरुजातो नद्यादौ जलप्रवेशे जलभीरुर्भवति, तथा निरन्तरजलेनोत्प्लाव्यमानोऽबलनयनो ऽबलदृष्टिर्जायते रक्ताक्षश्च, यदि पुनः सर्वथा न मज्जते तर्हि शरीरं 'न' बलमाप्नोति, एषा च धात्री

बालमतिबलोत्प्लावनेन मज्जयति, ततः पूर्वोक्ता दोषास्तस्मान्नैषा धात्री युक्ता, इत्युक्ते गृही नूतनधात्रीं स्फेटयित्वा चिरन्तनीमेव कुरुते, तथा " उवट्टि " इत्यादि दोषाः, एवं सर्वत्र ॥ ४२२ ॥ अथ मज्जनधात्री कथंभूतं बालं मण्डनधात्र्याः समर्प्पयति तदाह—

अब्भंगिय संवाहिय उवट्टिय मज्जियं च तो बालं । उवणेइ मज्जधाई मंडणधाईए सुइदेहं ॥ ४२३ ॥

स्नेहेनाभ्यञ्जितं हस्ताभ्यां सम्वाधितं पिष्टकादिना उद्वार्त्तितं ततो मज्जितं बालं शुचीभूतदेहं कृत्वा मज्जनधात्री मण्डनधात्र्याः समर्प्पयति ॥ ४२३ ॥ अथ मण्डनादिधात्रीत्वस्य करणाद्याह—

उसुआइएहिं मंडेहिं ताव णं अहव णं विभूसेमि। हत्थिच्चगा व पाए कया गलिच्चा व पाए वा ॥४२४॥

इषु–इषुकाकारमाभरणं केऽपि तिलकमिति, इत्यादिविभूषणैरेनं बालकं मण्डय, अथ त्वं न प्रपारयसि तदाहं विभूषयामि इति साधोः करणं कारणं च, अथ दोषानाह–हस्तयोग्यानि आभरणानि पादे कृतानि गलसत्कानि पादे कृतानि, शेषं प्रागिव सर्वम् ॥ ४२४ ॥ अथ क्रीडनधात्र्या दोषाद्याह—

ढड्ढरसर छुन्नमुहो मउयगिरो मउयमम्मणुल्लावो । उल्लावणगाईहिँ व करेइ कारेइ वा किड्डं ॥४२५

एषाऽभिनवक्रीडनधात्री ढड्ढरस्वराः, ततस्तस्याः स्वरमाकर्ण्य बालो छुन्नमुखः–क्षीणमुखो भवति, अथ(वा) मृदुगीर्यदि वा मृदुमन्मनो इत्यादि शेषं प्रागिव, तथा बालमुल्लापनादिभिः स्वयं क्रीडां कारयति अनन्या वा कारयति ॥ ४२५ ॥

अथाङ्कधात्रीदोषमाह—

थुल्लीएँ वियडपाओ भग्गकडीसुक्कडाए दुक्खं च । निम्मंसकक्खडकरेहिँ भीरुओ होइ घेप्पंते ॥४२६॥

स्थूलया-मांसलया कट्यां ध्रियमाणो बालो विकटपादो भवति, परस्परबह्वन्तरालचरण इत्यर्थः, भग्नकट्याः कट्यां वा दुःखं तिष्ठति, निर्मांसकर्कशकराभ्यां ध्रियमाणो भीरुः स्यादिति, करणकारणादिस्वयमभ्यूह्यम् ॥ ४२६ ॥ अथ धात्रीत्वस्य करणे दोषं दृष्टान्तेनाह (द० २८)—

कोल्लइरे वत्थव्वो दत्तो आहिंडओ भवे सीसो । अवहरइ धाइपिंडं अगुलिजलणे य सादिव ॥४२७॥

कोल्लकिरे नगरे वार्द्धके श्रीसङ्गमस्थविराः, तैरन्यदा दुर्भिक्षे सिंहाभिधानः स्वशिष्य आचार्यपदे स्थापयित्वा सकलगच्छयुक्तः सुभिक्षे देशे प्रेषितः, स्वयं चैकाकी तत्र स्थितो यतनया, यतना चतुर्धा-द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात्, तत्र द्रव्यतः पीठफलकादिषु, क्षेत्रतो वसतिपाटकेषु, कालत एकत्र पाटके मासं स्थित्वा द्वितीयमासेऽन्यपाटके स्थिते, भावतः सर्वत्र निर्ममत्व, ततश्च किञ्चिदूने वर्षे शुद्धिनिमित्तं सिंहाचार्यप्रेषितो दत्तनामा शिष्यस्तत्रागतः, पूर्वं यत्र मुक्तास्तत्रैव दृष्टाः, ततोऽयं दृष्टास्तेनामी भावतोऽपि मासकल्पं न कुर्वन्तीति न शिथिलैः सहैकत्र वासो युक्त इति बहिर्मण्डपिकायामुत्तीर्ण इति, ततो वन्दिता सूरयः, क्रमेण भिक्षार्थं सूरिभिः सहान्तप्रान्तकुलेषु प्रविवेश, नीरसभिक्षया विच्छायवदनमालोक्य सूरिराढ्यगृहे गत्वा व्यन्तर्यधिष्ठितं बालं रुदन्तं चप्पुटिकावादनेन पूतनाव्यन्तरीमुक्तं विधाय गृहनायकं तोषयित्वा मोदकान(न्)

दत्ताय दत्त(दापित)वान्, हृष्टो दत्तः, संध्यायां च सूरिणोक्तं–आलोचय धात्रीपिण्डं चिकित्सापिण्डं च, स प्राह–युष्माभिः सहाहं विहृतः, कथं मे दोषसङ्ग? इति, चप्पुटिकया बालक्रीडनेन क्रीडनधात्रीपिण्डो, बालस्य पूतनाव्यन्तरीतो मोचितत्वाच्चिकित्सापिण्डरित्युक्ते सूरिभिः स चिन्तयति, अहो स्वयं सदैवमाहारं गृह्णाति, मम चैकदिनेऽप्यालोचनां दत्ते, ततः प्रद्वेषतो वसतेर्बहिःस्थितः, ततः सूरिगुणाऽऽवर्जितया देवतया तस्य शिक्षार्थं वसतावन्धकारं सवातं च वर्षं विकुर्वितं, ततः स भयभीतः सूरीनाह–कुत्राहं व्रजामि, तैश्चातिनिर्मलैरभाणि–वत्स! एहि वसतौ प्रविशेति, दत्त आह–भगवन्न पश्यामि अन्धकारे द्वारमिति, ततोऽनुकम्पया श्लेष्मणा सूरिभिर्निजाङ्गुलिरुद्धृत्य ऊर्द्धीकृता, सा च दीपशिखेव ज्वलितं प्रवृत्ता, ततः स दुरात्माऽचिन्तयत्–अहो एतस्य परिगृहे वह्निरप्यस्ति, एवं च चिन्तयन् देवतया ताडितः, सूरयः क्षामिता दत्तेन। सुगमं सूत्रम्, नवरं सादिव्वं–देवताप्रातिहार्यम् ॥ ४२७ ॥ एतदेव गाथाद्वयेन भाष्यकृदाह—

ओमे संगमथेरा गच्छ विसज्जंति जंघबलहीणा। नवभाग खेत्त वसही दत्तस्स य आगमो ताहे॥भा० ३१

उवसयबाहिं ठाणं अन्नाउंछेण संकिलेसो य। पूयणचेडे मा रुय पडिलाभण वियडणा सम्मं॥भा०३२

एतच्च गाथाद्वयं व्याख्यातः प्राय एव, केवलं 'पूयणचेडे'ति, पूतना–दुष्टव्यन्तरी तया गृहीते चेटे–बाले मा रोदीरिति, विकटना–आलोचनम् ॥ ३१–३२ ॥ अथ दूतीद्वारमाह—

सग्गाम परग्गामे दुविहा दूई उ होइ नायव्वा। सा वा सो वा भणई भणइ व तं छन्नवयणेणं ॥ ४२८॥

दूती द्विधा–स्वग्रामे परग्रामे च, सा चैकैका द्विधा–प्रकटा छन्ना च, तत्र सा तव माता स वा तव पिता एव भणति–एवं सन्देशं कथयति, सा प्रकटा, या तु त सन्देशं छन्नवचनेन कथयति सा छन्ना ॥ ४२८ ॥ एतदेव व्यक्तमाह–

एक्केक्कावि य दुविहा पागड छन्ना य छन्न दुविहा उ। लोगुत्तरि तत्थेगा बीया पुण उभयपक्खेऽवि॥४२९

एकैका पुनर्द्विधा–प्रकटा छन्ना च, छन्ना पुनरपि द्विधा–एका लोकोत्तरे, सङ्घाटक साधोरपि, द्वितीयोभयपक्षेऽपि ॥४२९॥ अथोभयथा प्रकटां दूतीमाह–

भिक्खाई वच्चते अप्पाहणि नेइ खत्तियाईणं। सा ते अमुगं माया सो व पिया ते इमं भणइ ॥४३०॥

भिक्षादौ व्रजन्–स्वग्रामे परग्रामे वा जनन्यादीनां अप्पाहणि–सन्देशं कथयति, सा ते माता स च ते पिता इद भणति ॥ ४३० ॥ [redacted] स्वग्रामे लोकोत्तरच्छन्नदूतीमाह–

दूइत्तं खु गरहियं अप्पाहिउ बिइयपच्चया भणति। अविकोविया सुया ते जा आह इम भणसु खंतिं॥

कोऽपि साधुः कस्याश्चित् पुत्रिकया सन्दिष्टो दूतीत्वं खलु गर्हितमिति चिन्तयित्वा द्वितीयप्रत्ययात्, मा मां सङ्घाटक-साधुर्दूतीदोषदुष्ट इतीदिति भङ्ग्यन्तरेण भणति, यथा अविकोविदा जिनमतापण्डिता सा तव सुता, या आह–इद भण मदीयां जननीमिति, सापि द्वितीयसङ्घाटकसाधुचित्ताऽऽवर्जनार्थं भणति–वारयिष्यामि सुतां येनैव पुनर्न सन्दिशति ॥४३१॥ अथ स्वग्रामे उभयपक्षच्छन्नदूतीमाह–

उभयेऽवि य पच्छन्ना खंत ! कहिज्जाहि खंतियाएँ तुमं। तं तह संजायंति य तहेव अह तं करेज्जासि ॥

उभये–लोके लोकोत्तरे प्रच्छन्ना इयं, यथा–खन्तस्य खन्तिकाया वा त्वं कथय, यथा तद्विदितं विवक्षितं कार्यं तथैव सञ्जातं, अथ तत्तथैव कुर्यात् ॥ ४३२ ॥ अथ परग्रामप्रकटदूतीदोषं दृष्टान्तेनाह—

गामाण दोण्ह वेरं सेज्जायरि धूय तत्थ खंतस्स। वहपरिणय खंतऽज्झत्थ(प्पाह)णं व णाए कए जुद्धं ॥

जामाइपुत्तपइमारणं च केण कहियंति जणवाओ। जामाइपुत्तपइमारएण खंतेण मे दिट्ठं ॥ ४३४ ॥

(द० २९) विस्तीर्णग्रामगोकुलग्रामावासन्नौ, विस्तीर्णे धनदत्तकुटुम्बी, भार्या प्रियमतिः, पुत्री देवकी, तत्रैव सुन्दरेण परिणीता, देवक्याः पुत्रो बलिष्ठो, दुहिता रेवतिः, सा च गोकुलग्रामे परिणीता, प्रियमतिश्च मृता, धनदत्तश्चात्तदीक्षो विहरँस्तत्रागत्य दुहितुर्गृहे वसतावस्थात्, तदा च द्वयोरपि ग्रामयोः परस्परं वैरं, विस्तीर्णग्रामवासिना लोकेन गोकुलग्रामो परिधाटी सूत्रिता, धनदत्तश्च साधुर्गोकुलग्रामे भिक्षार्थं चचाल, देवक्या भणितं, हे पितः ! त्वया गोकुलग्रामे निजदौहित्र्या रेवत्या मत्सन्दिष्टं कथनीयं, तत्र धाट्यागमनमिति, साधुना तथैव कृतं, तया निजभर्त्तुः, तेन ग्रामलोकस्य कथिते सर्वोऽपि जनः सन्नद्धीभूयास्थात्, आगता धाटी, जातं युद्धं तत्र सुन्दरो बलिष्ठश्च धाटीमध्ये सङ्गमश्च रेवतीभर्त्ता गोकुलग्रामे त्रयोऽपि युद्धे मृताः, देवकी च पतिपुत्रजामातृमरणाद्विललाप, लोकैरुक्तं यदि गोकुले धाट्यागमनशुद्धिर्नाभविष्यत्तदाऽसन्नद्धत्वान्न कोऽपि युद्धमकरिष्यत्, परं केनापि दुरात्मना कथितं, तच्छ्रुत्वा सा सकोपा निजसन्दिष्टमेवाकथयत्,

साधुश्च लोके गर्हां प्राप। सूत्रं सुगमम् ॥ ४३३–४३४ ॥ अथ निमित्तद्वारमाह—

निमित्त-दोषः तत्र दृष्टान्तश्च।

नियमा तिकालविसएऽवि निमित्ते छव्विहे भवे दोसा। सज्जं तु वट्टमाणे आउभए तत्थिमं नायं ॥४३५॥

त्रिकालविषये लाभालाभसुखदुःखजीवितमरणरूपे षड्विधेऽपि निमित्ते दोषा भवन्ति, ते च केऽप्यात्मघातिनः, केऽप्युभयघातिन इति वर्त्तमाने निमित्ते सद्यः—तत्काल परिविघातकारिणि, इदं ज्ञात-दृष्टान्तः ॥ ४३५ ॥ तदेवाह—

आकंपिया निमित्तेण भोइणी भोइए चिरगयम्मि। पुव्वभणिए कहं ते आगड? रुट्ठो य वडवाए॥४३६

(ह० १०) कोऽपि ग्रामनायको निजभार्यां गृहे मुक्त्वा ग्रामान्तरे जगाम, [redacted] च केनापि साधुना निमित्तेनाऽऽव-र्जिता, तद् भर्त्ता च चिन्तयति यथा प्रच्छन्नमुपागत्याऽहं भार्यां चेष्टितं विलोकयिष्ये, तथा च साधोः सकाशात्तदागमं ज्ञात्वा परि-जनः सर्वोऽपि तत्सन्मुखं प्रेषितो, दृष्टश्च साधुः, तत्र पृष्टा भार्या—कथं समागमनं त्वया ज्ञातमिति, साऽऽह—साधुर्निमित्तात्, ततस्तेन भणितमस्ति कोऽप्यन्योऽपि प्रत्ययः, साऽवक्—यत् युष्माभिः [redacted] पूर्वं जल्पितं चेष्टितं यो वा स्वप्नो मया दृष्टो यच्च मम गुह्ये तिलकस्तत् सर्वमनेन सत्यमेवोक्तं, [redacted] स ईर्ष्यया साधुमपृच्छत्, कथय भो साधो! किमस्या वडवाया गर्भेऽस्तीति?, साधुराह—पञ्चपुण्ड्रः किशोर इति, सोऽचिन्तयत्—यदीदं सत्यं भविष्यति तर्हि [redacted] भार्यामपतिलकादिकथनमपि सत्यमितरथा विरुद्धकर्म्मसमाचरीति विनिपातः, [redacted] एव विचिन्त्य वडवाया गर्भः पाटितः, पतितः पञ्चपुण्ड्रः किशोर इति, तद्दृष्ट्वा सञ्जातकोपोपशमः साधुमवादीत्, यदीदं न भवेत्तदा त्वमपि न भवेरिति। सूत्रं सुगमम् ॥ ४३६ ॥

एतदेव गाथाद्वयेन भाष्यकृदाह—

दूरा भोयण एगागि आगओ परिणयस्स पच्चोणी। पुच्छा समणे कहणं साइयंकार सुमिणाई॥भा०३३

कोवो वडवागब्भं च पुच्छिओ पंचपुंडमाहंसु। फालणदिट्ठे जइ नेव तो तुहं अवितहं कइ वा॥भा०३४

सुगमं, परं पच्चोणी—सन्मुखागमनं, साइयंकारिति—सप्रत्ययं स्वप्नादि, यदि वाऽनेन साधुना प्रत्ययकथनेनात्मनो वधः पारदारिकत्वं दूषणं च परिहृतं, कति पुनरेवंविधास्तस्मान्निमित्तं साधुना वर्जनीयमिति ॥ ३३-३४ ॥ अथाजीवद्वारमाह—

जाई कुल गण कम्मे सिप्पे आजीवणा उ पंचविहा। सूयाएँ असूयाएँ व अप्पाण कहेहि एक्केक्के ॥४३७

जातिकुलगणकर्म्मशिल्पविषया पञ्चविधाजीवना, सा चैकैकस्मिन् भेदे द्विधा, सूचया असूचया वाऽऽत्मानं कथयति, तत्र सूचा—वचनभङ्गिविशेषेण कथनं, असूचा—स्फुटवचनेनेति ॥ ४३७ ॥ अथ जात्यादीनां लक्षणमाह—

जाईकुले विभासा गणो उ मल्लाइ कम्म किसिमाइ। तुलाइ सिप्पऽणावज्जगं च कम्मेयराऽऽवज्जं ॥४३८

जातिकुले विभाषा कार्या, यथा जाति—ब्राह्मणादिका 'कुल'मुग्रादि, यद्वा मातृसमुत्था जातिः, पितृसमुत्थं कुलं, गणो—मल्लादिवृन्दं, कर्म्म—कृष्यादि, शिल्पं—तूर्णादि तूर्णनं—सीवनमित्यादि, अथवा अनावर्जकं—अप्रीत्युत्पादकं कर्म्म इतरत्तु आवर्जकं प्रीत्युत्पादकं शिल्पं, अन्ये त्वाहुः—अनाचार्योपदिष्टं कर्म्म, आचार्योपदिष्टं शिल्पमिति ॥ ४३८ ॥ अथ स्वजाति-प्रकटनार्थं यथा साधुः करोति तथाऽऽह—

होमायवितहकरणे नज्जइ जह सोत्तियस्स पुत्तोत्ति। वसिओ वेस गुरुकुले आयरियगुणे व सूएइ ॥४३९

कोऽपि ब्राह्मणगृहे साधुः प्रविष्टो द्विजपुत्र होमादि कुर्वाण दृष्ट्वाऽऽह–होमादिक्रियाणामवितथकरणेन एष ज्ञायते यथा श्रोत्रियस्य पुत्र इति, यदि वा एष गुरुकुले उषित इति ज्ञायते, अथवा सूचयति तव पुत्रोऽयमात्मन आचार्यगुणान्, ततो निपमाद्‌ाचार्यो भविष्यतीति। तत एवमुक्ते ब्रह्मक्रियापण्डितत्वादयं ब्राह्मण इति ज्ञाते स्वजातिपक्षपातभेदाधाकर्मादिदोषः प्रद्वेषभेद्यादिर्वा, एतत् स्पष्टया स्वजातिप्रकटनं, असूया(यथा) प्रकटन यथाऽहं ब्राह्मण इति, एवं कुलादिष्वपि भावनीयम् ॥ ४३९ ॥ एतदेवाह—

सम्ममसम्मा किरिया अणेण ऊणाऽहिया व विवरीया। समिहामंताहुइठाणजागकाले य घोसाई ४४०

अथ विप्रगृहे एवं वक्ति अनेन स्वपुत्रेण सम्यगसम्यक् वा होमादिका क्रिया कृता, तत्रासम्यक् त्रिधा–ऊना अधिका विपरीता च, सम्यक् समिधादीनाश्रित्य, तत्र समिधो–ऽश्वत्थादिवृक्षाणां शाखाखण्डानि, मन्त्राः, आहुतिरग्नौ घृतादेः, स्थानमुत्कुटादि, 'यागो'–ऽश्वमेधादिः, कालः–प्रभातादिः, घोषाश्च उदात्तादयः, आदिशब्दात् ह्रस्वदीर्घादिवर्णपरिग्रहः, इत्युक्ते पूर्ववद्दोषाः ॥ ४४० ॥ अथ कुलाद्युपजीवनमाह—

उग्गाइकुलेसुवि एमेव गणे मंडलप्पवेसाई। देउलदरिसणभासाउवणयणे दंडमाईया ॥ ४४१ ॥

जातिवदुग्रादिकुलेष्वपि ज्ञेयं, तथा गणे मण्डलप्रवेशादि प्रविष्टस्यैकस्य मल्लस्य यल्लभ्यं भूखण्डं तन्मण्डलं, तत्र प्रव-

जातिकुल-गणाजीवनं स्वरूपम्।

र्त्तमानस्य प्रतिद्वन्द्विनो मल्लस्य विघाताय यः प्रवेशस्तदादिः, आदिशब्दाद्ग्रीवाग्रहादिपरिग्रहः, तथा देवकुलदर्शनं-युद्धप्रवेशे चामुण्डा प्रतिमाप्रणमनं, भापोपनयनं प्रतिमल्लाह्वानाय, तथा वचनढौकनं दण्डादिका-धरणिपातक्षिप्ताङ्कयुद्धप्रभृतयः, एतान् गणगृहे प्रविष्टस्तत्पुत्रस्य प्रशंसति, तथा च सति मल्लेन ज्ञायते, साधुरयं मल्ल इति ज्ञाते प्रागिव दोषः ॥ ४४१ ॥ कर्म्म-शिल्पयोराजीवनमाह—

कत्तरि पओअणावेक्खवत्थु वहुवित्थरेसु एमेव । कम्मेसु य सिप्पेसु य सम्ममसम्मेसु सूईयरा ४४२

कर्म्मसु शिल्पेषु च एवमेव कुलादाविवोपजीवनं वक्तव्यम्, कथमित्याह-कर्त्तरि कर्म्मणां शिल्पानां च विधायके, प्रयोजनापेक्षेषु-भूमिविलिखनादिप्रयोजननिमित्तं ध्रियमाणेषु हलादिषु वस्तुषु, बहुविस्तारेषु प्रभूतेषु सम्यक् असम्यगिति वा-शोभनान्यशोभनानि वा इति कथ्यमानेषु यदात्मनि कर्म्मणि शिल्पे वा ज्ञापनं तत्तयोरुपजीवनम् ॥ ४४२ ॥ अथ वनीपकद्वारमाह—

समणे माहणि किंवणे अतिहि साणे य होइ पंचमए । वणि जायणत्ति वणिओ पायप्पाणं वणेइत्ति ॥

वनीपकः पञ्चधा-श्रमणः ब्राह्मणः कृपणः अतिथिः श्वा च, तत्र वनीपक इति 'वनि'रित्ययं धातुर्याचने 'वनु याचने' इति वचनात्, ततो वनुते प्रायो दायकसम्मतेषु श्रमणादिष्वात्मानं भक्तं दर्शयित्वा पिण्डं याचते इति, 'वणी उ'त्ति वनीपकः, औणादिक ईपकप्रत्ययः ॥ ४४३ ॥ अथ भेदान्तरेणाहान्वर्थम्—

॥ ८२ ॥

वनीपक-स्वरूपं तत्करणे दोषाश्च।

मयमाइवच्छगपिव वणेइ आहारमाइलोभेणं। समणेसु माहणेसु य किविणाऽतिहिसाणभत्तेसु ॥४४४

मृतमातृकवत्सकमिव गोपालकोऽन्यगवीति शेषः, आहारादिलोभेनात्मानं श्रमणब्राह्मणकृपणातिथिश्व भक्तेषु वनति वन्नक दर्शयतीति वनीपकः ॥ ४४४ ॥ अथ श्रमणशब्दवाच्या ये तान् कथयति—

निग्गंथ सक्क तावस गेरुय आजीव पंचहा समणा। तेसि परिवेसणाए लोभेण वणिज्ज को अप्पं ॥४४५

निर्ग्रन्थाः साधवः शाक्यास्तापसा गैरुका गैरुकाञ्जितवाससः परिव्राजका आजीवका–गोशालकशिष्या इति पञ्चधा श्रमणाः, एतेषां परिवेषणे–भोजनप्रदाने सति कोऽप्याहारादिलोभेन वनति–शाक्यादि भक्तमात्मानं दर्शयति वन्नकगृहिणः पुरत इति गम्यम् ॥ ४४५ ॥ इह प्रायः शाक्यगैरुका गृहिगृहेषु भुञ्जाना दृश्यन्ते, अतस्तानधिकृत्याह—

भुंजति चित्तकम्मं ठिया व कारुणिय दाणरुइणो वा। अवि कामगद्दहेसुवि न नस्सई किं पुण जईसु?

एते शाक्यादय एव निश्चला भुञ्जते, यथा चित्रकर्मलिखिता इव, तथा परमकारुणिका एते दानरुचयश्च, अपि च कामगर्दभेष्वपि ब्राह्मणादिषु दत्तं न नश्यन्ति, किं पुनरमीषु शाक्यादिषु तथाऽऽतेभ्यो दातव्यमिति ॥ ४४६ ॥ अत्र दोषानाह—

मिच्छत्तथिरीकरणं उग्गमदोसा य तेसु वा गच्छे। चडुकारदिन्नदाणा पच्चत्थिय मा पुणो इंतु ॥४४७

शाक्यादिप्रशमने मिथ्यात्वस्थिरीकरणं स्यात्, तथा शाक्यादिभक्तास्तद्गुणाकृष्टा आधाकर्मादि कुर्वन्ति, कदाचित् साधुवेषमपहाय तेषु–शाक्यादिषु गच्छेत्, तथा लोके चडुकारिण एते जन्मान्तरेऽप्यदत्तदाना इति अवर्णवादः, यदि पुनः

शाक्यादिभक्ताः प्रत्यर्थिकाः-प्रत्यनीका भवेयुस्ततः प्रद्वेषत इत्थं ब्रूयुर्मा पुनरत्र भवन्त आयान्त्विति ॥ ४४७ ॥ अथ ब्राह्मणप्रशंसामाह—

लोयाणुग्गहकारिसु भूमीदेवेसु बहुफलं दाणं। अविनाम बंभवंधुसु किं पुण छक्कम्मनिरएसु ? ॥४४८

लोकानुग्रहकारिषु भूमिदेवेषु-ब्राह्मणेषु अपि नाम ब्रह्मबन्धुष्वपि-जातिमात्रब्राह्मणेष्वपि दानं बहुफलं किं पुनः षट्कर्म्मनिरतेषु ॥ ४४८ ॥ अथ कृपणभक्तानां पुरतो, यथा कृपणप्रशंसा स्यात्तथाऽऽह—

किवणेसु दुम्मणेसु य अबंधवायंकजुंगियंगेसुं। पूयाहिज्जे लोए दाणपडागं हरइ दिंतो ॥ ४४९ ॥

पूजितपूजको न कोऽपि कृपणादिभ्यो दत्ते, ततः कृपणेषु इष्टवियोगादिना दुर्मनस्सु अबान्धवेषु, तथा आतङ्को-ज्वरादिरोगस्तद्युक्तेषु जुङ्गिताङ्गेषु-कर्त्तितहस्ताद्यवयवेषु निराकाङ्क्षतया ददन् अस्मिन् लोके दानपताकां हरति-गृह्णाति ॥ ४४९ ॥ अथातिथिप्रशंसामाह—

पाएण देइ लोगो उवगारिसु परिचिएसुऽज्झुसिए वा। जो पुण अद्धाखिन्नं अतिहिं पूएइ तं दाणं ४५०

प्रायेण लोक उपकारिषु परिचितेषु तथाऽभ्युश्रिते-आश्रिते वा ददाति, यः पुनरध्वनि खिन्नमतिथिं पूजयति तदेव दानं जगति प्रशस्यमिति ॥ ४५० ॥ अथ शुनकप्रशंसामाह—

अवि नाम होज्ज सुलभो गोणाईणं तणाइ आहारो। छिच्छिक्कारहयाणं न हु सुलहो होइ सुणगाणं ४५१

केलासभवणा एए आगया गुज्झगा महिं । 'चरंति जक्खरूवेणं पूयाऽपूया हियाऽहिया'॥ ४५२ ॥

अपि नाम गवादीनां तृणादिकमाहारः सुलभो भवेत्, पुनरेषां छिच्छिकारहतानां नैव सुलभः, तस्मादेतेभ्यो दीयतामिति, अपि च नैते श्वानः किन्तु गुह्यका-देवविशेषाः कैलासभवनादागत्य पृथिवीं यक्षरूपेण श्वाकृत्या चरन्ति, तत एतेषां पूजाऽपूजापि च यथासङ्ख्य हिताऽहिता चेति ॥ ४५१-४५२ ॥ अथ ब्राह्मणादि वनीपकत्वे दोषानाह—

एएण मज्झ भावो दिट्ठो लोए पणामहेज्जमि । एक्केके पुव्वुत्ता भद्दगपंताइणो दोसा ॥ ४५३ ॥

एतेन साधुना मदीयो भावो-भक्तत्वलक्षणो दृष्टो-ज्ञातो लोके-ब्राह्मणादौ कथंभूत इत्याह-प्रणामहार्ये-प्रणामः-नमस्करणमुपलक्षणत्वाद्दानादि तेन हार्ये-आवर्जनीये, तत्र एकैकस्मिन् ब्राह्मणादिवनीपकत्वे पूर्वोक्ता भद्रकप्रान्तादयो दोषा भावनीयाः ॥ ४५३ ॥ श्वाणग्रहणं काकादीनामुपलक्षणं तदेवाह—

एमेव कागमाई साणग्गहणेण सूइया होंति । जो वा जंमि पसत्तो वणइ तहिं पुट्ठऽपुट्ठो वा ॥४५४

एवमेव शुनकग्रहणेन काकादयः सूचिता भवन्ति, यो वा यत्र काकादौ प्रसक्तस्तत्र काकादिस्वरूपं पृष्टोऽपृष्टो वा वनति-प्रशंसाद्वारेणात्मानं भक्तं दर्शयति ॥ ४५४ ॥

दाण न होइ अफलं पत्तमपत्तेसु सन्निजुज्जंतं । इय विभणिएऽवि दोसा पसंसओ किं पुण अपत्ते ?

पात्रेष्वपात्रेषु वा सन्नियुज्यमानं दानं न भवत्यफलमिति भणिते दोषः, किं पुनरपात्राण्येव प्रशंसतः, तत्र सुतरां दोष

वनीपके दोषाः ।

इति ॥ ४५५ ॥ अथ वनीपकद्वारानन्तरं चिकित्साद्वारमाह—

भणइ य नाहं वेज्जो अहवाऽवि कहेइ अप्पणो किरियं। अहवावि विज्जयाए तिविह तिगिच्छा मुणेयव्वा ॥

चिकित्सा त्रिविधा—यथा रोगिणा प्रतीकारं पृष्टः साधुराह—नाहं वैद्य इत्येका, अथ ममाप्येवं व्याधिरासीत् स चामुकेनौषधेन शान्त इति द्वितीया, अथ वैद्यतया चिकित्सां करोतीति तृतीया ॥ ४५६ ॥ तत्राद्यां व्याख्यानयति—

भिक्खाइ गओ रोगी किं विज्जोऽहंति पुच्छिओ भणइ। अत्थावत्तीएँ कया अबुहाणं बोहणा एवं ॥४५७

भिक्षादिनिमित्तं गतः सन् रोगिणा पृष्टः साधुर्भणति—किमहं वैद्य इति एवं चोक्ते अर्थापत्त्या अबुधानां वैद्यपार्श्वे गत्वा चिकित्सा कार्यते, इत्यजानतां बोधना—ज्ञापना कृता भवति ॥ ४५७ ॥ अथ द्वितीयचिकित्सामाह—

एरिसय चिय दुक्खं भेसज्जेण अमुगेण पउणं मे। सहसुप्पन्नं व रुयं वारेमो अट्ठमाईहिं ॥ ४५८ ॥

ममेदृशमेव दुःखं अमुकेनौषधेन प्रगुणं—नष्टवेदनमभूत्, तथा सहसोत्पन्नं रोगं नाष्टमादिभिर्निवारयाम इति ॥ ४५८ ॥ अथ तृतीयमाह—

संसोधण संसमणं नियाणपरिवज्जणं च जं तत्थ। आगंतु धाउखोभे य आमए कुणइ किरियं तु ॥

आगन्तुके धातुक्षोभे मूत्रत्वात् धातुक्षोभजे चामये यत् क्रियां करोति कथमित्याह—संशोधनं संशमनं—उपशमनं निदानपरिवर्जनं—रोगकारणप्रतिवर्जनमेषा तृतीया ॥ ४५९ ॥ अत्र दोषानाह—

वेधे कायघातः क्रोधादिनां नगरादीणि च ।

अस्संजमजोगाणं पसंघणं कायघाय अयगोलो । दुब्बलवग्घाहरणं अच्चुदये गिण्हणुड्डाहे ॥४६०॥

असंयमयोगानां प्रसंधनं प्रसङ्गः, गृही तप्तायोगोलक इति तेन रुजा कृता कायघातश्च कृतो भवति । अत्र दुर्बलव्याघ्रदृष्टान्तः–यथाऽटव्यां केनापि दुर्बलव्याघ्रोऽन्योऽपि निरामयीकृतः, पूर्वं तस्यैव वैद्यस्य विघातं करोति, ततः शेषजीवानामिति, एवं गृही साधोः संयमात्मानं षट्कायांश्च हन्ति, अथ कर्मोदयादतिरोगोदये राजकुलादौ ग्राहयति कोपावेशात्, यथा च प्रवचनोड्डाह इति ॥ ४६० ॥ अथ क्रोधादिद्वारचतुष्टयं विवक्षुः पूर्वं क्रोधादिपिण्डदृष्टान्तानां नगराणि कारणानि चाह–

हत्थकप्प गिरिफुल्लिय रायगिहं खलु तहेव चंपा य । कडुयपुड्डे इट्टग लड्डुग तह सीहकेसरए ॥४६१॥

क्रोधादिपिण्डदृष्टान्तानां यथा क्रमं नगराणि–हस्तकल्प गिरिपुष्पित राजगृह चंपा च, तथाकडाम् घृतपूरानाभित्य क्रोधोत्पत्तिः, इष्टका–सेवकिका अलभमानस्य मानोत्पत्तिः, मोदकानाभित्य मायोत्पत्तिः, सिंहकेसरकान् मोदकानाभित्य लोभोत्पत्तिः ॥ ४६१ ॥ अथ क्रोधपिण्डसम्भवमाह–

विज्जातवप्पभावं रायकुले वाऽवि वल्लभत्तं से । नाउं ओरस्सबलं जो लब्भइ कोहपिंडो सो ॥४६२॥

साधोर्विद्यातपःप्रभावं राजकुले चापि तस्य वल्लभत्वं, यद्वा औरस्यं बलं–सहस्रयोधित्वादिकं ज्ञात्वा यः पिण्डो लभ्यते–गृहस्थेन दीयते स क्रोधपिण्ड इति ॥ ४६२ ॥

अन्नेसिं दिज्जमाणे जायंतो वा अलद्धिओ कुप्पे । कोहफलमिऽवि दिट्ठे जो लब्भइ कोहपिंडो सो ॥

११

अन्येभ्यो दीयमाने याचमानोऽप्यलब्धिमान् साधुः कुप्येत, क्रोधफले च शापादिके दृष्टे यः पिण्डो लभ्यते स क्रोधपिण्ड इति ॥ ४६३ ॥ दृष्टान्तमाह—(दृ०)

करडुयभत्तमलद्धुं अन्नहिं दाहित्थ एव वच्चंतो। थेरो भोयण तइए आइक्खण खामणा दाणे ॥४६४॥

हस्तकल्पे नगरे ब्राह्मणगृहे मृतकभक्ते मासिके दीयमाने मासपारणे कोऽपि साधुरायातो घृतपुरान् ब्राह्मणेभ्यो दीयमानान् दृष्ट्वा दौवारिकेण प्रतिषिद्धोऽवादीत् 'अन्नहिं दाहित्थ'त्ति, अस्मिन् मासिके न दत्तं (लब्धं) परमन्यस्मिन् मासिके दास्यथेति, एवमुक्त्वा गतो, दैवयोगात् स्तोकदिनमध्ये तद्गृहेऽन्यन्मानुषं मृतं, तन्मासिके एस एव साधुरागतस्तथैव निषिद्धो 'अन्नहिं दाहित्थ'त्ति प्रोचे, तृतीयमासिकेऽपि तथोक्ते स्थविरदौवारिकेण चिन्ततं, अस्य शापान्मनुष्यद्वयमृतं, सम्प्रति तृतीया वेला, ततो मा कोऽपि म्रियतामिति जातानुकम्पेन गृहनायकाय सर्वं निवेदितं, गृहिणा च साधवे यथेच्छं घृतपुरादिदत्तं, स क्रोधपिण्डः । सूत्रं सुगमं, नवरं करडुकभक्तं-मृतकभोजनमिति ॥ ४६४ ॥ अथ मानपिण्डसम्भवमाह—

ओच्छाहिओ परेण व लद्धिपसंसाहिं वा समुत्तइओ। अवमाणिओ परेण य जो एसइ माणपिंडो सो ॥

परेणोत्साहितस्त्वमेवात्र कार्ये समर्थ इति लब्धिप्रशंसाभ्यां वा समुत्तइओ-गर्वितः परेण वा अपमानितो न त्वया किमपि लभ्यते इति, ततो मानाय एषयति पिण्डं स मानपिण्डः ॥ ४६५ ॥ अत्र गाथाऽष्टकेन दृष्टान्तमाह—

इट्टगछणंमि परिपिंडियाण उल्लाव को णु हु पगेव। आणिज्ज इट्टगाओ ? खुड्डो पच्चाह आणेमि ॥४६६॥

जइवि य ताऽपज्जत्ता अगुलघयाहिं न ताहिं णो कज्जं । जारिसियाओ इच्छह ता आणेमित्ति निक्खंतो॥
ओहासिय पडिसिद्धो भणइ अगारिं अवस्सिमा मज्झं। जइ लहसि तो तं मे नासाए कुणसु मोयंति [सा आह] ॥ ४६८ ॥
कस्स घर पुच्छिऊणं परिसाए अमुड कइरो पुच्छित्तु। किं तेणऽम्हे जायसु सो किविणो दाहिइ न तुज्झ ॥
दाहिति तेण भणिए जइ न भवासि छण्हमोसि पुरिसाणं। अन्नयरो तो तेऽहं परिसामज्झंमि पणयामि॥
सेयंगुलि बगुड्डावे किंकरे पहायए तहा। गिद्धावरिंखि हद्दन्नए य पुरिसाहमा छाउ ॥ ४७१ ॥
जायसु न परिसोऽहं इहगा देहि पुवमइगंतुं। माला उत्तारि गुलं भोएमि दिएत्ति आरूढा ॥४७२॥
सिड्अवणण पडिलाभण दिस्सियरी बोलमंगुली नासं। दुण्हेगयरपओसो आयविवत्ती य उड्डाहो ॥४७३

(१०) गिरिपुष्पितपुरे सिंहरथः सपरिवारा आगताः, अन्यदा तत्र पौरुष्पनन्तर तरुणश्रमणानामन्योऽन्योल्लापे केनाप्यूचे-प्रातः सेवकिकाः क आनेष्यति ?, तत्र शुभचन्द्रक्षुल्लेनोचे-अहमानयिष्यामि, अन्यसाधुनोक्त-यदि ताः सर्वसाधूनामपरिपूर्णा अगुडघृताश्च तदा ताभिर्न प्रयोजनम्, क्षुल्ल आह-यादृशीस्त्वमिच्छसि तादृशीरानेष्यामि, एवं प्रतिज्ञां कृत्वा नान्दीपात्रमादाय भिक्षार्थं जगाम, कौटुम्बिकगृहे दृष्टाः सेवकिका घृतगुडादीनि च, सुलोचनाभिधा गृहिणी याचिता, तया

मानपिण्डे दृष्टान्तः।

प्रतिपिद्धे जातामर्षेण क्षुल्लकेनोचे-मयाऽवश्यं गृहीतव्याः सेवकिकाः, तया सकोपयोचे यदि त्वमेतासां सेवकिकानां किमपि लमसे ततो मे नासापुटे त्वया प्रश्रवणं कृतमिति, क्षुल्लो गृहान्निर्गत्य कस्यापि पार्श्वे कस्येदं गृहमिति पप्रच्छ, सोऽवादीत्-विष्णुमित्रस्य, पुनः क्षुल्ल आह-स इदानीं क वर्त्तते ?, तेनोचे-पर्षदि, क्षुल्लस्तत्र गत्वा पर्षज्जनान् पृष्टवान् भो-भवतां मध्ये को विष्णुमित्र इति ?, जनैरुक्तं-किं कार्यं ?, क्षुल्ल आह-किमपि याचिष्ये, स च प्रायः सर्वेषां भगिनीपतिरिति सहासं तैरवाचि, कृपणोऽयं न ते किमपि दास्यति तस्मादस्मानेव याचस्व, विष्णुमित्रो-मा मेऽपभ्राजना स्यादित्याह-सोऽहं याचस्व मां किमपीति, नैते सत्यवादिनः, क्षुल्ल आह-यानेऽहं यदि महेलाप्रधानानां षण्णां पुरुषाणामन्यतमो न भवसि, ततः सभ्या आहुः-के ते षट् ?, क्षुल्ल आह-श्वेताङ्गुलिः, यथा-कोऽप्येक पुरुषो भार्याच्छन्दानुवर्त्ती प्रातर्भोजनं याचते, सा वदति ममालस्यमस्ति समाकर्षं चुल्ल्याभस्म प्रक्षिपान्यगृहादानीय वह्निं यावत् पक्त्वा कथयाऽहं , ततः परिवेषयामि, ततो लोकेन प्रातर्भस्माकर्षणात् श्वेताङ्गुलिदर्शनात्तदाख्यानश्चक्रेऽयं प्रथमः १ । तथा बकोड्डायको, यथा-क्वापि कोऽपि ना भार्यादेशेन जलानयनं करोति, परं जनापवादात्पश्चिमरात्राविति, तस्य पदसञ्चारादिना बका उत्थायोड्डीयन्ते पालिरक्षेभ्यो लोकैर्ज्ञाते तन्नाम कृतं २। तथा किङ्करः-प्रियायाः सर्वकार्यकारित्वाल्लोकैस्तन्नाम कृतम् ३। स्नायको, यथा-कोऽपि स्नानार्थी स्वयं जलमुष्णं कुरु तैलेनाभ्यङ्ग्यात्मानं इत्याज्ञप्तस्तथा करोति, तेन लोकेन तन्नाम कृतम् ४ । गृध्र इव रिङ्खी, यथा-कोऽपि भोजनसमये प्रियया सह नोपविष्टया कथ्यते-समानय स्थालं, यथा परिवेषयामि, यावत्तत्कथाकाङ्क्षत्यायागच्छ गृहीत्वा स्वस्थाने भुङ्क्ष्वेति भणितस्तथैव करोति, ततः सगृध्र इव उत्कटको रिङ्खन् यातीति तन्नाम कृतं लोकैः ५। हदज्ञो, यथा-कस्यापि भार्या-

देशकारिणः पुत्रो जातः, स च पालनके स्थितः पुरीषं मुञ्चति, तथा च भर्त्ता भण्यते—बालस्य पुतं क्षालय यावदन्यानि पालनकं च, स च सर्वं करोति, ततो लोकैरिदमस्य प्रक्षालनं जानातीति तथाम कृतम् ४। इत्युक्ते क्षुल्लेन पर्षज्जनैः सहासमयं वाडगेवेत्युक्ते विष्णुमित्रोऽवादीत्—नाहं षण्णां पुरुषाणां समानस्तस्माद्याचस्व मामिति, क्षुल्लेनेष्टं याचितं, तेनोक्तं ददामि, ततः क्षुल्लेन सह यावन्निजगृहद्वारमायातस्तावन्निजपूर्वगमनमार्गप्रतिज्ञादिकं कथितं, ततो विष्णुमित्रः प्राह—यद्येवं तर्हि क्षणमात्रं गृहद्वारे तिष्ठ, पश्चादाकारयिष्यामि, तथा कृत्वा गृहमध्ये प्रविश्य सेवकिकादिकं निभाल्य भार्यायाः कथितम्—सर्वं भव्यं परं गुडः स्तोकः, ततो मालादानय गुडं येन द्विजान् भोजयामीत्युक्ता सा मालमारूढा, अपनीता तेन निःश्रेणिः, क्षुल्लकमाकार्यं पात्रभरणप्रमाणेन दातुमारब्धं, सुलोचना गुडमादाय चलिता निःश्रेणिमदृष्ट्वा विलोकयन्ती क्षुल्लाय सेवकिकादि दीयमानं विभाव्य गाढशब्देन—माऽस्मै देहीं देहीत्युवाच, क्षुल्लकोऽपि तत् सन्मुखमालोक्य मया तव नासापुटे मूत्रितमिति निजनासापुटे अङ्गुल्यभिनयेन दर्शयति, पात्रं भृत्वा निजवसतौ जगामेति। शेषं सुगमम्, नवरं इड्डगकणमि—सेवकिकार्थे, पगेवेति—प्रभाते एव, मोयति—मूत्रणं प्रणयामीति—याचे, सिड्डअवणयणं—निःश्रेण्यपनयनं, इत्थंभूतश्च मानपिण्डो न ग्राह्यः, यतो द्वयोरपि दम्पत्योः प्रद्वेषो भवति, ततस्तद्रव्यान्यद्रव्यव्यवच्छेदः, कदाचिदेकतरस्य तथापि स एव दोषः, अथ तैवमप्यपमानिता कदाचिदात्मविपत्तिं कुर्यात्, इति उड्डाहः ॥ ४६६–४७२ ॥ अथ मायापिण्डदृष्टान्तमाह—

मानपिण्डे दृष्टान्तः।

रायगिहे धम्मरुई असाढभूई य खुड्डओ तस्स। रायनडगेहपविसण संभोइय मोयए लंभो ॥४८४॥

आयरियउवज्झाए संघाडगकाणखुज्जतद्दोसी । नडपासणपज्जत्तं निकायण दिणे दिणे दाणं ॥४७५॥
धूयदुए संदेसो दाणसिणेह करणं रहे गहणं । लिंगं मुयात्ति गुरुसिट्ठ विवाहे उत्तमा पगई ॥४७६॥
रायघरे य कयाई निम्महिलं नाडगं तडागत्था । ता य विहरंति मत्ता उवरि गिहे दोवि पासुत्ता॥४७७॥
वाघाएण नियत्तो दिस्स विचेला विराग संबोही । इंगियनाए पुच्छा पजीवणं रट्ठवालंमि ॥४७८॥
इक्खागवंस भरहो आयंसघरे य केवलालोओ । हाराइखिवण गहणं उवसग्ग न सो नियत्तोत्ति ॥४७९॥
तेण समं पव्वइया पंच नरसयात्ति नाडए डहणं । गेलन्न खमग पाहुण थेरा दिट्ठा य बीयं तु ॥४८०॥

(इ०) राजगृहे सिंहरथो राजा, विश्वकर्म्मा नटः, तस्य द्वे दुहितरौ सुरूपे, अन्यदा धर्मरुचिसूरयस्तत्रागताः, तेषां शिष्यः प्रज्ञानिधिराषाढभूतिः, स भिक्षार्थमटन् विश्वकर्म्मणो नटस्य गृहे प्रविष्टस्तत्र च लब्धमोदकः द्वारे निर्गत्य तेन चिन्तितं—सूरीणामेष भविष्यतीत्यात्मार्थे रूपपरावर्त्तनेनान्यं मोदकं याचयामीति, काणरूपं कृत्वा पुनः प्रविष्टो लब्धो द्वितीयो मोदकः, एवमुपाध्यायसङ्घाटकसाधुचिन्तायां यथाक्रमं कुब्जकुष्ठिरूपे विधाय लब्धाश्चत्वारो मोदकाः, तच्च रूपपरावर्त्तनकरणं मालोपरि स्थितेन विश्वकर्म्मणा दृष्टम् , चिन्तितं चायं भव्यो नटो भवति, परं कथमपि सङ्ग्रहीतव्य इति चिन्तयतो बुद्धिरुत्पन्ना—दुहितृभ्यां क्षोभ्य इति, ततो मालादुत्तीर्य सादरं साधुर्मोदकैः प्रतिलाभितः भणितश्च—भगवन् ! अस्माकं दिवसे

(गृहे)प्रतिदिवसमागन्तव्यं, ततो गतः स्वोपाश्रयमाषाढभूतिः, विश्वकर्मणा साधुस्वरूपं कुटुम्बस्य कथितं, दुहितरौ च शिक्षिते- यथा भवदायत्तो भवति तथाऽऽवर्जनीयः साधुरिति, अथ सदागमनेनाषाढभूतेस्ताभ्यां मनःक्षोभश्चक्रे, प्रोक्तं च परिणीयाऽस्मान् भोगान् भुङ्क्ष्वेति, अत्रान्तरे चारित्रावरणकर्मणा प्रलतिगुरूपदेशः साधुराह-भव्यं, परं गुरुसमीपे लिङ्गं विमुच्य समागच्छामि, इत्युक्त्वा गतो गुरुसमीपे,-" दीहरसील परिपालिऊण विसएसु वच्छ! मा रमसु। को गोपयम्मि बुड्ड उयहिं तरिऊण बाहाहिं ॥ १ ॥ " इत्यादि वाक्यैर्गुरुभिः शिष्यमाणोऽपि निजकर्मणा चित्तपरावर्त्तं कथयन् लिङ्गं मुक्त्वा पश्चात्- कृतपादचारो-कथमेतेषां गुरूणां सेवां पुनः प्राप्स्यामीति चिन्तयन् नटगृहं गतो, विश्वकर्म्मा प्राह-महाभाग! तवायत्ते इमेऽप्यम् कन्यके, ततो द्वेऽपि परिणीते, नटेनोक्तं च इदानीमपि गुरुं स्मरति, स उत्तमस्तत एतन्निमित्तार्जनार्थं नित्यं मद्यपान- रहिताभिर्भवतीभिर्भाव्यमिति, आषाढभूतिश्च स्वकलया नटानामग्रणीर्जातः, लभते च सर्वत्र प्रभूतं द्रव्यादि, अन्यदा राज्ञा समादिष्टा नटाः-अद्य निर्महेलनाटकं कार्यमिति, सर्वेऽपि नटाः स्वां स्वां युवतिं गृहे मुक्त्वा राजकुलं गताः, आषाढभूति- भार्याभ्यामपि निःशङ्काभ्यामासवपानं चक्रे, तेन विगतचेतने विवस्त्रे द्वितीयभूमौ सुप्ते तिष्ठतः, अथ राज्ञः परराष्ट्रदूतागमनाद- नवसरे नटानां पश्चादागमनं जातं, आषाढभूतिः स्वभार्ये तथाविधे दृष्ट्वा विरक्तोऽहो मे मूढतेति निर्गतो गृहाद्, दृष्टो विश्वकर्मणा, ज्ञात इङ्गिताकारैः, ततः सत्वरं निजदुहितरावुत्थाप्य निर्भर्त्सयति, प्रोक्तञ्च-अथ यदि निवर्त्तयितुं शक्नुथ तर्हि निवर्त्तयेथां, नो चेत् प्रजीवनं याचध्वमिति, ततस्ताभ्यां संभ्रान्ताभ्यां बहूक्तोऽपि यावन्न रज्यते तावत्ताभ्यामूचे-यद्येवं तर्हि प्रजीवनं देहि, येन पश्चादपि युष्मत्प्रसादेन जीवामः, तत एव भवत्विति दाक्षिण्याभिभूतः, ततः कृतं भरतचक्रवर्त्तिचरित-

आषाढ-
भूति-
दृष्टान्तः।

प्रकाशकं राष्ट्रपालं नाम नाटकं, ततो विज्ञप्तो विश्वकर्म्मणा सिंहरथो राजा, देव ! आपाढभूतिना राष्ट्रपालं नाम नाटकं कृतम्, परं तत्र राजपुत्रपञ्चशतैराभरणविभूषितैः प्रयोजनं, ततो राज्ञा दत्तानि राजपुत्राणां पञ्चशतानि, यथाऽयमापाढभूतिना शिक्षितानि, ततः प्रारब्धं नाटकं नर्त्तितुं, तत्रापाढभूतिरात्मना भरतो जातो, राजपुत्राश्च सामन्तादयः, तत्र यथा भरतेन षट्खण्डं भरतं प्रसाधितं चतुर्दश रत्नानि नव निधयः प्राप्ता यथा चाऽऽदर्शगृहे केवलं, यथा पञ्चशतपरिवारेण सह प्रव्रज्यां, तत् सर्वमप्यभिनीयते, ततो राज्ञा लोकेनापि तुष्टेन हारकुण्डलस्वर्णादि प्रभूतं दत्तं, ततः सर्वजनानां धर्म्मलाभं प्रदाय पञ्चशतपरिवार आपाढभूतिर्गन्तुं प्रावर्त्तत, किमेतदिति राज्ञा निवारिते प्राह-किं भरतो दीक्षामादाय निवृत्तो येनाहं निवर्त्ते इति, गतः सपरिवारो गुरुसमीपं,वस्त्राभरणादिकं च निजभार्याभ्यां दत्तवान्, तत्र प्रजीवनकं तयोर्जातं, गृहीता दीक्षा, तदपि नाटकं विश्वकर्म्मणा कुसुमपुरे नर्त्तितुमारब्धं, तत्रापि पञ्चशतमनुजाः क्षत्रियाः प्रव्रज्यां गृहीतवन्तः, ततो लोकेन चिन्तितं, एवं क्षत्रिया प्रव्रजन्तो निःक्षत्रियां पृथिवीं करिष्यन्तीति नाटकपुस्तकमग्नौ प्रवेशितम् । सूत्रं सुगमम्-नवरं 'रायनडगेहपवेसणं 'त्ति, राजविदितो यो नटो विश्वकर्म्मा तस्य गृहे प्रवेशः, त्वग्दोषी-कुष्ठी, उपसर्गः-प्रव्रज्याग्रहणे निवारणं, दहनं नाटकपुस्तकस्य । अत्रैवापवादमाह—गेलन्नत्ति ग्लानो-मन्दः, क्षपको-मासक्षपकादिः प्राघूर्णकः स्थविरः, आदिशब्दात् सङ्घकार्यादिपरिग्रहः, तेषामर्थाय द्वितीयमपवादपदं, सेव्यते-मायापिण्डोऽपि प्रायः ॥ ४७४-४८० ॥ अथ लोभद्वारमाह—

लब्भंतंपि न गिण्हइ अन्नं अमुगंति अज्ज घेच्छामि । भद्दरसंति व काउं गिण्हइ खद्धं सिणिद्धाई ॥४८१॥

अथाहमद्यकं गृहीष्यामि सिंहकेसरादिकमिति बुद्ध्वा अन्यद्खाद्यादिकं लभ्यमानमपि यन्न गृह्णाति, किन्तु तदेव स लोमपिण्डः, अथवा लभ्यमान स्वद्ध-प्रचुरं स्निग्धादिमद्रकरसमितिकृत्वा यद् गृह्णाति स लोमपिण्डः ॥ ४८१ ॥ तत्र प्रथमभेदमाश्रित्योदाहरण गाथाद्वयेनाह—(ह०)

चंपा छणमि घिच्छामि मोयए तेवि सीहकेसरए। पडिसेह धम्मलाभ काऊणं सीहकेसरए ॥४८२॥

सड्ढुरत्तकेसरभायण भरणं च पुच्छ पुरिमड्ढे। उवओग संत चोयण साहुत्ति विगिंचणे नाणं ॥४८३॥

चम्पापुर्यां सुव्रतसाधुः, मोदकोत्सवः, मया सिंहकेसरा एव मोदका ग्राह्या इति सम्प्रधार्य भिक्षार्थं प्रविष्टो, लोलुपतयाऽन्यत् प्रतिषेधेन सिंहकेसरा न लभमानः सार्द्धं प्रहरद्वय यावत् परिभ्रमति, ततो न लब्धा मोदका इति, प्रनष्टचित्तो जातः, ततो गृहद्वारे प्रविशन् धर्मलाभस्थाने 'सिंहकेसरा'इति वदति, एव सकलमपि दिनं भ्रान्त्वा रात्रौ तथैव परिभ्रमन् प्रहरद्वयसमये श्रावकस्य गृहे प्रविवेश, धर्मलाभस्थाने 'सिंहकेसरा'इत्युक्ते गीतार्थः श्रावकश्चिन्तयामास—नूनमय सिंहकेसरार्थी अलब्धलाभश्च, तेन चित्तविप्लुतवानिति सिंहकेसरभृत भाजनमुपढौकित—भगवन्! गृहाणेत्युक्ते साधुना गृहीताः, स्वस्थीभूत चित्तं, श्रावकश्चाह—भगवन्अद्य मया पूर्वार्धः प्रत्याख्यातः, स किं पूर्णो न वेति, ततः सुव्रत उपयोगमुन्दूर्वं दत्तवान्, पश्यति गगनमण्डलमनेकतारासहितमर्द्धरात्रोपलक्षितं, ततो भ्रममात्मीय ज्ञात्वा स्वनिन्दन्—भो श्रावक! भव्यं कृत, यदह प्रतिबोधितः, एव सता नोदनेत्युक्त्वा विधिना मोदकान् परिस्थापयन् कथमपि तथा शुक्लध्यानेन घातिक-

लोमपिण्ड-स्वरूपमुदा-हरणञ्च ।

र्माणि स्फोटयामास, यथा प्राप केवलज्ञानम् । सूत्रं सुगमम् ॥ ४८२-४८३ ॥ अथ संस्तवद्वारमाह—

दुविहो उ संथवो खलु संबंधीवयणसंथवो चेव । एक्केक्कोवि य दुविहो पुव्विं पच्छा य नायव्वो ॥४८४॥

द्विविधः खलु संस्तवः-परिचयरूपः श्लाघारूपश्च, तत्र परिचयरूपः-सम्बन्धिसंस्तवः, श्लाघारूपो-वचनसंस्तवः, एकैकोऽपि द्विधा-पूर्वसंस्तवः पश्चात्संस्तवश्च ॥ ४८४ ॥ तत्र सम्बन्धिसंस्तवस्य द्विविधस्यापि स्वरूपमाह—

मायपिइ पुव्वसंथव सासूससुराइयाण पच्छा उ । गिहि संथवसंबंधं करेइ पुव्वं च पच्छा वा ॥४८५॥

मातापित्रादि पूर्वसंस्तवः, श्वश्रूश्वसुरादि पश्चात्संस्तवः, गृहिभिः सह संस्तवसम्बन्धं-परिचयघटनं पूर्वकालभाविनं पश्चात् कालभाविनं वा करोति यः साधुः ॥ ४८५ ॥ कथमित्याह—

आयवयं च परवयं नाउं संबंधए तयणुरूवं । मम माया एरिसिया ससा व धूया व नत्ताई ॥४८६॥

साधुराहारलम्पटतया आत्मवयः परवयश्च ज्ञात्वा तदनुरूपं सम्बध्नाति, यदि सा वृद्धा स्वयं च मध्यमवयस्ततो ममेदृशी माताऽभूदिति ब्रूते, यद्यात्मतुल्यवयास्तदा ममेदृशी स्वसेति, लघुवयाश्चेत्तदा दुहिता नप्ता वेत्यादि ॥ ४८६ ॥ अस्योदाहरणमाह—

अद्धिइ दिट्ठिपण्हव पुच्छा कहणं ममेरिसी जणणी । थणखेवो संबंधो विहवासुण्हाइदाणं च ॥४८७॥

कोऽपि साधुर्निजमातृसमां स्त्रियं वीक्ष्य मातृस्थानेनाधृत्या दृष्टिप्रश्नवं-ईषदश्रुविमोचनं करोति, ततः स्त्रीपृच्छायां साधोः

कथन-मम ईदृशी जनन्यभूत्। अत्र दोषानाह-यथा स्त्रिया मातृत्वप्रकटनार्थं साधुमुखे स्तनप्रक्षेपः क्रियते, सम्बन्धः परस्परं स्नेहरूपो जायते, तथा मृतपुत्रस्य स्थानेऽयं पुत्र इति विधवा स्नुषादि दानं करोति, एवं पश्चात्सम्बन्धिसंस्तवोदाहरणमपि स्वधियाऽभ्यूह्यम् ॥ ४८७ ॥ तत्र दोषानाह—

पच्छासंथवदोसा सासू विहवादिधूयदाणं च। भज्जा ममेरिसिच्चिय सज्जो घाउ वयभंगो वा ॥४८८॥

पश्चात्सम्बन्धिसंस्तवे इमे दोषाः—श्वश्रूरीदृशी ममाभूदित्युक्ते सा विधवा सुताया दानं करोति, तथा भार्या ममेदृशी अभवदित्युक्ते यदीर्ष्यालुस्तत्भर्त्ता समीपे स्यात् तदा साधोर्घातं कुर्यात्, अथ भद्रकस्तर्हि स्त्री-भार्याऽहमनेन कल्पितेत्यनुरागं कुर्वाणा चित्तक्षोभमापादयेत्ततो व्रतभङ्गः ॥ ४८८ ॥ प्रत्येकमभिधाय साधारणदोषानाह—

मायावी चडुयारी अम्हं ओहावणं कुणइ एसो। निच्छुभणाई पंतो करिज्ज भद्देसु पडिबंधो ॥४८९॥

अधृतिदृष्टिप्रश्नवादि कुर्वन् मायावी चटुकारी तथाऽस्माकं स्वस्य कार्पटिकप्रायस्य जनन्यादि कल्पनेनापभ्राजनं विधत्ते, एवं विचिन्त्य प्रान्तः स्वगृहनिष्कासनादि करोति, अथ भद्रकस्तर्हि प्रतिबन्धः स्नेहरूपस्तत आधाकर्म्मादिदोषाः ॥ ४८९ ॥ अथ वचनसंस्तवस्य पूर्वरूपस्य लक्षणमाह—

गुणसंथवेण पुव्विं संतासंतेण जो थुणिज्जाहि। दायारमदिन्नंमी सो पुव्विसंथवो हवइ ॥४९०॥

गुणसंस्तवेन-श्लाघावचनरूपेण सत्येनासत्येन वा दातव्ये भक्तादावदत्ते पूर्वं दातारं यः स्तुयात् स पूर्वसंस्तवः ॥४९०॥

संबंधिसंस्तवे पूर्वपश्चाद्भाविनो दोषाः।

अस्यैवोल्लेखमाह—

एसो सो जस्स गुणा वियरंति अवारिया दस दिसासु। इहरा कहासु सुणिमो पच्चक्खं अज्ज दिट्ठोऽसि ॥

सुगमा ॥ ४९१ ॥ अथ पश्चाद्रूपवचनसंस्तवस्य लक्षणमाह—

गुणसंथवेण पच्छा संतासंतेण जो थुणिज्जाहि। दायारं दिन्नंमी सो पच्छासंथवो होइ ॥ ४९२ ॥

सुगमं, नवरं दत्ते भक्तादाविति ॥ ४९२ ॥ अस्यैवोल्लेखमाह—

विमली कयऽम्ह चक्खू जहत्थया वियरिया गुणा तुज्झं। आसि पुरा मे संका संपय निस्संकियं जायं ॥

साधुर्भक्ते लब्धे दातारं वक्ति यथा निजदर्शनेन त्वया विमलीकृते नश्चक्षुषी, तथा यथार्थाः स्तवगुणाः सर्वत्रापि चरिताः, तथा पूर्वं मम शङ्काऽभूत् किं सत्यमसत्यं वा श्रुतं गुणादिकमिति, सम्प्रति त्वयि दृष्टे निःशङ्कितं मे हृदयं जातम् ॥ ४९३ ॥ अथ विद्यामन्त्राख्यं द्वारद्वयमाह—

विज्जामंतपरूवण विज्जाए भिक्खुवासओ होइ। मंतंमि सीसवेयण तत्थ मुरुंडेण दिट्ठंतो ॥ ४९४ ॥

विद्यामन्त्रयोः प्ररूपणा कर्त्तव्या, सा चैवं—ससाधना स्त्रीदेवतारूपा विद्या, असाधना पुरुषदेवताऽधिष्ठाता वा मन्त्रः, तत्र विद्यायां भिक्षूपासकदृष्टान्तः, मन्त्रे शिरोवेदनायां मुरुण्डेन राज्ञोपलक्षितः पादलिप्तसूरिः (गा. ४९८) ॥ ४९४ ॥ तत्र भिक्षूपासकदृष्टान्तं गाथाद्वयेनाह—

परिपिंडियमुल्लावो अइयंतो भिक्खुवासओ दावे। जइ इच्छह अणुजाणह घयगुलवत्थाणि दावेमि ॥
गतुं विज्जामतण किं देमि? घय गुल च वत्थाई। दिन्ने पडिसाहरणं केण हिय केण मुट्ठोमि? ॥४९६॥

(इ०) गन्धसमृद्धनगरे धनदेवो भिक्षूपासकः, स च साधुभ्यो न किमपि ददाति, अन्यदा तरुणश्रमणानामन्योऽन्योल्लापे केनापि प्रतिपन्नमह धनदेवात् घृतगुडादिकमादास्ये, ततोऽपि साधुभिः साक्षेपमनुज्ञातो धनदेवगृह गतः साधुः, धनदेवो विद्ययाऽभिमन्त्रितो ब्रूते किं प्रयच्छामि?, साधुनार्थे यत्र यतयः सन्ति, तैरुक्त घृतगुडवस्त्रादि, ततो दापित तेन संयतेभ्यः प्रचुरं घृतादिक, ततः सहसा विद्या, आत्मस्वभावस्थो धनदेवस्ततो घृतादिस्तोकं दृष्ट्वा विलपितु प्रवृत्तः, परिजनेनोक्त युष्माभिरेव दापित संयतेभ्यस्ततो मौनमालम्ब्य स्थितः। गाथार्थः सुगम एव ॥ ४९५-४९६ ॥ अत्र दोषानाह—

पडिविज्ज थंभणाई सो वा अन्नो व से करिज्जाहि। पावाजीवीमाई कम्मणगारी य गहणाई ॥४९७॥

यो विद्ययाऽभिमन्त्रितः सोऽन्यो वा तत् पक्षपाती प्रद्विष्टः सन् प्रतिविद्यया स्तम्भनादि कुर्यात्, तथा पापाजीविनो मायिनः शठा इति लोके गर्हा, तथा कार्मणकारिण इमे इति राजकुले ग्रहणादि भवेदिति ॥ ४९७ ॥ मन्त्रे पादलिप्तोदाहरणमाह—

जह जह पएसिणी जाणुगमि पालित्तओ भमाडेइ। तह तह सीसे वियणा पणस्सइ मुरुंडरायस्स ॥

(इ०) प्रतिष्ठानपुरे मुरुण्डो राजा, पादलिप्ताः सूरयः, अन्यदा राज्ञः शिरोवेदना जाता, न केनाप्युपशमयितुं

११

विद्यापिण्ड उदाहरण दोषाश्च।

शक्यते, आकारिता राज्ञा पादलिप्तसूरयस्ततो यथा लोको न जानीते तथा मन्त्रं ध्यायद्भिः प्रावरणमध्ये निजदक्षिणजानुशिरसि पार्श्वतो निजदक्षिणहस्तप्रदेशिनी यथा २ भ्राम्यते तथा २ शिरोवेदनाऽपगच्छति राज्ञः, क्रमेण निरामयो जातः भूपः सूरीणामुपासकत्वेन भक्तिं करोति ॥ ४९८ ॥ अत्र दोषानाह—

पडिमंतथंभणाई सो वा अन्नो व से करिज्जाहि । पावाजीवियमाई कम्मणगारी भवे बीयं ॥ ४९९ ॥

इह कथायां न कोऽपि दोषो जातः, परं कदापि स्यादिति कथनं, सूत्रं प्राग्वत्, केवलं पुष्टालम्बने द्वितीयमपवादपदं भवेत्, एतच्च विद्यायामपि ज्ञेयम् ॥ ४९९ ॥ अथ चूर्णयोगमूलकर्माख्यं द्वारत्रयमाह—

चुन्ने अंतद्धाणे चाणक्के पायलेवणे जोगे । मूल विवाहे दो दंडिणी उ आयाण परिसाडे ॥ ५०० ॥

चूर्णेनान्तर्द्धानेऽदृश्यीकरणे चाणक्यविदितौ क्षुल्लौ निदर्शनम्, पादे-पादलेपनरूपे योगे समितसूरयः, तथा मूलकर्म्मणि अक्षतयोनिकरणरूपे युवतिद्वयं, विवाहविषयेऽपि मूलकर्म्मणि युवतिद्वयं, तथा गर्भाधानपरिशाटरूपे मूलकर्म्मणि द्वे दण्डिन्यौ नृपपत्न्यौ उदाहरणम् ॥ ५०० ॥ अस्य भाष्यं, " चुन्ने अंतद्धाणे चाणक्के " इति व्याख्यानयति गाथात्रयेण—

जंघाहीणा ओमे कुसुमपुरे सिस्सजोगरहकरणं । खुड्डुगंजण सुणणा गमणं देसंतरे सरणं ॥भा० ३५

भिक्खे परिहायंते थेराणं तोसि ओमि दिंताणं । सहभुज्ज चंदगुत्ते ओमोयरियाए दोवल्लं ॥भा० ३६ ॥

चाणक्क पुच्छ इट्टालचुण्णदारं पिहित्तु धूमे य । दट्ठुं कुच्छपसंसा थेरसमीवे उवालंभो ॥ भा० ३७ ॥

मन्त्रपिण्ड उदाहरणं दोषाश्चूर्णादीनि द्वारानि च।

चूर्णे दृष्टान्त दोषाश्च।

(६०   ) कुसुमपुरे चन्द्रगुप्तो राजा, मन्त्री चाणक्यः, तत्र जङ्घाबलपरिक्षीणाः सुस्थितामिधाः सूरयः, अन्यदा तत्र दुर्भिक्षमभवत्, ततः सूरिभिः समृद्धशिष्यः सुभिक्षदेशे प्रेषणाय सूरिपदे स्थापितः, विद्यामन्त्राद्येकान्ते तस्मै दातुमारब्ध, तत्र च क्षुल्लकद्वयेनादृश्शीकरणाञ्जनव्याख्यानं श्रुतं, समृद्धसूरिर्गच्छसहितोऽन्यत्र जगाम, सूरयस्तत्र स्थिताः, तत्र कतिपयदिवसैस्तत् क्षुल्लकयुग गुरुस्नेहेन तत्र जगाम, गुरवो यत्किमपि भिक्षां लभन्ते तद्विभज्य क्षुल्लकद्वयेन सह भुञ्जते, तत आहारापूर्णतया सूरीणां दौर्बल्यमभवत्, ततः क्षुल्लद्वयेनाञ्जनादृश्यत्वेन चन्द्रगुप्तेन सह भुञ्जते, राज्ञः कृशत्वमजायत, चाणक्यपृच्छायां राजाऽऽह–परिपूर्णाहारालाभ इति, ततश्चाणक्येनानुमानेन ज्ञात्वाऽञ्जनसिद्धपरिज्ञानाय भोजनमण्डपेऽतीव श्लक्ष्णइष्टकाचूर्णो विकीर्णो, दृष्टानि मनुष्यपदानि, ततोऽन्यदिने भोजनवेलायां द्वारे पिधाय मध्येऽतिधूममकार्षीत्, तेनाञ्जन नयनाश्रुभिः सह गलितं प्रत्यक्षौ जातौ क्षुल्लकौ, कृता चन्द्रगुप्तेनात्मजुगुप्सा विटालितोऽहमाभ्यामिति, मन्त्रिणा चित्तसमाधानार्थं प्रशंसितो राजा, धन्यस्त्वं यो बालब्रह्मचारिभिः सह भुङ्क्ते इत्यादिना, ततो वन्दित्वा मुत्कलितौ क्षुल्लौ, मन्त्रिणा रात्रौ समेत्य सूरय उपालब्धास्तैः स एवोपलब्धो, यथा–त्वमेवात्रापराधकारी यन्निर्वाहं क्षुल्लयोर्न करोषीति ?, स प्राह–भगवन्नेवमिति, क्षामिताः पादयोर्लगित्वा सूरयः, सकलसङ्घस्य यथायोग्य चिन्ता कृता मन्त्रिणा। चूर्णं सुगमम् ॥ ३५–३७ ॥ अत्र दोषानाह–

जे विज्जमंतदोसा ते च्चिय वसिकरणमाइचुण्णेहिं। एगमणेगपओस कुज्जा पत्थारओ वावि ॥ ५०१ ॥

सुगमा, परं एकस्यानेकेषां वा साधूनामुपरि प्रद्वेषं कुर्यात्, पत्थारओ–नाशो वा भवेदिति, अपि समुच्चये ॥ ५०१ ॥

अथ “ पायलेवणे(गा. ५००)”त्ति व्याख्यानयति–

सुभगदुब्भगकरा जोगा आहारिमा य इयरे य । आघंसधूवयासा पायपलेवाइणो इयरे ॥ ५०२ ॥

सौभाग्यदौर्भाग्यकरा योगा द्विधा–आहार्या इतरे च, तत्राद्या आघर्षधूपवासा, ये पानीयादिना घर्षयित्वा पीयन्ते ते आघर्षाः, धूपवासाः प्रतीताः, अथ चूर्णवासयोः को विशेष ? इत्याह–सामान्यद्रव्यनिष्पन्नक्षोदश्चूर्णः, सुगन्धद्रव्यनिष्पन्नाः शुष्कपेषं पिष्टवासा इति, इतरे चानाहार्याः पादप्रलेपनादयः ॥५०२॥ अथानाहार्यरूपस्य योगस्य पादप्रलेपनरूपस्य योगस्य दृष्टान्तं गाथात्रयेणाह—

नइकण्हाबिन्न दीवे पंचसया तावसाण निवसंति । पव्वदिवसेसु कुलवई पालेवुत्तार सक्कारे ॥ ५०३ ॥

जण सावगाण खिंसण समियक्खण माइठाण लेवेण । सावय पयत्तकरणं अविणय लोए चलणधोए ॥

पडिलाभिय वच्चंता निब्बुड नइकूल मिलण समियाओ । विम्हिय पंचसया तावसाण पव्वज्ज साहाय ॥

(द०) अचलपुरप्रत्यासन्ने द्वे नद्यौ, कृष्णा बेन्ना च, तयोरन्तराले ब्रह्मनामा द्वीपः, तत्र चैकोनपञ्चाशत्तापसयुतो देवशर्मा कुलपतिः परिवसति, स च संक्रान्त्यादिपर्वसु स्वतीर्थप्रभुत्वार्थं सपरिवारः पादप्रलेपनेन कृष्णां नदीमुत्तीर्य अचलपुरमागच्छति, चमत्कृतो लोकः सत्कारं करोति, श्रावकजनांश्च कुत्सयते–'न कोऽपि सातिशयो भवन्मत'इति, ततः श्राद्धः समितसूरीणामाख्यायि, तैः स्वचित्ते परिभाव्योक्तं 'मातृस्थानत एष पदलेपेन नदीमुत्तरति, न तपःशक्तितः', ततः श्राद्धः स मातृस्थानप्रकटनार्थं सतन्त्रो भोजनायाकारितः, गृहे आगते तैः पादप्रक्षालनं कर्तुमारब्धं, स न ददाति, श्राद्धै-

योगचूर्णादिस्वरूपं पादलेपे चोदाहरणं।

शास्माकमविनयः स्यादिति बलात् क्षमौ चालितौ, मोजमादत्तु कौतुकमिलितबाह्यान्यजनयुतो निजाश्रयं प्रति चचाल, नद्युत्तारे पादलेपाभावे मङ्क्तुं लग्नो, जाता जनेऽपभ्राजना, तदा च तस्य प्रतिबोधाय समितसूरयस्तत्रागताः, तैर्नदी प्रत्युक्त–हे कृष्णे वय परं पारं गन्तुमिच्छामस्ततो द्वेऽपि नदीकूले एकत्र मिलिते, जातो विस्मयः लोकस्य परिवार कुलपतेश्च, गृहीता दीक्षा सतन्त्रेण कुलपतिना, सा ब्रह्मशाखा बभूव। सत्र सुगमम् ॥ ५०३–५०५ ॥ अथ "मूल" ति व्याख्यानयति–

अधिई पुच्छा आसन्न विवाहे भिन्नकन्नसाहुणया। आयमणपियण ओसह अक्खय जज्जीवअहिगरणं ॥

जधापरिजिय सड्ढी अड्डिइ आणिज्जए मम सवत्ती। जोगो जोणुग्घाडण पडिसेह पओस उड्डाहो ॥५०७

(इ०) कापि धनश्रेष्ठिनो धनप्रिया, पुत्री सुन्दरी भिन्नयोनिका मात्रा ज्ञायते न पित्रा, परिणयनाय कस्यापि पुत्रस्य पित्रा वृता, आसन्ने विवाहदिने मातुश्चिन्ता जाता 'हा ! कथमेषा भर्त्रा भिन्नयोनिका ज्ञाता करिष्यति ?, अत्रान्तरे समागतः सयतो भिक्षार्थं, तेन सा पृष्टा, तया चिन्तोक्ता, साधुनोक्तं–मा भैषीरहमभिन्नयोनिकां करिष्ये, तत आचमनौषधं पानौषधं च तस्मै दत्तं, जाता अभिन्नयोनिका।

तथा–(इ०) चन्द्राननापुर्यां धनदत्तसार्थवाहो, भार्या चन्द्रमुखा, तयोरन्योऽन्यं कलहे जाते, धनदत्तेन कस्यापि पुत्री वृता, ज्ञाते पूर्वपत्न्या अधृतिः, जङ्घापरिजितसाधुना भिक्षार्थमागतेन पृष्टा कारणं, कथय मां, सपत्नी व्यतिकरे ज्ञाते साधुना समर्पितमौषधम्, भणिता च सा, कथमपि तस्याः (भक्तस्य) पानस्य मध्ये देयं येन सा भिन्नयोनिका भवति,

मूलकर्मणि दृष्टान्तः

ततः स्वभर्त्रे निवेदयेः, येन सा न परिणीयते, तथैव कृतं, सा न परिणीता । सूत्रं सुगमम्, नवरं 'जज्जिव'मिति, यावज्जीवमधिकरणं-मैथुनप्रवृत्तिः, 'पडिसेहि'त्ति, सा परिणेतुमारब्धा प्रतिषिद्धा, अयं चेदर्थस्तया ज्ञातो भवेत्तर्हि तस्याः साधुं प्रति महान् प्रद्वेषो भवेत्, प्रवचनस्योड्डाहश्च ॥ ५०६-५०७ ॥ अथ 'विवाहे' इति व्याख्यानयन्नाह—

मा ते फंसेज्ज कुलं अदिज्जमाणा सुया वयं पत्ता। धम्मो य लोहियस्सा जइ बिंदू तत्तिया नरया ॥५०८

किं न ठविज्जइ पुत्तो पत्तो कुलगोत्तकित्तिसंताणो। पच्छावि य तं कज्जं असंगहो मा य नासिज्जा ॥५०९

(इ०) क्वापि कोऽपि गृहपतिः, तस्य पुत्रीं दृष्ट्वा तन्मातरं साधुराह—तव दुहिता वयः प्राप्ता तद्यदि सम्प्रति न परिणीयते तर्हि केनापि तरुणेन सहाकार्यं समाचर्य कुलमालिन्यमुत्पादयिष्यति, तथा 'धम्मो'त्ति, लोके एवं श्रुति—"यदि कुमारी ऋतुमती भवेत्तर्हि यावन्तो रक्तबिन्दवः पतन्ति तावतो वारान् तन्माता नरकं याति"। तथा—(इ०) क्वचित् कस्यापि पुत्रमालोक्य साधुस्तन्मातरमाह—यथा कुलस्य गोत्रस्य कीर्त्तेश्च सन्तानो-निबन्धनमेष वः पुत्रो यौवनं च प्राप्तस्ततः किं न परिणाय्यते ?, अपि च-परिणीतः सन् कलत्रस्नेहेन स्थिरो भवत्यपरिणीतश्च कयापि स्वच्छन्दचारिणा सहोत्थाय गच्छेत्, पश्चादपि चैष परिणापयितव्यः ॥ ५०८-५०९ ॥ अथ 'दो दंडिणी उ' इत्यादि व्याख्यानयति—

किं अद्धिइत्ति पुच्छा सवित्तिणी गब्भिणित्ति मे देवी । गब्भाहाणं तुज्झवि करोमि मा अद्धिइं कुणसु ॥

जइवि सुओ मे होही तहवि कणिट्ठोत्ति इयरो जुवराया । देइ परिसाडणं से नाए य पओस पत्थारो ॥

॥ ९३ ॥

(८०) सयुगपुरे-सिन्धुराजभूपस्य द्वे पत्न्यौ शृङ्गारमतिर्जयसुन्दरी च, शृङ्गारमतेर्गर्भाधाने नूनमस्याः पुत्रो भविष्यतीति जयसुन्दरी चित्तेऽधृतिं चकार, साधुना पृष्टे कथिते च साधुराह-तवाप्यहं गर्भाधानं करिष्यामि, तयोक्त-भगवन् ! यद्यपि युष्मत् प्रसादेन मे पुत्रो भावी तथापि 'स कनिष्ठ' इति न यौवराज्यं प्राप्स्यति, किन्तु सपत्नीसुत एव, ततः साधुना गर्भाधानायौषधं दत्तं, अपरं दापितं सपत्न्या गर्भशातनायेति । एतत् सुगमम्, नवरमेतच कर्तव्यम्, यतो गर्भशातने साधुकृते ज्ञाते प्रद्वेषो भवति, ततः शरीरस्यापि प्रस्तारो-विनाशः ॥ ५१०-५११ ॥ सम्प्रति सर्वतो मूलकर्म्मणि दोषानाह—

संखडिकरणे काया कामपवित्तिं च कुणइ एगत्थ । एगत्थुड्डाहाई जाविय भोगंतरायं च ॥ ५१२ ॥

' मा ते ' (गा. ५०८-५०९) इति गाथाद्वयोक्ते वीवाहकरणे कायाः-पृथिवीकायादयो विराध्यन्ते, एकत्र पुनरक्षतयोनिकरणे गर्भाधाने च कामप्रवृत्तिं करोति, एकत्र गर्भपातने उड्डाहादि, एकत्र पुनः क्षतयोनिकरणे यावज्जीवं भोगान्तरायं, चशब्दादुड्डाहादि च ॥ ५१२ ॥ अथ ग्रहणैषणासम्बन्धमाह—

एव तु गविट्ठस्सा उग्गमउप्पायणाविसुद्धस्स । गहणविसोहिविसुद्धस्स होइ गहणं तु पिंडस्स ॥५१३

एवमुद्गमोत्पादनाविशुद्धस्य गवेषितस्य पिण्डस्य ग्रहणं भवति, परं ग्रहणविशोधिविशुद्धस्य, ततो ग्रहणैषणादोषानहं वक्ष्ये इति भावः ॥ ५१३ ॥

उप्पायणाएँ दोसे साहूउ समुट्ठिए वियाणाहि । गहणेसणाइ दोसे आयपरसमुट्ठिए वोच्छ ॥५१४॥

मूल-कर्म्मणि दोषाः ग्रहणैषणा-कथना-रंभश्च ।

उत्पादनाया दोषान् साधुतः समुत्थितान् विजानीहि, ग्रहणैषणाया दोषानात्मपरसमुत्थितांस्तानहं वक्ष्ये ॥ ५१४ ॥ अथ विभागमाह—

दोन्नि उ साहुसमुत्था संकिय तह भावओऽपरिणयं च । सेसा अट्ठवि नियमा गिहिणो य समुट्ठिए जाण

द्वौ दोषौ साधुसमुत्थितौ—शङ्कितं भावतोऽपरिणितं च, शेषानष्टावपि दोषान् गृहिणः समुत्थितान् जानीहि ॥ ५१५ ॥ अथ ग्रहणैषणा निक्षेपमाह—

नामं ठवणा दविए भावे गहणेसणा मुणेयवा । दवे वानरजूहं भावंमि य दसपया हुंति ॥ ५१६ ॥

नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्द्धा ग्रहणैषणा, नामस्थापने सुगमे, द्रव्ये वानरयूथमुदाहरणं, भावे दश पदानि वक्ष्यमाणानि भवन्ति ॥ ५१६ ॥ वानरयूथोदाहरणगाथात्रयेणाह—

पडिसडियपंडुपत्तं वणसंडं दट्ठु अन्नहिं पेसे । जूहवई पडियरए जूहेण समं तहिं गच्छे ॥ ५१७ ॥

सयमेवालोएउं जूहवई तं वणं समंतेण । वियरइ तेसिं पयारं चरिऊण य तो दहं गच्छे ॥५१८॥

ओयरंतं पयं दट्ठुं, नीहरंतं न दीसई । नालेण पियह पाणीयं, नेस निक्कारणो दहो ॥ ५१९ ॥

(ह०) विशालशृङ्गपर्वते एकत्रवनखण्डे वानरयूथं रमते; अथ तत्रैव वनखण्डं वर्त्तते सर्वर्तुपुष्पफलादियुतं, परं तन्मध्यवर्त्तिनि ह्रदे शिशुमारोऽवतिष्ठते, स यत् किमपि मृगादिकं पानीयाय प्रविशति, तत् सर्वमाकृष्य भक्षयति, अन्यदा

ग्रहणैषणाया भेदाः दृष्टान्तश्च।

च तद्वनखण्डं परिशटितपाण्डुपत्रमपगतपुष्पफलमालोक्य यूथेशोऽन्यवनखण्डगवेषणाय वानरयुगलं प्रेषितवान्, गवेषयित्वा च तेन यूथाधिपतिर्निवेदितः–वनखण्डममुकप्रदेशे निर्वाहयोग्यमिति, ततो यूथेशो यूथेन सह तत्र गतः, परिभावयितुं च प्रवृत्तः समन्ततस्तद्वनखण्डं, दृष्टो जलपूर्णो ह्रदः, परं तत्र प्रविशन्ति श्वापदानां पदानि दृश्यन्ते, न निर्गच्छन्ति, ततो यूथमाहूय यूथाधिपतिरुवाच–मात्र यूयं प्रविश्य पिबत पानीयं, किन्तु तटस्था एव नालेन पिबत, यतो नैष ह्रदो निष्कारणो निरुपद्रव इति, एवमुक्ते यैस्तद्वचः प्रतिपन्नं ते सुखिनो जाता, इतरे विनष्टाः ॥ ५१७–५१९ ॥ अथ भावैषणादशभेदानाह—

द्रव्यैषणायां वानरयूथोदाहरणं भावैषणाया भेदाश्च।

संकिय मक्खिय निक्खित्त पिहिय साहरिय दायगुम्मीसे। अपरिणय लित्त छड्डिय एसणदोसा दस हवंति

निगदसिद्धैव गाथा ॥ ५२० ॥ तत्र पूर्वं शङ्कितं, शङ्काशुद्ध दोषमाह—

संकाए चउभंगो दोसुवि गहणे य भुंजणे लग्गो। जं संकियमावन्नो पणवीसा चरिमए सुद्धो ॥५२१

शङ्कायां चतुर्भङ्गी भवति, ग्रहणे शङ्कितो भोजने चेति १, ग्रहणे न भोजने २, भोजने न ग्रहणे ३, न ग्रहणे न भोजने ४, अत्र दोषानाह–'दो सुवि'त्यादि, द्वयोरपि शङ्कितस्य ग्रहणभोजनयोरपि यो वर्तते यश्च ग्रहणे अर्थापत्त्या न भोजने, भोजने सामर्थ्यान्न ग्रहणे, स सर्वोऽपि लग्नो दोषेण सम्बद्धः, केन दोषेणे?त्याह–'जं संकिय'मित्यादि, पञ्चविंशतिदोषाणां मध्ये येन शङ्कितमापन्नो वर्त्तते तेन सम्बद्ध इत्यर्थः, चरमे भङ्गे पुनः शुद्ध एवेति ॥ ५२१ ॥ के पुनः पञ्चविंशति दोषा इत्याह—

उग्गमदोसा सोलस आहाकम्माइ एसणादोसा। नव मक्खियाइ एए पणवीसा चरिमए सुद्धो ॥५२२

पोडशोद्गमदोपा नव च म्रक्षिताद्य एषणादोपा, एवं २५, चरमे शुद्धं ॥ ५२२ ॥ तदेवाह—

छउमत्थो सुयनाणी उवउत्तो उज्जुओ पयत्तेणं। आवन्नो पणवीसं सुयनाणपमाणओ सुद्धो ॥५२३॥

छद्मस्थः श्रुतज्ञानी ऋजुकः प्रयत्नेन गवेपयन् पञ्चविंशति दोषाणामन्यतममापन्नः श्रुतज्ञान प्रमाणत शुद्धः ॥ ५२३ ॥

ओहो सुओवउत्तो सुयनाणी जइवि गिण्हइ असुद्धं। तं केवलीवि भुंजइ अपमाणं सुयं भवे इहरा ॥

ओघेन सामान्येन श्रुतोपयुक्तः श्रुतज्ञानी यदि कथमप्यशुद्धं गृह्णाति तत् केवल्यपि भुङ्क्ते, इतरथा श्रुतज्ञानमप्रमाणं भवेत् ॥ ५२४ ॥ ततः किमित्याह—

सुत्तस्स अप्पमाणे चरणाभावो तओ य मोक्खस्स। मोक्खस्सऽविय अभावे दिक्खपवित्ती निरत्था उ ॥

सुगमा ॥ ५२५ ॥ अथ प्रथमभङ्गसम्भवमाह—

किंतु(ति)ह खद्धा भिक्खा दिज्जइ न य तरइ पुच्छिउं हिरिमं। इअ संकाए घेत्तुं तं भुंजइ संकिओ चेव ॥

कोऽपि ह्रीमान् साधुरेवं शङ्कते किमत्र प्रचुरा भिक्षा दीयते ?, न च लज्जया प्रष्टुं शक्नोति, तत एवं शङ्कया गृहीत्वा शङ्कित एव तद्भुङ्क्ते इति प्रथमो भङ्गः ॥ ५२६ ॥ द्वितीयभङ्गसम्भवमाह—

हियएण संकिएणं गहिआ अन्नेण सोहिया सा य। पगयं पहेणगं वा सोउ निस्संकिओ भुंजे ॥५२७॥

शङ्कितहृदयेन या भिक्षा गृहीता साऽन्यसङ्घाटकेन शोधिता, यथा प्रकृतं-प्रकरणं किमपि प्राघूर्णकभोजनादिकं, यदि वा प्रहेणकं कुतश्चिदन्यस्माद्गृहादायातमिति, द्वितीयसङ्घाटकादेवत् श्रुत्वा यो निःशङ्कितो भुङ्क्ते स द्वितीयभङ्गः ॥ ५२७ ॥

तृतीयभङ्गसम्भवमाह—

जारिसए च्चिय लद्धा खद्धा भिक्खा मए अमुयगेहे। अन्नेहिं पि तारिसिया वियडंत निसामए तइए॥

कोऽपि साधुर्लब्धभिक्षाको विकटयतां-गुरोरग्रतः सम्यगालोचयतां आलोचनावसरे सति शृणुते यादृश्येव मया प्रचुरा भिक्षा लब्धा तादृश्येवान्यैरपि सङ्घाटकैः, तन्नूनमेतदाधाकर्मादिदोषदुष्टं भविष्यतीति भुञ्जानो यतिस्तृतीये भङ्गे वर्तते ॥ ५२८ ॥ [redacted] पर आह—

जइ संका दोसकरी एवं सुद्धंपि होइ अविसुद्धं। निस्संकमेसियंति य अणेसणिज्जंपि निद्दोसं ॥५२९॥

यदि शङ्का दोषकारी [redacted] एव सति इदमायात-शुद्धमपि शङ्कितं अशुद्धं भवति, [redacted] अनेषणीयमपि निःशङ्कितमन्वेषितं [redacted] प्राप्नोति, न चैवं युक्तं, स्वभावतः शुद्धस्याशुद्धस्य वा शङ्कामात्रभावमात्रेणान्यथा कर्तुमशक्यत्वात् ॥ ५२९ ॥

अत्राचार्य आह-सत्यमेतत् तथाहि—

अविसुद्धो परिणामो एगयरे अवडिओ य पक्खम्मि। एसिंपि कुणइ णेसिं अणेसिमेसिं विसुद्धो उ ॥५३०

शङ्काया भङ्गानां विवरणं।

अविशुद्धः परिणाम एकतरस्मिन् शुद्धमेवेदमशुद्धं चेत्येकस्मिन् पक्षेऽपतन् एषणीयमप्यनेषणीयं करोति, विशुद्धस्तु परिणामो यथोक्तविधिना गवेषयत एषणीयं-शुद्धं करोत्यनेषणीयमपि, श्रुतप्रामाण्यात् ॥ ५३० ॥ अथ म्रक्षितद्वारमाह—

दुविहं च मक्खियं खलु सच्चित्तं चेव होइ अच्चित्तं । सच्चित्तं पुण तिविहं अच्चित्तं होइ दुविहं तु ॥५३१

म्रक्षितं द्विधा-सचित्तमचित्तं च, सचित्तम्रक्षितं पुनस्त्रिधा, अचित्तम्रक्षितं द्विधा स्यात् ॥५३१॥ अथ सचित्त<म्रक्षित-> त्रैविध्यं व्यक्तिः—

पुढवी आउ वणस्सइ तिविहं सच्चित्तमक्खियं होइ । अच्चित्तं पुण दुविहं गरहियमियरे य भयणा उ ॥

पृथिव्यप्वनस्पतिभेदात्रिधा सचित्तम्रक्षितं भवति, अचित्तं पुनर्द्विधा गर्हितमितरच्च, अत्र कल्प्याकल्प्यविधौ भजना-विकल्पना, सा चाग्रे वक्ष्यते ॥ ५३२ ॥ अथ सचित्तपृथ्वीकायम्रक्षितं प्रपञ्चत आह—

सुक्केण सरक्खेण मक्खिय मोल्लेण पुढविकाएण। सव्वंपि मक्खियं तं एत्तो आउंमि वोच्छामि ॥५३३॥

शुष्केन सरजस्केनातीव २ लक्ष्णतया भस्मकल्पेन यदेयं हस्तः पात्रं वा म्रक्षितं आर्द्रेण वा, सर्वमपि तत् सचित्तपृथ्वीकायम्रक्षितं ज्ञेयम्, अतोऽप्कायम्रक्षितं वक्ष्ये ॥ ५३३ ॥

पुरपच्छकम्म ससिणिद्धुदउल्ले चउरो आउभेयाओ। उक्किट्ठरसालित्तं परित्तऽणंतं महिरुहेसु ॥५३४॥

अप्कायम्रक्षिते चत्वारो भेदास्तथाहि-पुरःकर्म्म पश्चात्कर्म्म स्निग्धमुदकार्द्रं च, तत्र भेदद्वयं प्रसिद्धम्, स्निग्धमी-

सचित्ताचित्ते कल्पाकल्पविधिः

गळस्यमाणजलखरण्टितं हस्तादि, उदकार्द्रं स्पष्टोपलभ्यमानजलसंसर्गम् । अथ वनस्पतिम्रक्षितमाह–'उक्किट्ठ'त्ति–उत्कृष्टरसानि परीचानां–प्रत्येकवनस्पतीनामनन्तकायिकानां च सद्यःकृतानि श्लक्ष्णखण्डानि इति सामर्थ्याद्गम्यते, तैरालिप्तखरण्टितं यत् हस्तादि, तन्महीरुहेषु, अत्र तृतीयार्थे सप्तमी, महीरुहैर्म्रक्षितं ज्ञेयम् ॥ ५३४ ॥

सेसेहिं काएहिं तीहिवि तेऊसमीरणतसेहिं । सच्चित्तं मीसं वा न मक्खितं अत्थि उल्लं वा ॥५३५॥

शेषैस्त्रिभिरपि तेजःसमीरणत्रसरूपैः सचित्तरूपं मिश्रं वा आर्द्रतारूपं वा म्रक्षितं न भवति, लोके तथाप्रकारप्रयोगाभावात् ॥ ५३५ ॥ अथ कल्प्याकल्प्यविधिमाह–

सच्चित्तमक्खियंमी हत्थे मत्ते य होइ चउभंगो। आइतिए पडिसेहो चरिमे भंगे अणुन्नाओ ॥५३६॥

सचित्तपृथ्वीकायादिम्रक्षिते हस्ते मात्रे च चतुर्भङ्गी भवति, तथाहि–हस्तो म्रक्षितो मात्रं च, हस्तो न मात्रं, मात्रं न हस्तो, नोभयमपि, आदिमे भङ्गत्रिके प्रतिषेधः चरमभङ्गोऽनुज्ञात इति ॥ ५३६ ॥ अथाचित्तम्रक्षितमाश्रित्य कल्प्याकल्प्यविधिमाह–

अच्चित्तमक्खियंमि उ चउसुवि भंगेसु होइ भयणा उ। अगरहिएण उ गहणं पडिसेहो गरहिए होइ ॥

अचित्तम्रक्षिते हस्ते मात्रे च भवति, तथाहि–हस्तयोगे प्रागिव चतुर्षु भङ्गकेषु भजना–विकल्पना, तामेवाह–अगर्हितेन–लोकानिन्दितेन घृतादिना म्रक्षिते ग्रहणं, गर्हिते न तु वसादिना म्रक्षिते प्रतिषेधो भवति, तत्रापि चतुर्थो भङ्गः

शुद्ध एवेतिग्रहणम् ॥ ५३७ ॥ अगर्हिते विशेषमाह—

संसज्जिमेहिं वज्जं अगरहिएहिंपि गोरसदवेहिं । महुघयतेल्लगुलेहि य मा मच्छिपिपीलियाघाओ ५३८

संसक्तिमद्भ्यां तन्मध्यनिपतितजीवयुक्ताभ्यां गोरसद्रवाभ्यां–दध्यादिपानकाभ्यामगर्हिताभ्यां म्रक्षितं म्रक्षिताभ्यां हस्तमात्राभ्यां वा दीयमानं वर्ज्यम्, तथा मधुघृततैलगुडैरगर्हितैरपि म्रक्षिताभ्यां हस्तमात्राभ्यां दीयमानं वर्ज्यं, कुत इत्याह–मा मच्छिपिपीलियाघाओ–मा मक्षिकापिपीलिकानां, उपलक्षणत्वात्पतङ्गानां घातो–विनाशोऽभूदिति कृत्वा, एतच्चोत्कृष्टजिनकल्पिकानामेवं ज्ञेयम्, स्थविरकल्पिकानां तु यथायोग्यम् ॥ ५३८ ॥ सम्प्रति गर्हितागर्हितविशेषमाह—

मंसवससोणियासव लोए वा गरहिएहिवि वज्जेज्जा । उभओऽवि गरहिएहिं मुत्तुच्चारेहिं छित्तंपि ॥

मांसवसाशोणितासवैर्लोके गर्हिते म्रक्षितं च वर्जयेत्, तथा उभयस्मिन्नपि–लोके लोकोत्तरे च गर्हिताभ्यां मूत्रोच्चाराभ्यां आस्तां म्रक्षितं स्पृष्टमपि वर्जयेत् ॥ ५३९ ॥ अथ निक्षिप्तद्वारमाह—

सच्चित्त मीसएसु दुविहं काएसु होइ निक्खित्तं । एक्केक्कं तं दुविहं अणंतरं परंपरं चेव ॥ ५४० ॥

कल्पनीयं निक्षिप्तं द्विधा–सचित्तेषु–पृथिव्यादिषु मिश्रेषु च, एकैकमपि द्विधा–अनन्तरं परम्परं च, तत्र सामान्यतो निक्षिप्तं सचित्ताचित्तमिश्रभेदात्रिधा, तत्र च त्रय(तिस्र)श्चतुर्भङ्ग्यः, तथाहि–सचित्ते सचित्तं १ मिश्रे सचित्तं २ सचित्ते मिश्रं ३ मिश्रे मिश्र४मित्येका चतुर्भङ्गी, तथा सचित्ते सचित्तं १ अचित्ते सचित्तं २ सचित्ते अचित्तं ३ अचित्ते अचित्तमिति

४ द्वितीया, तथा मिश्रे मिश्र १ अचित्ते मिश्र २ मिश्रे अचित्तं २ अचित्ते अचित्तमिति४तृतीया ॥ ५४० ॥ अथात्रैवानन्तरपरम्परविभागमाह—

पुढवी आउक्काए तेऊवाऊवणस्सइतसाणं । एक्केक्क दुहाणंतर परंपरगणम्मि सत्तविहा ॥ ५४१ ॥

पृथिव्यादीनां सचित्तानां प्रत्येकं सचित्तपृथिव्यादिषु निक्षेपः सम्भवति, यथा पृथ्वीकायस्य निक्षेपः षोढा, तथाहि—पृथ्वीकायस्य पृथ्वीकाये निक्षेप इति प्रथमभेदः, एवं पञ्चस्वपि, एवमप्कायादीनामपि निक्षेपः प्रत्येकं षोढा भावनीयः, सर्व-सङ्ख्यया ३६ भङ्गाः, एकैकोऽपि भङ्गो द्विधा-अनन्तरं परम्परया च, केवलमग्निकाये पृथिव्यादीनां निक्षेपः सप्तधा, एतच्चाग्रे वक्ष्यति ॥ ५४१ ॥ अथ पृथ्वीकायस्य षोढात्वं सूत्रकृत् साक्षादाह—

सच्चित्त पुढविकाए सच्चित्तो चेव पुढविनिक्खित्तो । आऊतेउवणस्सइसमीरणतसेसु एमेव ॥५४२॥

व्याख्यातैव ॥ ५४२ ॥ एवं शेषकायेष्वप्यतिदेशमाह—

एमेव सेसयाणवि निक्खेवो होइ जीवकाएसुं । एक्केक्को सट्ठाणे परठाणे पंच पचेव ॥ ५४३ ॥

एवमेव शेषाणामपि-अप्कायादीनां जीवनिकायेषु-पृथिव्यादिषु निक्षेपो भवति, एकैको भङ्गः स्वस्थाने, शेषाः पञ्च २ परस्थाने, यथा पृथ्वीकायस्य पृथ्वीकाये निक्षेप एको भङ्गः स्वस्थाने, अप्कायादिषु पञ्चसु परस्थाने, एवमप्कायादीनामपि भावनीयं, तदेवं प्रथमचतुर्भङ्गिकायाः सचित्ते सचित्तमित्येवरूपे प्रथमे भेदे षट्त्रिंशद्भङ्गाः सम्भवन्ति ॥ ५४३ ॥ अथ प्रथम-

अनन्तर-परम्पर-विभागे पृथ्वी-कायादीनां भङ्गाः।

चतुर्भङ्गया रचिते निक्षिप्यमाणयोर्ये द्वे चतुर्भङ्गयौ, एवं शेषमङ्गत्रयं, द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गयौ चातिदेशत आह—

एमेव मीसएसुवि मीसाण सचेयणेसु निक्खेवो । मीसाणं मीसेसु य दोण्हंपि य होइऽचित्तेसु ॥

एवमेव सचित्तेषु सचित्तमिव मिश्रेष्वपि–पृथिव्यादिषु सचित्तपृथिव्यादिनिक्षेपो भेदो ज्ञेयः, एतेन प्रथमचतुर्भङ्गया द्वितीयो भङ्गः । तथा एवमेव सचेतनेषु मिश्राणां निक्षेपो भेदः, एतेन तृतीयो भङ्गः, तथा एवमेव मिश्राणां मिश्रेषु निक्षेपो भेदः, एतेन चतुर्थो भङ्गः, सर्वं सङ्ख्यया चतुर्भङ्गयां चतुश्चत्वारिंशं भङ्गशतं, एवमेव द्वयोरपि सचित्तमिश्रयोरचित्ते निक्षिप्यमाणयोर्ये द्वे चतुर्भङ्गयौ प्रागुक्ते तत्रापि प्रत्येकं चतुश्चत्वारिंशं भङ्गशतं भवति, सर्वसङ्ख्या भङ्गानां ४३२ चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि भवन्ति ॥ ५४४ ॥ अथ चतुर्भङ्गीत्रयमुद्दिश्य कल्प्याकल्प्यविधिमाह—

जत्थ उ सचित्तमीसे चउभंगो तत्थ चउसुवि अगिज्झं । तं तु अणंतर इयरं परित्तऽणंतं च वणकाए ॥

यत्र निक्षेपे सचित्तमिश्रे आश्रित्य चतुर्भङ्गी प्रथमेत्यर्थः, तत्र चतुर्ष्वपि भङ्गेषु, अपि शब्दाद् द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गयोरपि, आद्येषु त्रिपु भङ्गेषु वर्त्तमानमनन्तरं परम्परं च वनस्पतिविषये प्रत्येकमनन्तं वा तत् सर्वमग्राह्यं, सामर्थ्याद् द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गयोश्चतुर्थे २ भङ्गे वर्त्तमानं ग्राह्यं, तत्र दोषाभावात् ॥ ५४५ ॥ अथ सचित्तादिभिस्त्रिभिरपि मतान्तरेणैकामेव चतुर्भङ्गीकल्प्याकल्प्यविधिमाह—

अहव ण सचित्तमीसो उ एगओ एगओ उ अचित्तो । एत्थं चउक्कभेओ तत्थाइतिए कहा नत्थि ॥

पृथ्व्यादीनां ४३२ मङ्गाः, तत्र कल्प्याकल्प्यत्वं च ।

अथवेति प्रकारान्तरे 'पो'ति वाक्यालङ्कारे, एकत्र पक्षे सचित्तमिश्रे एकत्र तु अचित्तः, ततः प्राक्तनक्रमेण चतुर्भङ्गी तथाहि–सचित्ते[मिश्रे] सचित्तमिश्र १, अचित्ते सचित्तमिश्रं २, सचित्तमिश्रे अचित्त, ३ अचित्ते अचित्तमिति ४, अत्रापि प्रागिव एकैकस्मिन् भङ्गे ३६ भेदाः स्युः, सर्वसङ्ख्यया १४४, तत्रादिमे भङ्गत्रये कथा नास्ति–ग्रहणे वार्ता न विद्यते, सामर्थ्याच्चतुर्थे भङ्गे कल्पते ॥ ५४६ ॥ तदेवं "पुढवी"त्यादिमूलगाथायाः पूर्वार्द्धं व्याख्यात, अथ 'एकेके दुहाणतर'-मित्यवयव व्याचिख्यासुर्द्वितीयचतुर्भङ्गयोः सत्कस्य तृतीयस्य भङ्गस्य सामान्यतोऽशुद्धस्य विषये विशेषं बिभणिषुरनन्तर-परम्परमार्गणां करोति—

जं पुण अचित्त दव्वं निक्खिप्पइ चेयणेसु मीसेसु । तहिं मग्गणा उ इणमो अणतरपरंपरा होइ ॥

यत्किमपि अचित्त द्रव्य–ओदनादि सचित्तेषु मिश्रेषु वा निक्षिप्यते, तत्रेयमनन्तरपरम्परयोर्वा मार्गणा परिभावना भवति ॥ ५४७ ॥ तदेवाह—

ओगाहिमायणंतर परंपर पिढरगाइ पुढवीए । नवणीयाइ अणतर परंपर नावमाईसु ॥ ५४८ ॥

अवगाहिमादि-पक्वान्नमण्डकप्रभृतिपृथिव्यामानन्तर्येण स्थापित, अनन्तरनिक्षिप्त, पृथिव्युपरि स्थिते पिठरकादौ स्थापितं परम्परा निक्षिप्त, एवत्पृथ्वीकायमाश्रित्यानन्तरपरम्परया निक्षेप उक्तः । अथाप्कायमाश्रित्याह–'नवे'त्ति नवनीतादि–म्रक्षणादि सचित्तोदकेऽनन्तरनिक्षिप्त, तदेव नवनीतादि अवगाहिमादि वा जलमध्यस्थनावादिस्थित परम्परानिक्षिप्तमिति

मतान्तरे पृथ्वीकायादी-नामाश्रित्य मुद्रा-छुब्भणं ।

॥ ५४८ ॥ अथाग्निकायेऽनन्तरपरम्परे व्याख्यानयन् " अगणिम्मि सत्त विहो " इति व्याख्यानयति—

विज्झायमुम्मुरिंगालमेव अप्पत्तपत्तसमजाले । वोक्कंते सत्तदुगं जंतोलित्ते य जयणाए ॥ ५४९ ॥

सप्तधा वह्निः, तथाहि–विध्यातो मुर्मुरोऽङ्गारोऽप्राप्तः प्राप्तः समज्वालो व्युत्क्रान्तश्च, यः प्रथमं नोपलभ्यते पश्चादिन्धनप्रक्षेपे ज्ञायते स विध्यातः १, आपिङ्गला अर्द्धविध्याता अग्निकणा मुर्मुरः २, ज्वालारहितो वह्निरङ्गारः ३, यच्चुल्ल्या उपरिस्थं पिठरं ज्वालाभिर्न प्राप्नोति सोऽप्राप्तः ४, यस्तु प्राप्नोति स प्राप्तः ५, यः पिठरस्य बुध्नादूर्ध्वमपि यावत्कर्णौ ज्वालाभिः स्पृशति स समज्वालः ६, यस्य ज्वालाः पिठरकर्णादूर्ध्वमपि गच्छन्ति स व्युत्क्रान्तः ७, एते भेदास्तेजस्कायस्य एकैकोऽप्यनन्तरपरम्परभेदाद् द्विधा, तत्र यद्विध्यातादिरूपे वह्नौ मण्डकादि प्रक्षिप्यते, तदनन्तरनिक्षिप्तं, वह्न्युपरि पिठरादौ परम्परं चेति, तत्र सप्तानां भेदानां मध्ये यमेव तमेव भेदमाश्रित्य यन्त्रे–इक्षुरसपाकस्थाने कटाहादाववलिप्ते मृत्तिकाखरण्टिते यतनया परिशाटिपरिहारेण ग्रहणमिक्षुरसस्य कल्पते ॥ ५४९ ॥ अथैनामेव गाथां व्याख्यानयन् गाथाद्वयेन विध्यातादिस्वरूपमाह—

विज्झाउत्ति न दीसइ अग्गी दीसेइ इंधणे छूढे । आपिंगल अगणिकणा मुम्मुर निज्जाल इंगाले ॥५५०

अप्पत्ता उ चउत्थे जाला पिढरं तु पंचमे पत्ता । छट्ठे पुण कण्णसमा जाला समइच्छिया चरिमे ॥५५१

सुगमम् ॥ ५५०–५५१ ॥ अथ " जंतोलित्ते य जयणाए (५४९) " इति व्याख्यानयति—

कीदृशे इक्षुरस-जले यत्नगते कल्पते ?।

पासोलित्त कडाहे परिसाडी नत्थि तंपि य विसालं। सो वि य अचिरच्छूढो उच्छुरसो नाइउसिणो य

इह यदीति सर्वत्राध्याह्रियते, यदि कटाहः–पिठरविशेषः सर्वतः पार्श्वेषु मृत्तिकयाऽवलिप्तो भवेत् दीयमाने च परिशाटिर्न स्यात्, तदपि कटाहभाजनं विशालमुखं सोऽपि चेक्षुरसोऽचिरक्षिप्त इति कृत्वा यदि नात्युष्णो भवति, तदा स दीयमान-इक्षुरसः कल्पते, अन्यथा भाजनरसः–इक्षुरसबिन्द्वादिपतनेऽग्निविराधनायोगात् ॥५५२॥ अथोदकमाश्रित्य विशेषमाह—

उसिणोदगंपि घेप्पइ गुडरसपरिणामियं अणच्चुसिणं। जं च अघट्टियकन्नं घट्टियपडणंमि मा अग्गी

उष्णोदकमपि गुडरसपरिणमितमनत्युष्णं गृह्यते, अयं भावः–यत्र कटाहे गुडः पूर्वक्वथितो भवति, तस्मिन् निक्षिप्तं जलमीषदुष्णमपि कटाहसंसक्तगुडरसमिश्रणात् सत्वरमचित्तीभवति, ततस्तदनत्युष्णमपि कल्पते, अत्रापि पार्श्वावलिप्तकटाहस्थितमपरिशाटिमन्येति विशेषणद्वयमनुपात्तमपि ज्ञेयं, तथा यद् अघट्टितकर्णं न यस्मिन् दीयमाने पिठरस्य कर्णावुदञ्चनेन प्रविशता निर्गच्छता वा घट्येते तत् कल्पते, भक्तादिदोषाभावात्, कुत इत्याह–उदञ्चनेन प्रविशता निर्गच्छता वा पिठरस्य कर्णयोर्घट्यमानयोर्लेपस्योदकस्य वा पतने माऽग्निर्विराध्यतेति कृत्वा एतेन च वक्ष्यमाणषोडशभेदानां प्रथमो भेदो दर्शितः ५५३ ॥ अथ षोडशभङ्गानाह—

पासोलित्तकडाहेऽणच्चुसिणे अपरिसाडऽघट्टंते। सोलसभंगविगप्पा पढमेऽणुन्ना न सेसेसु ॥५५४॥

पार्श्वोऽवलिप्तः कटाहोऽनत्युष्णो दीयमानो जलेक्षुरसादिः, अपरिशाटिः अघट्टन्ते–उदञ्चनेन पिठरकर्णाघट्टने, इत्यमूनि

चत्वारि पदानि आश्रित्य षोडश भङ्गा भवन्ति, भङ्गानयनोपायस्त्वयं-द्विकचतुष्टयं परस्परगुणितं भङ्गा भवन्ति, यथा-द्विको द्विकेन गुणितो जातश्चत्वारः, तैस्तृतीयद्विको गुणितो जाता अष्टौ, तैस्तुर्यद्विकगुणने षोडश, "[1] पयसमदुगअब्भासे माणं भंगाणं" इति वचनाद् इहाद्ये भङ्गे अनुज्ञा न शेषेषु ॥ ५५४-५५५ ॥ अत्युष्णग्रहणे दोषानाह—

दुविहविराहण उसिणे छड्डण हाणी य भाणभेओ य । वाउक्खित्ताणंतरपरंपरा पप्पडिय वत्थी ॥

अत्युष्णे इक्षुरसादौ दीयमाने संयमात्मरूपा द्विधा विराधना स्यात्, अतितप्ततया यत्र भाजने गृहीते तस्मिन् करे क्रियमाणे दह्यते, दात्र्यपि दह्यते, कदापीक्षुरसादिच्छर्दने हानिर्भाजनभेदश्च जायते। अथ वातकायमधिकृत्यानन्तरपरम्परे दर्शयति, वात इति वातोत्क्षिप्ताः—समीरणोत्पाटिताः पर्पटिकाः—शालिर्पपटिका अनन्तरनिक्षिप्तं, परम्परनिक्षिप्तं,वत्थित्ति विभक्तिलोपाद्वस्तौ, उपलक्षणत्वात् समीरणभृतदृतिप्रभृतिव्यवस्थितं मण्डकादि ॥ ५५६ ॥ अथ वनस्पतित्रसविषयं द्विविधमप्याह—

हरियाइअणंतरिया परंपरं पिढरगाइसु वणंमि । पूपाइ पिट्ठणंतर भरए कुउवाइसू इयरा ॥५५७॥

वने—वनस्पतौ अनन्तरनिक्षिप्तं हरितादिषु अनन्तरिता अपूपादय इति शेषः, हरिताद्युपरिस्थितपिठरादौ निक्षिप्ता अपूपादयः परम्परनिक्षिप्तं, तथा बलीवर्दानां पृष्ठे अपूपादयो निक्षिप्ता अनन्तरं त्रसेषु निक्षिप्तं, तथा बलीवर्दादिपृष्ठ एव भरके-

१ पयसमदुगअब्भासे माणं भंगाण तेसिमा रयणा। एगंतरियं लहुगुरु दुगुणा दुगुणा य वामेसु ॥ ५५५ ॥ एषा गाथा श्रीमलयगिरिपादैरङ्गीकृता व्याख्याता च, अतोऽस्याः क्रमाङ्कोपस्थिति न्याय्यैवेति (मूद्रितपत्रे १५३)।

षोडशभङ्गं आद्येऽनुज्ञाऽत्युष्णग्रहणे द्विविधविराधनादि च ।

कुतुपादिषु वा भाजनेषु निक्षिप्ता मोदकादयः <परम्परम्> ॥ ५५७ ॥ अथ पिहितद्वारमाह—

सच्चित्ते अच्चित्ते मीसग पिहियंमि होइ चउभंगो । आइतिगे पडिसेहो चरिमे भंगंमि भयणा उ ॥

पिहित-द्वारम् ।

सचित्ते-सचित्तेन अचित्तेन मिश्रेण वा पिहितद्वारे चतुर्भङ्गी भवति, जातावेकवचनमिति, तिस्रश्चतुर्भङ्ग्यो भवन्ति पूर्ववत्, तथा गाथापर्यन्ततुशब्दात् प्रथमचतुर्भङ्ग्यां सर्वेष्वपि भङ्गेषु न कल्पते, द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गिकायास्तु प्रत्येकमादिमेषु त्रिषु भङ्गेषु न कल्पते, चरमे तु भङ्गे भजना, सा चाग्रे वक्ष्यते ॥ ५५८ ॥ अथ चतुर्भङ्गीत्रयावान्तरभेदानाह—

जह चेव उ निक्खित्ते संजोगा चेव होंति भंगा य । एमेव य पिहियंमिवि नाणत्तमिणं तइयभंगे

यथा निक्षिप्ते सचित्ताचित्तमिश्राणां संयोगाः प्रागुक्ताः, यथा च चत्वारिंशतानि द्वात्रिंशदधिकानि भङ्गा उक्तास्तथाऽत्रापि द्रष्टव्याः, सर्वं भाणिव, नवरं द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्ग्योः प्रत्येकं तृतीयभङ्गे अनन्तरपरम्परमार्गणाविधौ निक्षिप्तद्वारादिदं वक्ष्यमाणं नानात्वं ज्ञेयं, तत्र सचित्तपृथ्वीकायेनावष्टब्धं मण्डकादि सचित्तपृथ्वीकायानन्तरपिहितं, सचित्तपृथ्वीकायगर्भपिठरादिपिहितं परम्परपिहितमिति, तथा हिमादिनाऽवष्टब्धं मण्डकादि सचित्ताप्कायानन्तरपिहितं हिमादिगर्भपिठरादिना <पिहित परं> परं चेति ॥ ५५९ ॥ अथ सचित्ततेजस्कायादिपिहितमनन्तरं परम्परं चाह गाथाद्वयेन—

अंगारधूवियाई अणतरो सतरो सरावाई । तत्थेव अइर वाऊ परंपर वत्थिणा पिहिए ॥ ५६० ॥

अइरं फलाइपिहितं वणमि इयरं तु छब्बपिठराई । कच्छवसचाराई अणतराणतरे छट्ठे ॥ ५६१ ॥

इह स्थाल्यादौ संस्वेदिमादीनां मध्ये अङ्गारं क्षिप्त्वा हिङ्ग्वादिना वासो दीयते, आदिशब्दाच्चनकादिकं मुर्मुरादिक्षिप्तमनन्तरपिहितं ज्ञेयं, अङ्गारभृतशरावादिना पिहितं परम्परपिहितं च, तथा तत्रैव अङ्गारधूपितादौ अइरिति—अतिरोहितमनन्तरपिहितं वायोर्द्रष्टव्यं "यत्राग्निस्तत्र वायुरि"तिवचनात्, समीरणभृतेन बस्तिना पिहितं परम्परमिति, तथा वने—वनस्पतौ फलादिना अइरिति—अतिरोहितेन पिहितमनन्तरं छब्बपिठरादौ स्थितेन फलादिना तु पिहितं परम्परमिति, तथा षष्ठे त्रसकाये कच्छपेन सञ्चारादिना च—कीटिकापङ्क्त्यादिना च यत्पिहितं तदनन्तरमिति, कच्छपादिगर्भरहितादिपिहितं परम्परमिति ॥ ५६०–५६१ ॥ यदुक्तं "चरमे भंगंमि भयणा उ (५५८)" तद् व्याख्यानयति—

गुरु गुरुणा गुरु लहुणा लहुयं गुरुएण दोऽवि लहुयाइं। अच्चित्तेणावि पिहिए चउभंगो दोसु अग्गेज्झं॥

अचित्तेनापि—अचित्ते पिहिते चतुर्भङ्गी स्यात्, तथाहि—गुरु गुरुणा १, गुरु लघुना २, लघु गुरुणा ३, लघु लघुनेति ४, एतेषां मध्ये प्रथमतृतीयभङ्गयोः कल्पते, न शेषद्वये कल्पते ॥ ५६२ ॥ अथ संहृतद्वारमाह—

सच्चित्ते अच्चित्ते मीसग साहारणे य चउभंगो। आइतिए पडिसेहो चरिमे भंगंमि भयणा उ ॥५६३

इह येन मातृकेण भक्तादिकं दातुमिच्छति दात्री तत्रान्यददातव्यं, किमपि सचित्तमचित्तं मिश्रं वाऽस्ति, ततस्तदन्यत्र भूम्यादौ क्षिप्त्वा तेनान्यद्ददाति, तच्च कदाचित् च सचित्तेषु पृथ्व्यादिषु मध्ये क्षिपति, कदाचिदचित्ते कदाचिन्मिश्रे तत्संहरणे सचित्ताद्यधिकृत्य चतुर्भङ्गीत्रयं प्राग्वत्, अत्रापि गाथापर्यन्ततुशब्दात्प्रथमचतुर्भङ्गिका सर्वभङ्गकेषु निषेधः, द्वितीयतृतीय—

सचित्ततेजस्कायादिपिहितेऽनन्तर परम्परे संहृतद्वारञ्च।

चतुर्भङ्गिकयोस्तु आदित्रिके प्रतिषेधः, चरमे भजना ॥ ५६३ ॥ अथ चतुर्भङ्गीत्रयान्तरभेदानतिदेशेनाह—

जह चेव उ निक्खित्ते संजोगो चेव होंति भंगा य । तह चेव उ साहरणे नाणत्तमिणं तइयभंगे

व्याख्या पूर्ववत् ॥ ५६४ ॥ अथ नानात्वं दर्शयन् संहरणलक्षणमाह—

मत्तेण जेण दाहिइ तत्थ अदिज्जं तु होज्ज असणाई । छोढुं तयन्नहिँ तेण देई अह होइ साहरणं

येन मात्रकेण दास्यति दात्री तत्रादेयं किमप्यस्ति-अशनादिकं सचित्तपृथ्वीकायादिकं वा, ततस्तददेयमन्यत्र स्थानान्तरे क्षिप्त्वा ददाति, अदत्त, एतत् संहरणं तत एतल्लक्षणानुसारेणानन्तरपरम्परमार्गणानुसरणीया, तद्यथा-सचित्त-पृथ्वीकायमध्ये यदा संहरति तदानन्तरं, यदा सचित्तपृथिव्युपरिभाजने संहरति तदा परम्परं, एवमप्कायादिष्वपि भावनीयम्, अत्राय वृद्धो वृद्धसम्प्रदायो " निक्षिप्तादौ अनन्तरे न ग्राह्यं परम्परे सचित्तपृथिवीकायाद्यघट्टने ग्राह्य "मिति ॥ ५६५ ॥ सम्प्रति द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गीसत्कं तृतीयं २ भङ्गमाश्रित्य येषु वस्तुषु मात्रकस्थितं अदेयं वस्तु संहरति, तान्युपदर्शयति—

भूमाइएसु तं पुण साहरणं होइ छसुवि काएसु । जं तं दुहा अचित्तं साहरणं तत्थ चउभंगो ॥५६६

तत्पुनर्मात्रकस्थितस्यादेयस्य वस्तुनः संहरणं भूम्यादिषु-सचित्तपृथ्वीकायादिषु षट्सु, जीवनिकायेषु भवति-जायते, तत्र चानन्तरोक्तमनन्तरपरम्परामार्गणं, ततोऽनन्तरोक्त एव कल्प्याकल्प्यविधिरवधारणीयः, अथ चरमभङ्गभजनामाह—

भूम्यादौ संहरणत्वं ।

यत् संहरणं च द्विधापि—आधारापेक्षया संहृयमाणापेक्षया च अचित्तमचित्ते संहृयते, तत्र चतुर्भङ्गी ॥ ५६६ ॥ तानेवाह—

सुक्के सुक्कं पढमो सुक्के उल्लं तु बिइयओ भंगो। उल्ले सुक्कं तइओ उल्ले उल्लं चउत्थो उ ॥ ५६७ ॥

सुगमा ॥ ५६७ ॥

एक्केक्के चउभंगो सुक्काईएसु चउसु भंगेसु। थोवे थोवं थोवे बहुं च विवरीय दो अन्ने ॥ ५६८ ॥

पूर्वगाथोक्तशुष्कादिचतुर्ष्वपि भङ्गेषु एकैकस्मिन् भङ्गे चतुर्भङ्गी, तद्यथा—स्तोके शुष्के स्तोकं शुष्कं, स्तोके शुष्के बहु शुष्कं, विवरिय दो अन्नित्ति, एतद्विपरीतौ अन्यौ द्वौ भङ्गौ द्रष्टव्यौ, तद्यथा—शुष्के बहुके स्तोकं शुष्कं, बहुके शुष्के बहु शुष्कं, एवं शेषभङ्गेष्वपि भावनीयं, सर्वसङ्ख्यया भङ्गाः १६ ॥ ५६८ ॥ अत्र कल्प्याकल्प्यविधिमाह—

जत्थ उ थोवे थोवं सुक्के उल्लं च छुहइ तं भज्झं (गेज्झं)। जइ तं तु समुक्खेउं थोवाभारं दलइ जन्नं ५६९

यत्र तु भङ्गे स्तोके तुशब्दाद्बहुके च संहृतं स्तोकं भवति, तदपि शुष्के शुष्कं कल्पत एव, अथवा शुष्के आर्द्रे वा शब्दादार्द्रे शुष्कं आर्द्रे आर्द्रं वा तदा तद्ग्राह्यं, न शेषं, कुत ? इत्याह—जइ इत्यादि, यदि तदादेयं वस्तु स्तोकाभारं—बहुभाररहितं अन्यत्र समुत्क्षिप्य ददाति, तर्हि तत्कल्पते नान्यथा, बहुकं च संह्रियमाणं बहुभारं भवति, ततः शुष्के शुष्कमित्यादिषु चतुर्षु भङ्गेषु प्रत्येकं स्तोके स्तोकं बहुके स्तोकं इति प्रथम तृतीय भङ्गौ कल्पते, न द्वितीयचतुर्थौ ॥ ५६९ ॥ तत्र दोषानाह—

उक्खेवे निक्खिवे महल्लभाणंमि लुद्ध वह डाहो। अचियत्तं वोच्छेओ छक्कायवहो य गुरुमत्ते ॥५७०॥

महति भाजने–प्रभूतदेयवस्तुभारभृते उत्पाट्यमाने निक्षिप्यमाने दात्र्याः पीडा भवति, तथा तस्य भाजनस्य पर्वे–विनाशे दात्र्याः सार्वोर्वा दाहो भवति, कदापि खेदवशादप्रीतिर्विधीयते, ततस्तद्द्रव्यान्यद्रव्यान्यवच्छेदः, तथा भाजने भग्ने सति तन्मध्यस्थमकादौ सर्वतोऽपि विसर्पति षट्कायवधः, तथा स्तोके बहुक बहुके बहुकमिति द्वौ भङ्गौ सर्वत्रापि न कल्पते ॥ ५७० ॥ एतदेवाह—

थोवे थोव छूढ सुक्के उल्लं तु तं तु आइन्नं । बहुयं तु अणाइन्नं कडदोसो सोत्ति काऊणं ॥५७१॥

स्तोके स्तोकमुपलक्षणत्वात् बहुके स्तोकं प्रक्षिप्तं, तदपि शुष्के शुष्क कल्पत एव, ततः शुष्के आर्द्रे, तु शब्दादार्द्रे शुष्क आर्द्रे आर्द्रे च तद्भवति आचीर्णं, यत्र बहुक स्तोके बहुके बहुक तदनाचीर्णं, कुतः ? इत्याह–स बहुकसंहार' कृतदोषो–अनन्तरगाथायामुक्तदोष इति कृत्वा ॥ ५७१ ॥ अथ दायकद्वारं गाथाषट्केनाह—

बाले वुड्ढे मत्ते उम्मत्ते थेविरे य जरिए य । अधिल्लए[य] पगरिए आरूढे पाउयाहिँ च ॥५७२॥
हत्थिंदुनियलबद्धे विवज्जिए चेव हत्थपाएहिँ। तेरासि गुव्विणी बालवच्छ भुंजंति घुसुलिंती ॥५७३॥
भज्जंती य दलंती कंडंती चेव तह य पीसंती। पींजती रुंचंती कत्तति पमद्दमाणी य ॥ ५७४ ॥
छक्कायवग्गहत्था समणट्ठा निक्खिविचु ते चेव। ते चेवोगाहंती संघट्टंतारभंती य ॥ ५७५ ॥

शुष्कादिषु कल्प्या-कल्प्य-विधिः ।

संसत्तेण य दव्वेण लित्तहत्था य लित्तमत्ता य। उव्वत्तंती साहारणं व दिंती य चोरिययं ॥५७६॥
पाहुडियं च ठवंती सपच्चवाया परं च उद्दिस्स। आभोगमणाभोगेण दलंती वज्जणिज्जा ए ॥५७७॥

बालादयो वर्जनीया इति क्रियायोगः, बालो-वर्षाष्टमध्ये १, वृद्धः सप्ततिवर्षाणां मतान्तरे षष्टिवर्षाणां वा उपरि २, मत्तः-पीतमदिरादिः ३, उन्मत्तो-दृप्तो ग्रहगृहीतो वा ४, वेपमानः-कम्पशरीरः ५, ज्वरितो-ज्वराक्रान्तः ६, अन्धः ७, प्रगलितो-गलि(लत्)कुष्ठः ८, आरूढः पादुकयोः-काष्ठमयोपानहोः ९ तथा ॥ ५७२ ॥ हस्तान्दुना-करविषयकाष्ठमयबन्धनेन १०, निगडेन च-पादविषयलोहबन्धनेन बद्धः ११, हस्ताभ्यां पादाभ्यां वा विवर्जितच्छिन्नत्वात् १२, त्रैराशिको-नपुंसकः १३, गुर्विणी-आपन्नसत्त्वा १४, बालवत्सा-स्तन्योपजीविशिशुका १५, भुञ्जाना-भोजनं कुर्वती १६, घुसुलिंती-दध्यादि मथ्नती १७ ॥ ५७३ ॥ भर्जमाना-चुल्ल्यां कडिल्लकादौ-चनकादीन् स्फोटयन्ती १८, दलयन्ती घरट्टेन १९, खण्डयन्ती उदूखलेन २०, पिषन्ती शिलायां २१, पिञ्जयन्ती रुतादि २२, रञ्चन्तित्ति-कर्पासं लोठिन्यां लोठयन्ती २३, कृतन्ती-कर्तनं कुर्वती २४, प्रमृदन्ती-रूतं कराभ्यां पौनः पुन्येन विरलं कुर्वती २५ ॥ ५७४ ॥ षट्कायव्यग्रहस्ता-षट्काययुक्तहस्ता २६, तथा श्रमणस्य भिक्षादानाय तानेव षट्कायान् भूमौ निक्षिप्य ददती २७, तानेव षट्कायानवगाहमाना पादाभ्यां चालयन्ती २८, सङ्घट्टयन्ती-तानेव षट्कायान् शेषशरीरावयवेन स्पृशन्ती २९, आरभमाणास्तानेव षट्कायान् विनाशयन्ती ३० ॥ ५७५ ॥ संसक्तेन-दध्यादिना द्रव्येण लिप्तहस्ता-खरण्टितहस्ता ३१, तथा तेनैव द्रव्येण दध्यादिना संसक्तेन लिप्तमात्रा-

खण्डितमाचना ३२, उद्वर्तयन्ती—महत्पिठरादिकमुद्वर्त्य तन्मध्याद्ददती ३३, साधारण बहूनां सत्कं ददती ३४, चोरितं ददती ३५ ॥ ५७६ ॥ प्राभृतिका स्थापयन्ती—अग्रकूरादिनिमित्त मूलस्थाल्या आकृष्य स्थगनिकादौ मुञ्चन्ती ३६, सप्रत्यपाया—सम्भाव्यमानापाया दात्री ३७, तथा विवक्षितसाधुव्यतिरेकेण परमन्य साध्वादिकमुद्दिश्य यत् स्थापितं तद्ददती ३८, तथाऽऽभोगेन—साधूनामित्थं न कल्पत इति परिज्ञायाप्यशुद्धं ददती ३९, अथवाऽनाभोगेनाशुद्धं ददती ४०, सर्वसङ्ख्यया चत्वारिंशद्दोषाः ॥ ५७७ ॥ सम्प्रत्येतेषामेव दायकानामपवादमधिकृत्य वर्जनावर्जनविभागमाह—

एतेषां वर्जना-वर्जन-विभागः ।

एएसि दायगाणं गहणं केसिंचि होइ भइयव्वं । केसिंची अग्गहणं तव्विवरीए भवे गहणं ॥५७८॥

एतेषां बालादिदायकानां मध्ये केषांचिन्मूकत आरभ्य पञ्चविंशति सङ्ख्यानां ग्रहणं भजनीयं, कदाचिन्महत्प्रयोजनमुद्दिश्य कल्पते, शेषकाले नेति, केषाञ्चित् षट्कायव्यग्रहस्तादीनां पञ्चदशानां हस्ताद्ग्रहणं भिक्षायाः, तद्विपरीते तु दातरि भवेद्ग्रहणम् ॥ ५७८ ॥ अथैतेषां दायकानां हस्ताद् भिक्षाग्रहणे दोषानाह—

कव्वट्ठिग अप्पाहण दिन्ने अन्नन्न गहण पज्जत्त । खंतिय मग्गणदिन्ने उड्डाह पओस चारभडा ॥५७९॥

(द० ४२) कदाचिदभिनवश्राविका श्रमणेभ्यो भिक्षां दद्या इति निजपुत्रिकां अप्पाहिऊणं—सन्दिश्य भक्तं गृहीत्वा क्षेत्रं जगाम, गतायां तस्यां कोऽपि साधुसङ्घाटको भिक्षार्थमायातः, तया बालिकया तस्मै तन्दुलोदनो वितीर्णः, साधुर्लम्पट्यतया तां भ्रष्टतरामवेत्य पुनर्देहीत्युवाच यावत् सर्वोऽपि दत्तः, एवं मुद्गतन्दुलादिकमपि, अपराह्णे च समागता जननी,

उपविष्टा भोजनाय, भणिता च पुत्री, देहि मह्यमोदनमिति, साऽऽह समग्रोऽपि दत्तः साधवे, मात्रोक्तम्-शोभनं जातं, मह्यं मुद्गान् देहि, यावत् प्रान्ते काञ्जिकमात्रमयाचत, तदपि बालिका भणति-साधवे दत्तमिति, ततः सा नूतनश्राविका रुष्टा सती पुत्रिकामेवमपवदति-किमिति सर्वं दत्तं ?, तयोक्तं साधुर्भूयो भूयो याचते ततोऽदायि, सा ततः साधोरुपरि कोपात् सूरीणां समीपमाप्ता, तया साधुवृत्तान्ते गाढशब्दं कथ्यमाने जने प्रातिवेश्मिके मिलति साधूनामवर्णवादे सति सूरिभिस्तस्या जनस्य च समक्षं स साधुर्निर्भर्त्स्योपकरणं च सकलं गृहीत्वा वसतेर्निष्कासितः, एवं च श्राविकायाः कोपः शममगमत्, ततः सूरीणां क्षमाश्रमणं दत्त्वोक्तं श्राविकया भगवन् ! मा मन्निमित्तमेष निष्काश्यताम्, ततो भूयोऽपि स साधुः शिक्षयित्वा प्रवेशितः । सूत्रं सुगमम्, नवरं उड्डाह पउस चारभडा-लोके उड्डाहस्तथा प्रद्वेषभावतश्चारभटा इव लुण्टाका अमी, न साधव इत्यवर्णवादः ॥ ५७९ ॥ अथ (२) वृद्धदोषानाह—

थेरो गलंतलालो कंपणहत्थो पडिज्ज वा देंतो। अपहुत्ति य अचियत्तं एगयरे वा उभयओ वा ॥५८०॥

स्थविरः प्रायो गलल्लालो भवति, ततो देयमपि लालया खरण्टितं जायते, अतो लोके जुगुप्सा, तथा कम्पमानहस्तः स्यात्, तथा वृद्धो गृहाप्रभुर्भवति, ततस्तेन दीयमाने गृहस्वामिनोऽचियत्त-प्रद्वेषः स्यात्, स च एकतरस्मिन् साधौ वृद्धे वा यद्वा उभयोरपीति ॥ ५८० ॥ अथ (३-४) मत्तोन्मत्तावाश्रित्य दोषानाह—

अवयास भाण(घाय)भेओ वमणं असुइत्ति लोगगरिहा य। एए चेव उ मत्ते वमणविवज्जा य उम्मत्ते ॥

मत्तः कदापि साध्वोरालिङ्गनं विदधाति, भाजनं वा भिनत्ति, यद्वा पीतमासवं ददानो वमति, वमँश्च साधुं साधुपात्रं वा खरण्टयति, ततो लोके जुगुप्सा, तथा कोऽपि मत्तो विह्वलतया घातमपि कुर्यात्, ये दोषा मत्ते त एव वमनरहिता उन्मत्तेऽपि ॥ ५८१ ॥ अथ (५-६)वेपितज्वरितावाश्रित्य दोषानाह— (३-१२) मत्तादि-दायकजा दोषाः ।

वेविय परिसाडणया पासे व छुभेज्ज भाणभेओ वा । एमेव य जरियम्मिवि जरसंकमणं च उड्डाहो ॥५८२॥

वेपिता देयवस्तुनः परिशाटनं भवति, यद्वा पार्श्वे साधुभाजनाद्वहिः सर्वतोऽपि देयं क्षिपेत्, यद्वा येन स्वायत्तादिभाजनेन भिक्षामानयति तस्य पतने भेदः–स्फोटनं स्यात्, एवमेव ज्वरितेऽपि दोषाः, किञ्च ज्वरिताद्दायको ज्वरसंक्रमणमपि साधोर्भवेत्, तथा जने उड्डाह इति ॥ ५८२ ॥ (७-८) अन्धगलत्कुष्ठावाश्रित्य दोषानाह—

उड्डाह कायपडण अंधे भेओ य पास छुहणं च । तद्दोसी संकमणं गलंतभिसभिन्नदेहे य ॥५८३॥

अन्धात् भिक्षाग्रहणे उड्डाहः, तथाऽन्धोऽपश्यन् पादाभ्यां षड्जीवनिकायवधं करोति, पतनं च स्याद् भेदो भाजनस्य च, पार्श्वे भाजनाद्वहिर्भैक्षादिक्षेपणं च । तथा त्वग्दोषिणि किंचिद्विशिष्टे ! इत्यादि, गलद्भृशभिन्नदेहे–आर्षत्वाद् व्यत्यासेन पदयोजना, सा चैव भृशं–अतिशयेन गलत्–अर्द्धं पक्वं रुधिरं वहिर्वहन् भिन्नश्च–स्फुटितो देहो यस्य स तथा तस्मिन् दातरि सङ्क्रमणं कुष्ठव्याधेर्भवतीति ॥ ५८२ ॥ अथ (९ १२) पादुकारूढादिचतुष्टयदोषानाह—

पाउयदुरूढपडण बद्धे परियाव असुइखिंसा य । करछिन्नासुइ खिंसा ते च्चिय पावेऽवि पडणं च ॥५८४॥

पादुकारूढस्य पतनं तथा वद्धे दातरि परितापः, असुइत्ति–मूत्राद्युत्सर्गादौ जलेन शौचाकरणासम्भवाल्लोके निन्दा, <छिन्नकरेऽपि हस्ताभावाच्छौचासम्भवे निन्दा,> छिन्नपादेऽपि तथैव, पतनं चाधिकं नियमत इति ॥ ५८४ ॥ (१३) नपुंसकमधिकृत्य दोषानाह—

आयपरोभयदोसा अभिक्खगहणंमि खोभण नपुंसे । लोगदुगुंछा संका एरिसया नूणमेएऽवि ॥५८५॥

नपुंसके दातरि आत्मपरोभयदोषाः, तथाहि–नपुंसकादभीक्ष्णं भिक्षाग्रहणे अतिपरिचयो भवति, ततश्च तस्य साधोर्वा क्षोभो–वेदोदयरूपः समुपजायते, ततो नपुंसकस्य साधुलिङ्गाद्यासेवनेन द्वयस्यापि मैथुनसेवया कर्मबन्धः, तथा लोके जुगुप्सा, तथा जनस्य शङ्का स्यान्नूनमेतेऽपि साधव इदृशा नपुंसकाः, कथमन्यथा परस्परं परिचय इति ॥ ५८५ ॥ अथ (१४-१५) गुर्विणीबालवत्से आश्रित्य दोषानाह—

गुव्विणि गब्भे संघट्टणा उ उट्ठंतुवेसमाणीए । बालाई मंसुंडग मज्जाराई विराहेज्जा ॥ ५८६ ॥

गुर्विण्या दानार्थमुत्तिष्ठन्त्याः स्वस्थाने उपविशन्त्याश्च गर्भस्य सङ्घट्टनं भवति, तथा बालाई मंसुंडगत्ति, आर्षत्वाद् व्यत्यासेन पदयोजना, बालमिति शिशु भूमौ मञ्चिकादौ वा निक्षिप्य यदि भिक्षां ददाति, तर्हि तं बालं मार्जारादयो मांसोन्दुकादि–मांसखण्डं शशकशिशुरिति वा कृत्वा विराधयेयुः ॥ ५८६ ॥ (१६-१७) भुञ्जानां मन्थन्तीं चाश्रित्य दोषानाह—

भुंजंती आयमणे उदगं छोट्टी य लोगगरिहा य । घुसुलंती संतत्ते करंमि लित्ते भवे रसगा ॥५८७॥

भुञ्जाना दात्री दानार्थमाचमनं करोति, तथा च सति उदकं विराध्यते, अथ न करोति तदा छोटिरिति कृत्वा लोके गर्हा स्यात्, तथा घुसुलंती-दध्यादिमन्थन्ती संसक्तेन-दध्यादिना लिप्ते करे भिक्षां ददत्या रसजीवानां वधो भवति ॥५८७॥ अथ (१८ २५) पेषणादि कुर्वत्या दोषानाह—

दगवीए संघट्टण पीसणकंडदल भज्जणे डहणं। पिंजंत रुंचणाई दिन्ने लित्ते करे उदगं ॥ ५८८ ॥

पेषणकण्डनदलनानि कुर्वतीनां हस्ताद्भिक्षाग्रहणे उदकबीजसङ्घट्टनं स्यात्, तथा-पेषयन्ती(पिषन्ती) यदोत्तिष्ठति तदा पिष्यमाणतिलादिसक्ताः काश्चित्तिलिकाः सचित्ता अपि हस्तादौ लगिताः सम्भवन्ति, ततो भिक्षादानाय हस्तादिप्रस्फोटने भिक्षां वा ददत्या भिक्षासम्पर्कवस्तूनां विराधना भवति, भिक्षां च दत्त्वा हस्तौ जलेन प्रक्षालयेत्, ततः पेषणे उदकबीजसङ्घट्टन, एवं कण्डनदलनयोरपि, तथा भर्जने-भिक्षां ददत्यां वेलालगनेन कश्चिद्भक्षितगोधूमादीनां दहनं स्यात्, तथा कर्षन पिञ्जन आदिशब्दात् कर्पासलोठनमर्दने च कुर्वती भिक्षां दत्वा लिप्ते करे हस्तौ क्षालनादुदकं विराध्यते ॥ ५८८ ॥ अथ (२६-३०) षट्कायव्यग्रहस्तादिपञ्चकस्वरूपं गाथाद्वयेनाह—

लोणं दग अगणि वत्थी फलाइ मच्छाइ सजिय हत्थंमि। पाएणोगाहणया संघट्टण सेसकाएणं ॥५८९॥

खणमाणी आरभए मज्जइ धोयइ व सिंचए किंचि। छेयविसारणमाई छिंदइ छट्टे फुरुफुरुंते ॥५९०॥

इह सा षट्कायव्यग्रहस्ता-यस्या हस्ते सजीवं लवणमुदकमग्निर्वायुपूरिता वा वस्तिः फलादिकं मत्स्यादयो वा विद्यन्ते,

(१८-२५) दायकजा-दोषाः।

दायकजादोषाः षट्कायव्यग्रहस्तपदेमतान्तरं च ।

तत एतेषामन्यत् [ममापि] यदि भूम्यादौ निक्षिपति तर्हि न कल्पते । तथा अवगाहना नाम यदेतेषां षण्णां पादेन सङ्घट्टनं, शेषकायेन हस्तादिना सम्मर्दनं सङ्घट्टनं, आरभमाणा कुशादिना भूम्यादीन् खनन्ती, अनेन पृथ्व्यारम्भ उक्तः, यद्वा 'मज्जन्ती' स्नान्ती, धावन्ती वस्त्राणि क्षालयन्ति, किञ्चिद् वृक्षादिकं सिञ्चन्ती, उपलक्षणत्वाद् ज्वलयन्ती वैश्वानरं, सचित्तवायुभृतबस्त्यादिकमितस्ततः प्रक्षिपन्ति, एवमप्कायाग्निवायुसमारम्भ उक्तः, तथा शाकादेश्छेदविशारणे कुर्वती, तत्र छेदः पुष्पफलादेः खण्डनं विशारणं–तेषामेव खण्डानां शोषणायातपमोचनं, तथा छिन्दन्ती षष्ठान् त्रसकायान् फुरफुरंते इति–पोस्फूर्यमाणान् पीडयोद्वेल्लत इत्यर्थः, एतेन त्रसकायारम्भ उक्तः ॥ ५८९–५९० ॥ अथात्र षट्कायव्यग्रहस्तेति पदे मतान्तरमाह—

छक्कायवग्गहत्था केई कोलाइकन्नलइयाई । सिद्धत्थगपुप्फाणि य सिरंमि दिन्नाइं वज्जंति ॥५९१॥

केचिदाचार्याः षट्कायव्यग्रहस्तेति वचनतः कोलादीनि–बदरादीनि आदिशब्दात् करीरादिपरिग्रहः, कण्णलइयाइंति–कर्णे पिनद्धानि तथा सिद्धार्थकपुष्पाणि शिरसि दत्तानि वर्जयन्ति, हस्तग्रहणं किल सूत्रे उपलक्षणं, परं तन्मते षट्कायव्यग्रहस्तेतिपदात् षट्कायं सङ्घट्टयन्तीत्यस्य पदस्य विशेषो दुरुपपादः ॥ ५९१ ॥

अन्ने भणंति दससुवि एसणदोसेसु नत्थि तग्गहणं । तेण न वज्जं भन्नइ नणु गहणं दायगग्गहणा ॥५९२॥

अन्ये त्वाचार्यदेशीया भणन्ति, यथा–दशस्वपि शङ्कितादिदोषेषु मध्ये न तद्ग्रहणं षट्कायव्यग्रहस्तेतिपदोपादानं, तेन

(२१-२८) दायक-दोषाः ।

कारणेन कोलादियुक्तदात्र्या भिक्षाग्रहणं न वर्ज्यं, तदेतदयुक्तं, यत आह–मण्यते–अगोचरं दीयते, ननु दायकग्रहणादेषणा, दोषमध्ये षट्कायव्यग्रहस्तेत्यस्य ग्रहणं विफल एवेति ॥ ५९२ ॥ अथ (२१-२३) ससक्तिमद्द्रव्यदात्र्यादिदोषानाह—

संसज्जिमम्मि देसे संसज्जिमदव्वलित्तकरमत्ता । संचारो ओयत्तण उक्खिप्पंतेऽवि ते चेव ॥५९३॥

ससक्तिमद्द्रव्यवति देशे–मण्डले ससक्तिमता द्रव्येण लिप्तः करो मात्रं वा यस्याः सा भिक्षां ददती करादिलग्नान् सत्त्वान् हन्ति, तस्मात् सा वर्ज्यते, तथा महतः पिठरादेरपवर्तने 'सञ्चारः' 'सूचनात् सूत्रमिति सञ्चारिमकीटिकामत्कोटादिसत्त्वव्याघातः, एते च दोषा उत्पाट्यमानेऽपि ॥ ५९३ ॥ अथ (२४-२५) साधारणं चोरितं वा ददत्या दोषानाह—

साधारणं बहूणं तत्थ उ दोसा जहेव अणिसिट्ठे । चोरियए गहणाई भयए सुण्हाइ वा देंते ॥५९४॥

बहूनां साधारणं यदि ददाति तदा तत्र यथा निसृष्टे दोषास्तथा ज्ञेयाः, तथा चौर्येण भृतके-कर्मकरे स्नुषादौ वा ददति ग्रहणादयो दोषाः, ॥ ५९४ ॥ अथ (२६-२८) प्राभृतिकास्थापनादिद्वारत्रयमाह—

पाहुडि ठवियगदोसा तिरिउड्ढमहे तिहा अवायाओ । धम्मियमाई ठवियं परस्स परसंतियं वावि ॥५९५॥

प्राभृतिकां संस्थाप्य या भिक्षां दत्ते तत्र दोषाः प्रवर्त्तनादयः । सम्प्रति अपायेतिद्वारे, अपायास्त्रिविधास्तथाहि–तिर्यङ् ऊर्द्ध्वमधश्च, तत्र तिर्यग्गवादिभ्य ऊर्द्ध्वञ्चरककाष्ठादेरधः सर्पादेः, यत्रापायं पश्यति दात्र्यास्तत्र नादत्ते इति, तथा "पर चोद्दिश्ये"ति यदुक्तं, तत्राह–धार्मिकाधर्मभपरसाधुकार्पटिकादिनिमित्तं यत् स्थापितं तत्परस्य परमार्थतः सम्बन्धीति न

गृह्णीयात्, अदत्तादानदोषसम्भवात्, यद्वा परसंतियं व त्ति, परस्य-ग्लानादेः सत्कं यद्दाति तदपि स्वयमादातुं न कल्पते, तत्राप्यदत्तादानदोषसम्भवात्, किन्तु यस्मै ग्लानाय दापितं तस्मै दत्ते स चेन्न गृह्णाति तदा भूयो दात्र्याः समर्प्पणीयं, यदि च दात्र्येवं वदति ग्लानाग्रहणे त्वया ग्रहणे त्वया ग्राह्यमेवं कल्पते ॥ ५९५ ॥ अथ(३९-४०)नाभोगाभोगस्वरूपमाह—

अणुकंपा पडिणीयट्ठया व ते कुणइ जाणमाणोऽवि । एसणदोसे बिइओ कुणइ उ असढो अयाणंतो ॥

अनुकम्पया यद्वा मयैतेषां नियमभङ्गः कर्त्तव्य इति, प्रत्यनीकार्थतया जानानोऽपि तामाधाकर्म्मादिकैषणादोषान् करोति, द्वितीयस्तु करोत्यजानानोऽशठमात्र इति ॥ ५९६ ॥ अथ "एएसि दायगाणं गहणं केसिंचि होइ भइयव्व(गा. ५७८)"मिति व्याचिख्यासुः पूर्वं बालमाश्रित्य भजनामाह—

भिक्खामित्ते अवियालणा उ बालेण दिज्जमाणंमि । संदिट्ठे वा गहणं अइबहुय वियालणेऽणुन्ना ॥५९७॥

मातुः परोक्षे समीपे वा बालेन भिक्षामात्रे दीयमाने अविचारणा-विचारणाया अभावः, किन्तु ग्रहणमेवेति, सन्दिष्टे मात्रा कथितेऽपि ग्रहणं अतिबहुके दीयमाने किमद्य प्रभूतं ददासीति विचारणे सति यद्यनुज्ञा तदाग्राह्यं, मात्रा त्वननुज्ञाते न ग्राह्यम् ॥ ५९७ ॥ अथ स्थविरमत्तविषयां भजनामाह—

थेर पहु थरथरंते धरिए अन्नेण दढसरीरे वा । अव्वत्तमत्तसड्ढे अविंभले वा असागरिए ॥ ५९८ ॥

स्थविरो यदि प्रभुर्भवति, यद्वा कम्पमानोऽन्येन धृतः स्यात् स्वरूपेण वा दृढशरीरस्तदा कल्पते, तथा अव्यक्तं मनाक्

यो मत्तः स च श्राद्धोऽविह्वलश्च तदा कल्पते, यदि सागारिको न विद्यते तत्र, नान्यथेति ॥५९८॥ उन्मत्तादिचतुष्कभजनामाह—

सुइभद्दग दित्ताई दढग्गहे वेविए जरंमि सिवे । अन्नधरियं तु सड्ढो देयंधोऽन्नेण वा धरिए ॥५९९॥

उन्मत्तो-दप्तादिर्यदि शुचिर्भद्रकश्च तथा वेपितोऽपि दृढहस्तः, तथा ज्वरेऽपि शिवे सति, तथा अन्धोऽपि यदि देयमन्येन धृतं ददाति, स्वयं श्राद्धश्च स एवान्धोऽन्येन विधृतश्च, तत एतेभ्यो ग्राह्यं, नापरथा ॥५९९॥ अथ स्वग्दोषादिपञ्चकभजनामाह—

मंडलपसुत्तिकुट्ठीऽसागरिए पाउयागए अयले । कमबद्धे सवियारे इयरे विट्ठे असागरिए ॥ ६०० ॥

मण्डलानि-वृत्ताकारवस्तुविशेषरूपाणि प्रसुप्तिः-नखादिविदारणेऽपि वेदनाया असंवित्तिस्वरूपो यः कुष्ठो-रोगविशेषः सोऽस्यास्तीति मण्डलप्रसुप्तिकुष्ठी स चेदसागारिके-सागारिकाभावे ददाति, तथा पादुकारूढोऽपि यदि भवत्यचलः, तथा क्रमयोः-पादयोर्बद्धो यदि सविचार-इतश्चेतश्च पीडामन्तरेण गन्तुं शक्तो, यदा इतरो गन्तुमशक्तस्तदोपविष्टः, एतेभ्यो सति कारणे कल्पते, नान्यथा, सागारिकाभावे इति सर्वत्र हस्तबद्धनिगडो दातुमपि न शक्नोति, तत्र प्रतिषेध एव, न भजना, उपलक्षणत्वादसागारिके छिन्नकरोऽपि छिन्नपादोऽप्युपविष्टश्चेत्तदा कल्पते ॥ ६०० ॥ अथ नपुंसकादित्रिकभजनामाह—

पंडग अप्पडिसेवी वेला थणजीवि इयर सव्वंपि । उक्खित्तमणावाए न किंचि लग्गं ठवंतीए ॥६०१॥

नपुंसको यदि अप्रतिसेवी लिङ्गाद्यनासेवकस्तर्हि कल्पते, तथा आपन्नसत्त्वापि यदि वेलयि, 'पंचनात् सत्तमि' ति वेलामासप्राप्ता भवति, नवममासगर्भा तदा स्थविरकल्पिकैः परिहार्या, अचिरकाल(गर्भा)चेद्विपरीतायाः कराद्ग्राह्या, तथा

उन्मत्तादि-
पुरुषदोषा-
दिषु च
भजना ।

नपुंसकादिषु पिंषत्यादिषुच भजना ।

या बालवत्सा स्तन्यमात्रोपजीविशिशुका सा त्याज्या, यस्यास्तु बाल आहारेऽपि लगति तस्यां ददत्यां कल्प्यते, इतरे तु जिनकल्पिकास्ते मूलत एवापन्नसत्त्वां बालवत्सां च सर्वथा परिहरन्ति, एवं भुञ्जानाभर्जमानादलन्तीष्वपि भजना भावनीया, सा चैवं–भुञ्जाना अनुच्छिष्टा सति यावदद्यापि न कवलं मुखे प्रक्षिपति तावत्कल्पते, भर्जमानापि यत् सचित्तं गोधूमादि कडिल्लके (क्षिप्तं) तत् भृष्ट्वोत्तारितं अन्यच्च नाद्यापि हस्तेन गृह्णाति, अत्रान्तरे यदि साधुरायातः, सा चेद्ददाति तर्हि कल्पते, <तथा दलयन्ती सचित्तमुद्गादिना दल्यमानेन सह घरट्टं मुक्तवती, अत्रान्तरे साधावागते सा यद्युत्तिष्ठति, अचेतनं वा भृष्टं मुद्गादिकं दलयति तर्हि तद्धस्तात् कल्पते,> तथा कण्डयन्त्याः कण्डनायोत्पटितं मुशलं, न च तस्मिन् मुशलके कापि काञ्च्यां बीजं लग्नं स्यात्, अत्रान्तरे साधावागते यदि साऽनपाये प्रदेशे मुशलं स्थापयित्वा भिक्षां ददाति तर्हि कल्पते ॥ ६०१ ॥ पिंषत्यादिविषयां भजनामाह—

पीसंती निप्पिट्ठे फासुं वा घुसुलणे असंसत्तं। कत्ताणि असंखचुन्नं चुन्नं वा जा अचोक्खलिणी ॥६०२॥

उव्वट्टणिऽसंसत्तेण वावि अट्ठीलए न घट्टेइ । पिंजणपमद्दणेसु य पच्छाकम्मं जहा नत्थि ॥ ६०३ ॥

पिंषन्ती निष्पिष्टे–पेषणपरिसमाप्तौ, प्रासुकं वा पिंषन्ती यदि ददाति तदाकल्पते, तथा घुसुलणे असंसक्तं–दध्यादि मन्थन्त्याः कल्पते, तथा कर्त्तनयोः अशङ्खचूर्णं–अखरण्टितहस्तं कृन्तति, इह काचित् सूत्रस्यातिशयेन श्वेततापादनाय शङ्खचूर्णेन हस्तौ जङ्घा च खरण्टयित्वा कृन्तति, तत उच्यते अशङ्खचूर्णमिति । अथवा चूर्णमपि–शङ्खचूर्णमपि गृहीत्वा कृन्तन्ती

उन्मिश्र-द्वारम् ।

या अधोक्खलिणी–अशुचशीला न जलेन हस्तौ प्रक्षालयति इत्यर्थः, तस्या हस्तात्कल्पते । तथा उद्वर्तने कार्पास लोठने असंसक्तेन चाविचि–असंसक्तेनागृहीतकार्पासेन हस्तेनोपलक्षिता सती यदि उत्तिष्ठन्ती, अट्ठिलए–अस्थिकान्–कार्पासिकानित्यर्थः, न पृच्छति तदा कल्पते । पिञ्जनप्रमर्दनयोरपि पश्चात्कर्म्म न भवति तथा ग्राह्यमिति ॥ ६०२–६०३ ॥

सेसेसु य पडिवक्खो न संभवइ कायगहणमाईसु । पडिवक्खस्स अभावे नियमा उ भवे तयग्गहणं ६०४

शेषेषु द्वारेषु कायगहणमाईसु–षट्कायग्रहस्तादिषु प्रतिपक्षः–उत्सर्गापेक्षयाऽपवादरूपो नास्ति, ततः प्रतिपक्षस्याभावे नियमात् भवति तेषामग्रहणमिति ॥ ६०४ ॥ उक्तं दायकद्वारं, अथोन्मिश्रद्वारमाह—

सच्चित्ते अच्चित्ते मीसग उम्मीसगंमि चउभंगो । आइतिए पडिसेहो चरिमे भंगंमि भयणा उ ॥६०५॥

इह यत् यत्रोन्मिश्र्यते ते द्वे अपि वस्तुनी त्रिधा, तद्यथा–सचित्ते अचित्ते मिश्रे च, तत उन्मिश्रके मिश्रेण चतुर्भङ्गी, अत्र जातावेकवचनं तेन तिस्रश्चतुर्भङ्ग्यो भवन्ति, प्राग्वत् सचित्ताचित्तमिश्रपदैः, प्रथमा सचित्तमिश्रपदाभ्यां, द्वितीया सचित्ताचित्तपदाभ्यां, तृतीया मिश्राचित्तपदाभ्यामिति । तत्र गाथापर्यन्ततुशब्दादाद्यचतुर्भङ्गिकायां सकलायामपि प्रतिषेधः, शेषे चतुर्भङ्गीद्वये प्रत्येकं आदित्रिके निषेधः, चरमे भङ्गे भजना वक्ष्यमाणा ॥ ६०५ ॥

जह चेव य संजोगा कायाणं हेट्ठओ य साहरणे । तह चेव य उम्मीसे होइ विसेसो इमो तत्थ ॥ ६०६ ॥

यथा चैवाधः प्राक् संहरणद्वारे कायानां–पृथिवीकायादीनां सचित्ताचित्तमिश्रभेदभिन्नानां स्वस्थानपरस्थानाभ्यां

संयोगभङ्गा दर्शिता द्वात्रिंशदधिकचतुःशतसङ्ख्याप्रमाणाः, तथैव उन्मिश्रेऽपि ज्ञेयाः, ननु संहृते उन्मिश्रे च सचित्तादिवस्तुनिक्षेपान्नास्ति परस्परं विशेषमाह तत्र–तयोः संहृतोन्मिश्रयोर्भवति परस्परमयं विशेषो वक्ष्यमाणः ॥ ६०६ ॥ तमेवाह—

दायव्वमदायव्वं च दोऽवि दव्वाइं देइ मीसेउं । ओयणकुसुणाईणं साहरण तयन्नहिं छोढुं ॥ ६०७ ॥

दातव्यं साधुदानयोग्यमदातव्यं च, ते द्वेऽपि द्रव्ये मिश्रयित्वा यद्ददाति, यथौदनं कुशनेन–दध्यादिना मिश्रयित्वा तदुन्मिश्रं, संहरणं तु यद्भाजनस्थमदेयं वस्तु तदन्यत्र क्वापि स्थगनिकादौ संहृत्य ददाति, ततोऽयमनयोर्विशेषः ॥ ६०७ ॥ द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गीसत्कचतुर्भङ्गभजनामाह—

तंपि य सुक्के सुक्कं भंगा चत्तारि जह उ साहरणे । अप्पबहुएऽवि चउरो तहेव आइन्नऽणाइन्ने ॥६०८॥

यद्यपि अचित्ते अचित्तं मिश्रयति तदपि तत्रापि शुष्के शुष्कं मिश्रितमित्येवं यथा संहरणे तथा चत्वारो भङ्गा ज्ञेयाः, तत एकैकस्मिन् भङ्गे संहरणे इव अल्पबहुत्वेऽधिकृत्य चत्वारश्चत्वारो भङ्गाः स्युः, यथास्तोके शुष्के स्तोकं शुष्कमित्यादि यावद्भङ्गाः १६, तथा तथैव संहरणे इव आचीर्णानाचीर्णे–कल्प्याकल्प्ये ज्ञातव्ये, यथा शुष्के शुष्कमित्यादीनां चतुर्णां भङ्गानां प्रत्येकं द्वौ द्वौ भङ्गौ स्तोके स्तोकमुन्मिश्रं बहुके स्तोकमित्येतौ कल्प्यौ दात्रीपीडादिदोषाभावात्, स्तोके बहुकं बहुके बहुकमित्येतौ चानाचीर्णौ ॥ ६०८ ॥ अथापरिणतद्वारमाह—

संहृतोन्मिश्रयोर्भेदः उन्मिश्रेऽपवादश्च ।

अपरिणयपि य दुविहं दव्वे भावे य दुविहमेक्केक्कं । दव्वंमि होइ छक्कं भावंमि य होइ सज्झिलगा ॥ ६०९ ॥ अपरिणत-द्वारम् ।

अपरिणतं द्विधा-द्रव्ये भावे च, पुनरेकैकं द्विधा-दातृगृहीतृसम्बन्धात्, तथाहि-द्रव्यापरिणतं दातृसत्कं गृहीतृसत्कं च, एवं भावापरिणतमपि ॥ ६०९ ॥ तत्र द्रव्ये षट्कमिति षड्भङ्गी तथैव षड्जीवनिकायाश्रयतयाह—

जीवत्तंमि अविगए अपरिणयं परिणयं गए जीवे । दिट्ठंतो दुद्धदही इय अपरिणयं परिणयं तु च ॥ ६१० ॥

जीवत्वे-सचेतनत्वे अविगते-अनष्टे पृथ्वीकायादिद्रव्यषट्कं द्रव्यापरिणतमुच्यते, गते तु जीवे परिणतम् । अत्र दृष्टान्तो दुग्धदधिनी, यथाह-दुग्धं दुग्धत्वात्परिभ्रष्टं दधिभावमापन्नं परिणतमुच्यते, दुग्धभावे व्यवस्थितं अपरिणतं, एवं पृथ्वीकायादिकमपि, तत्र यदा दातुः सम्बन्धि यदा दातृसत्कं, गृहीतृसम्बन्धि गृहीतृसत्कमिति ॥ ६१० ॥ अथ "भावंमि य होइ सज्झिलगा" इति व्याख्यानयन् दातृविषयं भावापरिणतमाह—

दुगमाई सामन्ने जइ परिणमई उ तत्थ एगस्स । देमित्ति न सेसाणं अपरिणयं भावओ एयं ॥ ६११ ॥

द्विकादिसामान्ये-द्व्यादिद्विकादिसाधारणे देये यद्येकस्य कस्यापि ददामीत्येवं भावः परिणमति, न शेषाणां, एतद्

---

१ दातृगृहीतृयोगाविति शेषः, तत्र द्रव्ये द्रव्यविषयं भवति षट्कं सचेतनपृथ्वीकायादिकं द्रव्यस्वरूपस्याश्रय, भावे चाध्यवसाये पुनर्भवति 'सज्झिलगा' भ्रातरो वक्ष्यमाणा, भावाधारत्वेनोपचारात्सहोदरा, उपलक्षणत्वात्तथैव सम्बन्धिपुत्रादीनां साधु सम्बन्धिसज्झिलगादीनामुपलक्षणं मत (पूर्वं मुद्रित१६५पत्रे टीप्पणक) अतोऽत्र सम्पूर्णा गाथा मुद्रापिता ।

भावतोऽपरिणतम् । अथ साधारणानिसृष्टस्य दातृभावापरिणतस्य च कः परस्परं विशेषः ?, उच्यते, साधारणानिसृष्टं दायकपरोक्षत्वे, दातृभावापरिणतं तु दायकसमक्षत्वे इति ॥ ६११ ॥ अथ गृहीतृविषयं भावापरिणतमाह—

एगेण वावि एसिं मणंमि परिणामियं न इयरेणं । तंपि हु होइ अगिज्झं सज्झिलगा सामि साहू वा ॥६१२॥

एकेनाथैतनेन पाश्चात्येन वा एषणीयमिति मनसि परिणामितं नेतरेण तदपि भावतोऽपरिणतमिति न ग्राह्यम्, अथ द्विविधस्यापि भावापरिणतस्य विषयमाह–'सज्झिलगे'त्यादि, तत्र दातृविषयं भावापरिणतं–भ्रातृविषयं स्वामिविषयं च, (ग्रहीतृविषयं) भावापरिणतं–साधुविषयम् ॥ ६१२ ॥ अथ लिप्तद्वारमाह–दध्यादिना लेपो भवतीति तत्र ग्राह्यमित्याह—

घेत्तव्वमलेवकडं लेवकडे मा हु पच्छकम्माई । न य रसगेहिपसंगो इअ वुत्ते चोयगो भणइ ॥ ६१३ ॥

साधुना अलेपकृत्–वल्लादि ग्रहीतव्यम्, मा भूवन् लेपे कृते गृह्यमाणे पश्चात्कर्मादयो दोषाः, अलेपकृद्ग्रहणे गुणमाह–न चालेपकृद्ग्रहणे रसगृद्धिप्रसङ्गः ॥ ६१३ ॥ एवमुक्ते शिष्यो भणति—

जइ पच्छकम्मदोसा हवंति मा चेव भुंजऊ सययं । तवनियमसंजमाणं चोयग ! हाणी खमंतस्स ॥६१४॥

यदि लेपकृद्ग्रहणे पश्चात्कर्मादयस्तर्हि मा कदाचनापि साधुर्भुङ्क्तां, सूरिराह–हे शिष्य ! सर्वकालं क्षपयतोऽनशनरूपं क्षपणं कुर्वतः साधोश्चिरकालभावितपोनियमसंयमानां हानिर्भवति, तस्मान्न यावज्जीवं क्षपणं कार्यम् ॥ ६१४ ॥ पुनः पर आह—

लित्तंति भाणिऊणं छम्मासा हायए चउत्थं तु । आयंबिलस्स गहणं असंथरे अप्पलेवं तु ॥ ६१५ ॥

लिप्तं सदोषमिति भणित्वा अलेपकृत्रोक्तम्य तीर्थंकरादिभिरनुज्ञातमिति गुरुवचनम्। अत्राह शिष्यः—यावज्जीवमेव मा भुङ्क्तां, नोचेत् यावज्जीवमभोजनेन शक्तिस्तर्हि षण्मासानुपोष्य आचाम्लेन भुङ्क्तां, न चेदेवमपि शक्नोति तत एकदिनादिहान्या तावदात्मानं तोलयेत् यावच्चतुर्थमुपोष्याचाम्लस्य ग्रहणं करोतु, एवमप्यसमर्थो अशक्तो अल्पलेपं गृह्णातु ॥ ६१५ ॥ एनामेव गाथां गाथाद्वयेन विवृणोति—

आयंबिलपारणए छम्मास निरंतरं तु खविऊण। जइ न तरइ छम्मासे एगदिणूणं तओ कुणउ ॥६१६॥

एव एक्कक्कदिणं आयंबिलपारणं खवेऊणं। दिवसे दिवसे गिण्हउ आयंबिलमेव निल्लेवं ॥ ६१७ ॥

व्याख्यातप्रायं गाथाद्वयमिदम् ॥ ६१६-६१७ ॥ गुरुराह—

जइ से न जोगहाणी संपइ एसे य होइ तो समओ। समणंतरेण आयंबिलं तु नियमं तवं कुणइ ॥६१८॥

यदि से—तस्य साधोः सम्प्रति—एष्यति वा काले न योगहानिः—प्रत्युपेक्षणादिरूपसंयमयोगभ्रंशो न भवति, तर्हि भवतु क्षपकः—षण्मासाद्युपवासकर्ता। तत्र च क्षपणानामेकैकदिनहान्या पूर्वोक्तस्वरूपाणामन्तरान्तरा पारणमाचाम्लं करोतु, एवमप्यशक्तो नियतमाचाम्लरूपं परं करोतु केवलं, सम्प्रति सेवार्तसंहननानां नास्ति तादृशी शक्तिरिति, न तथोपदेशोऽपि ॥ ६१८ ॥ पुनः पर आह—

हेट्ठावणि कोसलगा सोवीरगकूरभोईणो मणुया। जइ तेऽवि जवेंति तहा किं नाम जई न जाविंति ६१९

अलेपकृत-
भोजने
षण्मासा-
दितपः
कथनं।

अधोऽवनयो-महाराष्ट्राः कोशलकाः-कोशलदेशोद्भवाः सदैव सौवीरककूरकान्नभोजिनस्तेऽपि सेवार्चसंहननाः, ततो यदि तेऽपीत्थं यापयन्ति यावज्जीवं तर्हि तथा-सौवीरककूरमात्रभोजनेन किं न यतयो यापयन्ति ? ॥६१९॥ अत्र सूरिराह—

तिय सीयं समणाणं तिय उण्ह गिहीण तेणणुन्नायं । तक्काईणं गहणं कट्टरमाईसु भइयवं ॥६२०॥

त्रिकं वक्ष्यमाणं श्रमणानां शीतं भवति, तदेव त्रिकं गृहिणामुष्णं भवति, तेन यतीनां तक्रादिग्रहणं अनुज्ञातं, कट्टरादिषु-घृतवटिकोन्मिश्रतीमनादिषु ग्रहणं भाज्यं-विकल्पनीयं, ग्लानत्वादौ ग्रहणं, नान्यथेति ॥ ६२० ॥ अथ किं तत्रिकं ? कथं गुणाय दोषाय वेत्याह—

आहार उवहि सेज्जा तिण्णिवि उण्हा गिहीण सीएऽवि । तेण उजीरइ तेसिं दुहओ उसिणेण आहारो ६२१

आहार उपधिः शय्या एतानि त्रीण्यपि गृहिणां शीतेऽपि-शीतकालेऽपि उष्णानि भवन्ति, तेन तेषां तक्रादिग्रहणमन्तरेणापि 'दुहओ'त्ति-उभयतो-बाह्यतोऽभ्यन्तरतश्चोष्णेन-तापेनाहारो जीर्यते, तत्राभ्यन्तरो भोजनवशात्, बाह्यः शय्योपधिवशात् ॥ ६२१ ॥

एयाइं चिय तिन्निवि जईण सीयाइं होंति गिम्हेवि । तेणुवहम्मइ अग्गी तओ य दोसा अजीराई ६२२

एतान्येवाहारादीनि त्रीण्यपि यतीनां ग्रीष्मे शीतानि भवन्ति, तत्राहारस्य शीतता भिक्षाभ्रमणे वेलालग्नात्, उपधिरेकमेववारं वर्षमध्ये वर्षाकालादर्वाक् क्षालनेन मलिनत्वात् शय्यायास्तु प्रत्यासन्नाग्निकरणाभावेन, तेन ग्रीष्मकालेऽपि आहा-

रादीनां शीतत्वसम्मवरूपेणोपहन्यते, अग्निः—जाठरो वह्निः, ततश्चाजीर्णादयो दोषा जायन्ते, तेन तक्रादिग्रहणं साधूनामनुज्ञातम् ॥ ६२२ ॥ अथालेपानि द्रव्याण्याह—

ओयण मंडग सत्तुग कुम्मासा रायमास कल वल्ला । तूयरि मसूर मुग्गा मासा य अलेवडा सुक्का ॥

ओदनः—तन्दुलादिभक्तं मण्डकाः प्रतीताः सक्तवो—यवक्षोदरूपाः कुल्माषा—उडदाः, राजमाषाः—सामान्यचवलाः श्वेतचवलिका वा, कला—वृत्तचनकाः सामान्येन वा चनकाः, वल्ला—निष्पावाः, तुवरी प्रसिद्धा मसूरा द्विदलविशेषा मुद्गा माषाश्च प्रसिद्धाः, चकारादन्येऽप्येवंविधधान्यविशेषाः शुष्का अनार्द्रा—अलेपकृतः ॥ ६२३ ॥ अथाल्पलेपानि द्रव्याण्याह—

उब्भिज्ज पिज्ज कंगू तक्कोल्लणसूवकंजिकढियाई । एए उ अप्पलेवा पच्छाकम्मं तहिं भइयं ॥६२४॥

उद्भेद्या—वस्तुलप्रभृतिशाकभार्जिका पेया—यवागूः कङ्गुः—कोद्रवौदनः तक्रं प्रतीतं, उल्लणं—येनौदनमार्द्रीकृत्योपयुज्यते सूपो—राजमुद्गदाल्यादि, काञ्जिकं—सौवीरं क्वथितं—तीमनादि, आदिशब्दादन्यस्यैवंविधस्य परिग्रहः, एतान्यल्पलेपद्रव्याणि । एतेषु पश्चात्कर्म भाज्यं—कदाचिद्भवति कदाचिन्नेति ॥ ६२४ ॥ अथ बहुलेपद्रव्याण्याह—

खीर दहि जाउ कट्टर तेल्ल घय फाणियं सपिंडरसं । इच्चाई बहुलेवं पच्छाकम्मं तहिं नियमा ॥६२५॥

क्षीरं दधि च सिद्धं, जाउ—क्षीरपेया, कट्टरं प्रागुक्तस्वभावं, तैलं घृतं च प्रतीतं, फाणितं—गुडपानकं सपिण्डरसं अतीवरसाधिकं खर्जूरादि इत्यादि बहुलेपं ज्ञेयं, तत्र च पश्चात्कर्म नियमतो भवेदतस्तानि प्रायो वर्जयन्ति यतयः पटुस्य

अलेपाल्पलेपबहुलेपकारकाणि द्रव्याणि ।

' पच्छा कम्मं तहिं भईयं ' ॥ ६२५ ॥ अथ तामेव भजनामष्टभङ्गिकयाह—

संसट्ठेयर हत्थो मत्तो विय दव्व सावसेसियरं । एएसु अट्ठ भंगा नियमा गहणं तु ओएसु ॥६२६॥

दातुर्हस्तः संसृष्टोऽसंसृष्टो वा स्यात्, येन च कृत्वा भिक्षां ददाति, तदपि मात्रं संसृष्टं असंसृष्टं वा, द्रव्यमपि सावशेषं इतरद्वा, एतेषां च त्रयाणां पदानां—<संसृष्टहस्त>संसृष्टमात्रसावशेषद्रव्यरूपाणां सप्रतिपक्षाणां परस्परं संयोगतोऽष्टौ भङ्गा भवन्ति, ते चामी—संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यं १, संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यं २, संसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यं ३, संसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यं ४, असंसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यं ५, असंसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यं ६, असंसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यं ७, असंसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यम् ८, एतेषां मध्ये नियमात्—निश्चयेन ओजस्सु—विषमेषु प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमेषु भङ्गेषु ग्रहणं कार्यं न समेषु—द्वितीयादिषु इति, अयं भावो—हस्तो मात्रं वा द्वे वा स्वयोगेन संसृष्टे भवतः, असंसृष्टे वा न तद्वशेन पश्चात्कर्म्म सम्भवति, किन्तु द्रव्यवशेन, तथाहि—यत्र द्रव्यं सावशेषं तत्रैव ते साध्वर्थं खरण्टितेऽपि दात्री न प्रक्षालयति, भूयोऽपि परिवेषणसम्भवात्, यत्र तु निरवशेषं द्रव्यं तत्र साधुदानानन्तरं नियमतस्तद्रव्याधारस्थालीं हस्तं मात्रं वा प्रक्षालयतीति पश्चात्कर्म्मसम्भवः ॥ ६२६ ॥ अथ छर्दितद्वारमाह—

सच्चित्ते अच्चित्ते मीसग तह छड्डणे य चउभंगो । चउभंगो पडिसेहो गहणे आणाइणो दोसा ॥६२७॥

छर्दितविषये सचित्ते-कदाचित् सचित्ते अचित्ते मिश्रे वा छर्द्यते, ततश्चतुर्भङ्गी भवति, अत्र जातावेकवचनं, तत्र प्रागिव तिस्रश्चतुर्भङ्ग्यो भवन्ति, सर्वसङ्ख्यया पूर्ववच्चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि। एतेषु सर्वेषु भङ्गेषु प्रतिषेधो-भक्तादिनिवारणं, यदि पुनर्ग्रहणं कुर्यात्तत आज्ञाभङ्गादयो दोषाः ॥ ६२७ ॥ अथ छर्दितग्रहणे दोषानाह—

उसिणस्स छड्डणे देंतओ व डज्झेज्ज कायदाहो वा। सीयपडणम्मि काया पडिए महुबिंदुआहरण ॥

उष्णस्य द्रव्यस्य छर्दने ददमानो वा भिक्षां दहेत् भूम्याश्रितानां कायादीनां-पृथ्वीकायादीनां दाहः स्यात्, शीत द्रव्यस्यापि भूमौ पतने कायाः-पृथ्व्यादयो विराध्यन्ते, तत्र पतिते मधुबिन्दूदाहरणं, तथाहि-(उ० ४४)

वारत्तपुरे अभयसेनो राजा वारत्तको मन्त्री, अन्यदा मन्त्रिगृहे धर्मघोषसाधुर्भिक्षार्थमायातः, तद्भार्या च तस्मै भिक्षादानाय घृतखण्डसन्मिश्रपायसभृतस्थालमुत्पाटितवती, अत्रान्तरे च कथमपि खण्डमिश्रो घृतबिन्दुर्भूमौ निपतितः, साधुरपि छर्दितदोषदुष्टां भिक्षां ज्ञात्वा गृहीतभिक्षाक एव निर्जगाम, दृष्टं च तत्स्वरूपं मत्तवारणस्थितेनामात्येन, ततश्चिन्तयामास-किमनेन भगवता भिक्षा न गृह्यते स्म, यावदेवं चिन्तयति तावत्तत्रबिन्दौ मक्षिकाः समागत्याश्लिष्यन्, तासां च भक्षणाय प्रधाविता गृहगोधिका, तस्या अपि वधाय प्रधावितः सरटः, तस्यापि वधाय धावति स्म मार्जारी, तस्या अपि च वधाय प्रधावितः प्राघूर्णकः श्वा, तस्यापि च प्रतिद्वन्द्वी प्रधावितोऽन्यो वास्तव्यः श्वा, द्वयोरपि शुनोरन्योऽन्य कलहोऽभूत्, ततः स्वस्वसारमेयपराभवदूनमनस्कतया प्रधावितयोर्द्वयोरपि तत्स्वामिनोरभूत्परस्परमस्यसि युद्धम्, तद्दृष्ट्वा वारत्तकामात्यस्य श्रीसर्वज्ञमते श्रद्धा बभूव, ततोऽमात्यो धर्मघोषसमीपे दीक्षामादाय केवलज्ञानम्(लमवाप्य)

छर्दिते मधुबिन्दूदाहरणम्।

सिद्ध इति ॥ ६२८ ॥ उक्तमेषणाद्वारं, अथ ग्रासैषणायाः संयोजनादीनि पदानि वक्तव्यानि, ततो ग्रासैषणानिक्षेपमाह—

णामं ठवणा दविए भावे घासेसणा मुणेयव्वा । दव्वे मच्छाहरणं भावंमि य होइ पंचविहा ॥६२९॥

नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्द्धा ग्रासैषणा, नामस्थापने प्राग्वत्, द्रव्ये मत्स्यः उदाहरणम्, भावग्रासैषणा संयोजनादिभेदात् पञ्चविधा ॥ ६२९ ॥ तत्र द्रव्यग्रासैषणोदाहरणस्य सम्बन्धमाह—

चरियं व कप्पियं वा आहरणं दुविहमेव नायव्वं । अत्थस्स साहणट्ठा इंधणमिव ओयणट्ठाए ॥६३०

विवक्षितार्थस्य साधनार्थं चरितं कल्पितं वा द्विधा उदाहरणं ज्ञातव्यम्, 'इन्धनमिव ओदनार्थे', तत्र प्रस्तुतार्थसाधनार्थमिदं कल्पितमुदाहरणं, तथाहि-(इ० ४५)

कोऽप्येको मत्स्यबन्धी मत्स्यग्रहणनिमित्तं सरो गतवान्, गत्वा तेन तटस्थेनाग्रभागे मांसपेशीसमेतो गलः सरोमध्ये प्रचिक्षिपे, तत्र च सरसि परिणतबुद्धिरेको महादक्षो जीर्णमत्स्यो वर्त्तते, स गलगतमांसगन्धमाघ्राय तद्भक्षणार्थं गलस्य समीपमुपागत्य यत्नतः पर्यन्ते२ सकलमपि मांसं खादित्वा पुच्छेन चागलमाहत्य दूरतोऽपचक्राम, मत्स्यबन्धी च गृहीतो गलेन मत्स्य इति विचिन्त्य गलमाकृष्टवान्, पश्यति मत्स्यमांसपेशी रहितं गलं, ततो भूयोऽपि समांसं गलं चिक्षेप, मत्स्येनापि तथैव कृतं, एवं त्रीन् वारान् मत्स्यो मांसं खादितवान् न च गृहीतो मत्स्यबन्धकेन ॥ ६३० ॥

अह मंसंमि पहीणे झायंतं मच्छियं भणइ मच्छो । किं झायसि तं एवं सुण ताव जहा अहिरिओऽसि ॥६३१

अथ मार्गे मणीनि प्याप्त मालिक मरस्यो मणति, यथा किं तमेव स्थापयति ?, गणु गात् यथा तामलीको- निर्जो मरणि ॥ ६२१ ॥

तिल्लागसुकुम्मुसो, तिस्सुत्तो तलयामुहे । तिसचक्खुत्तो जालेणं, सइ छिस्सोदए दहे ॥ ६२२ ॥

मत्स्येऽहं त्रीन् वारान् बलाकाया मुखाकुन्मुक्तः, तथापि—कराप्रिदक बलाकया गृहीतस्तत्या मुखे प्रक्षेपार्थमूर्ध्व- मुल्लिप्तश्च यथा निपतितो, तदमनुकेनास्या मुखे निपतिष्यामि यदि पतितोऽयं मुखे इति न मम प्राणरक्षणं, तस्मान्निर्गत् नितरामीषदेव तिर्यक् पतित्वा अपेतत्वं, परित्यक्तस्तया बलाकयो भूयोऽप्यपूर्वगुणिततस्तथैव द्विगुणितारमपि मुक्ताऽऽत्मन, तृतीयवेलायां तु मत्स्ये निरतिशयतो दूरं गमायितः, यथा त्रिःकरतः—त्रीन् वारान् बलयामुखे मत्स्यके निपतितोऽपि दक्षतया तीर्थे वैमयेव गत्वा निर्गतः, यथा त्रिःसप्तकृत्वः—एकविंशतिवारान् मात्स्यिकेन जाले प्रक्षिप्तोऽपि पतितो पावस्तावापि न मत्स्यबन्धी मत्स्योऽपि जाले गावत् येनैव मार्गेण यथा प्रविष्टस्तेनैव ततो जालादिनिर्गतः, जालेनेति तृतीयार्थे पञ्चमी द्रष्टव्या, तथा सकृत्—एकवारं मात्स्यिकेन इतरजलमत्स्य समार्पं पतितः ह्रदे छिन्नोदके मत्स्यनिर्धरस्त्वैः महाह गृहीतः, न च मत्स्यानि गात् गत्वा मत्स्यैकत्र पिण्डीकृत्य तीक्ष्णायामलाकायां प्रोतयति, ततोऽहं दक्षतया यथा मात्स्यिको न पश्यति तथा तत्रैव तामवाग्रलग्नो वदनेन गृहीत्वा स्थितः, स च मात्स्यिकस्तान् सर्वमत्स्यान् प्रक्षालयितु ह्रदं जगाम, तेषु च प्रक्षाल्यमानेष्वन्तरे मया हृदस्यैव अगाधे निमग्नम् ॥ ६२२ ॥

कथितो- दाहरण- प्रयोजिका।

एयारिसं ममं सत्तं, सढं घट्टियघट्टणं । इच्छसि गलेण घेत्तुं, अहो ते अहिरीयया ॥ ६३३ ॥

एतादृशं पूर्वोक्तं मम सत्त्वं शठं-कुटिलं घट्टितस्य-धीवरादिकृतस्योपायस्य घट्टनं-चालकं, ततस्त्वमिच्छसि मां गलेन गृहीतुमित्यहो ते तव अह्रीकता-निर्लज्जतेति । अथ भावग्रासैषणायामुपनयः-मत्स्यस्थानीयः साधुः, मांसस्थानीयं भक्तपानीयं, मात्सिकस्थानीयो रागादिदोषगणः, यथा न छलितो मत्स्यो दक्षत्वेन, एवं साधुरप्यात्मानं रक्षयेदनुशास्तिप्रदानेन ॥ ६३३ ॥ तदेवाह—

बायालीसेसणसंकडंमि गहणं जीव ! न हु छलिओ । इणिंह जह न छलिज्जसि भुंजंतो रागदोसेहिं ॥६३४

हे जीव ! द्विचत्वारिंशद्दोषसङ्कटे ग्रहणे भक्तपानस्य यदि त्वं न छलितस्तत इदानीं भुञ्जानो रागद्वेषाभ्यां यथा न छल्यसे तथा कर्त्तव्यम् ॥ ६३४ ॥ अथ भावग्रासैषणामाह—

घासेसणा उ भावे होइ पसत्था तहेव अपसत्था । अपसत्था पंचविहा तव्विवरीया पसत्था उ ॥६३५॥

ग्रासैषणा भावे द्विधा-सामान्येन प्रशस्ताप्रशस्तभेदात्, अप्रशस्ताः पञ्चविधाः संयोजनादिदोषाः, तद्विपरीता दोषरहितत्वेन प्रशस्ता ज्ञेया ॥ ६३५ ॥ तदेवाह—

★ संजो गाहा संयोजयति भक्तं अतिबहुकमप्रमाणं साङ्गारं-सधूमं च अनर्थाय-निष्कारणं एषा पञ्चविधा अप्रशस्ता तद्विपरीता प्रशस्ता च ॥ ★ ॥ अथ संयोजनानिक्षेपमाह—

दव्वे भावे संजोअणा उ दव्वे दुहा उ बहिअंतो। भिक्ख च्चिय हिंडंतो संजोयंतम्मि बाहिरिया ॥६३६

संयोजना द्विधा—द्रव्यभावे च, द्रव्ये पुनर्द्विधा बहिरन्तश्च, तत्र यदा भिक्षार्थमेव हिण्डमानः सन् क्षीरादिकं खण्डादिभिः सह रसविशेषोत्पादनाय संयोजयति, एषा बाह्या बहिर्भूतत्वात् ॥ ६३६ ॥ एतदेव स्पष्टमाह—

खीरदहिसूवकट्टरलम्भे गुडसप्पिवडगवालुंके। अंतो उ तिहा पाए लंबण वयणे विभासा उ ॥६३७॥

क्षीरदधिसूपानां प्रतीतानां कट्टरस्य—तीमनविशेषस्य लाभे सति तथा गुडसर्पिर्वटकवालुङ्कानां प्राप्तौ सत्यां रसोत्पादनायानुकूलद्रव्यैः सह संयोजनं यत्करोति, बहिरेव न वा करोति, अभ्यन्तरा पुनर्वसतावागत्य भोजनवेलायां संयोजयति, तथा चाह—अन्तस्तु संयोजना त्रिधा—पात्रे लम्बने वदने च, तत्रोऽस्यास्त्रिविधाया अपि विभाषा—व्याख्या कर्त्तव्या, सा चैव पात्रे विशेषोत्पादनाय यत् क्षीरघृतखण्डादिसंयोगं करोति, एवं लम्बने—कवले हस्तस्थिते, एवं वदने कवले क्षिप्ते ॥ ६३७ ॥ अथ दोषमाह—

संजोयणाए दोसो जो संजोएइ भत्तपाणं तु। दव्वाई रसहेउं वाघाओ तस्सिमो होइ ॥६३८॥

संयोजनायां यो द्रव्यस्य सुकुमारिकादेः रसहेतोर्भक्तं पानं वान्यद्रव्येण खण्डादिना संयोजयति, अत्रार्षत्वादादिशब्दस्य व्यत्ययेन योजना, तेन रसहेतोरित्यादिशब्देन शुभगन्धादिनिमित्तं च, तस्य साधोरयं वक्ष्यमाणो दोषो व्याघातरूपो भवति ॥ ६३८ ॥ तमेव भावयन् भावसंयोजनामप्याह—

संयोजना-दोष-स्वरूपम्।

संजोयणा उ भावे संजोएऊण ताणि दव्वाइं । संजोयइ कम्मेणं कम्मेण भवं तओ दुक्खं ॥६३९॥

तानि द्रव्याणि संयोजयन् आत्मानमप्रशस्तेन गृद्ध्यात्मकेन भावेन संयोजयति, एषा भावे संयोजना, तथा चात्मनि कर्म्म संयोजयति, कर्म्मणा च भवं, भवेन दुःखम् ॥ ६३९ ॥ अथ द्रव्यसंयोजनाया अपवादमाह—

पत्तेय पउरलंभे भुत्तुवरिए य सेसगमणट्ठा । दिट्ठो संजोगो खलु अह कम्मो(क्कमो) तस्सिमो होइ ॥

प्रत्येकमेकैकसङ्घाटकं प्रति प्रचुरलाभे सति भुक्तोद्धरिते शेषस्य निर्गमनार्थम्, दृष्टः—अनुज्ञातः, संयोगकरणीयेऽथवानिमि-रिति, तथा लाभात्, अथवाऽन्योऽपि तस्य संयोगस्य क्रमो भवति ॥ ६४० ॥ तमेवाह—

रसहेउं पडिसिद्धो संयोगो कप्पए गिलाणट्ठा । जस्स व अभत्तछंदो सुहोचिओऽभाविओ जो य ॥

रसहेतोः प्रतिषिद्धः संयोगो, ग्लानार्थं तु कल्पते, यद्वा यस्य अभक्तच्छन्दो—भक्तारुचिः, यश्च सुखोचितो—राजपुत्रादिः यथाधाप्यभावितो—ऽपरिणतचारित्रः(शैक्षकः)तन्निमित्तं संयोगोऽपि कल्पते इति अपवादपदम् ॥ ६४१ ॥ अथाहारप्रमाण-द्वारमाह—

बत्तीसं किर कवला आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ । पुरिसस्स महिलियाए अट्ठावीसं भवे कवला ॥

सुगमा, परं नपुंसकस्य चतुर्विंशतिकवला अनुक्ता अपि ज्ञेयाः, तस्य प्रायो स्त्रीशानर्द्धत्वादकथनं कवलप्रमाणं कुक्कुट्यण्डं, कुक्कुटी द्विधा—द्रव्यतो भावतश्च, द्रव्यकुक्कुट्यपि द्विधा—उदरकुक्कुटी गलकुक्कुटी च, तत्रो यावोदरं यावन्मात्रेणाहारेण न

न्यून नाप्याध्मात आहार एव स उदरकुक्कुटी, उदरपूरक आहारः कुक्कुटीव उदरकुक्कुटीति मध्यपदलोपिसमासाश्रयणात्, तस्य द्वात्रिंशत्तमोभागोऽण्डकं, तत्प्रमाणं कवलस्य, अथवा गल एव कुक्कुटी तस्यान्तरालमण्डकं, अय भावः—अविकृतास्यस्य पुंसो गलान्तराले यः कवलो विलग्नः प्रविशति तत् प्रमाणं कवलस्य, अथवा शरीरमेव कुक्कुटी तन्मुखमण्डकं, तत्राक्षिकपोल भ्रुवां विकृतिमनापाद्य यः कवलो मुखे प्रविशति तत् प्रमाणं, अथवा कुक्कुटी—पक्षिणी तस्या अण्डकं प्रमाणं कवलस्य, भाव-कुक्कुटी तु येन आहारेण भुक्तेन न न्यून नाप्यस्याध्मातं स्या[दुदराहर्ति] (दुदरं) धृतिं च समुद्वहति, तावत्प्रमाण आहारो भावकुक्कुटी, अत्र भावस्य प्रधानत्वादेव प्राक् द्रव्यकुक्कुट्यप्युक्ता, द्द भावकुक्कुटी उक्ता, तस्य द्वात्रिंशत्तमो भागोऽण्डकं तत् प्रमाणं कवलस्य ॥ ६४२ ॥

एत्तो किणाइ हीणं अद्धं अद्धद्धयं च आहारं। साहुस्स विंति धीरा जायामायं च ओमं च ॥६४३॥

एतस्माद्द्वात्रिंशदादिकवलप्रमाणाहारात् 'किणाइ' इति कियन्मात्रया एकेन द्वाभ्यां वा हीनं यावदर्द्धमर्द्धस्याप्यर्द्ध-माहारं यात्रामात्राहारं साधोर्धीराः—तीर्थकृदादयो ब्रुवते, न्यूनं च। एष एव यात्रामात्राहार एष एवावमाहारश्च ॥ ६४३ ॥

अथ प्रमाणदोषानाह—

पगामं च निगामं च, पनीयं भत्तपाणमाहारे। अइबहुयं अइबहुसो, पमाणदोसो मुणेयव्वो ॥६४४॥

यः प्रकामं निष्कामं प्रणीतं वा भक्तपानमाहारयति, तथाऽतिबहुकमतिबहुशश्च तस्य प्रमाणदोषो ज्ञातव्यः ॥ ६४४ ॥

आहार-प्रमाणम् ।

सम्प्रति प्रकामादिस्वरूपमाह—

बत्तीसाइ परेणं पगाम निच्चं तमेव उ निकामं । जं पुण गलंतनेहं पणीयमिति तं बुहा बेंति ॥६४५॥

द्वात्रिंशदादिकवलेभ्यः परेण यद्भोजनं तत् प्रकामं तमेव प्रमाणातीतं प्रतिदिवसमश्नतो निकामभोजनं, यत्पुनर्गलत् स्नेहं तत् प्रणीतं बुधाः-तीर्थकृदादयो ब्रुवते ॥ ६४५ ॥

अइबहुयं अइबहुसो अइप्पमाणेण भोयणं भोत्तुं । हाएज्ज व वामिज्ज व मारिज्ज व तं अजीरंतं ॥६४६

अतिबहुकमतिबहुशोऽतृप्यता भोजनं-भुक्तं हादयेत्-अतीसारं कुर्यात्, वामयेत्, यद्वा तदजीर्यन्मारयेत् ॥ ६४६ ॥

अथातिबह्वादिस्वरूपमाह—

बहुयातीयमइबहुं अइबहुसो तिन्नि तिन्नि व परेणं । तं चिय अइप्पमाणं भुंजइ जं वा अतिप्पंतो ॥६४७

बहुकातीतं-अतिशयेन बहु अतिबहुकं निजप्रमाणाभ्यधिकमित्यर्थः, तथा दिनमध्ये यस्त्रीन् वारान् भुङ्क्ते त्रिभ्यो वारेभ्यो वा परतस्तद्भोजनमतिबहुशः, तदेव च वारत्रयातीतमतिप्रमाणमुच्यते, ' अइप्पमाणे 'त्यवयवो व्याख्यातः, अस्यैव प्रकारान्तरेण व्याख्यानमाह-भुङ्क्ते यद्वा अतृप्यन् एव " अइप्पमाणे "त्यस्य शब्दस्यार्थः ॥ ६४७ ॥ अथ प्रमाणोपेताहारग्रहणे गुणानाह—

हियाहारा मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा । न ते विज्जा तिगिच्छंति, अप्पाणं ते तिगिच्छगा ॥६४८॥

हितं द्विधा-द्रव्यतो भावतः, द्रव्यतोऽविरुद्धानि द्रव्याणि, भावत एषणीय, तदाहारयन्ति ये ते हिताहाराः, मिताहाराः, अल्पाहाराश्च ये नराः तानेवंविधान् नरान् वैद्या न चिकित्सन्ति, रोगस्यैवाभावात्, आत्मनैवात्मनस्ते चिकित्सकाः ॥ ६४८ ॥ अथाहितहितस्वरूपमाह—

तेल्लदहिसमाओगा अहिओ खीरदहिकंजियाण च। पत्थं पुण रोगहरं न य हेऊ होइ रोगस्स ॥६४९

दधितैलयोस्तथा क्षीरदधिकाञ्जिकानां च यः समायोगः सोऽहितो विरुद्ध इत्यर्थः, अविरुद्धद्रव्यमीलनं पुनः पथ्यं, तच्च रोगहरं, न च भाविनो रोगस्य हेतुः-कारणम् ॥ ६४९ ॥ साम्प्रतं मितं व्याख्यानयति—

अद्धमसणस्स सवंजणस्स कुज्जा दवस्स दो भागे। वाऊपवियारणट्ठा छब्भायं ऊणयं कुज्जा ॥६५०॥

इह किल सर्वमुदरं षड्भिर्भागैर्विभज्यते, तत्र पार्धं भागत्रयरूपमशनस्य सव्यञ्जनस्य, तत्र शाकादिसहितस्याहारं कुर्यात्, तथा द्वौ भागौ द्रवस्य-पानीयस्य, षष्ठं तु भागं वायुप्रविचारणार्थं ऊनं कुर्यात् ॥ ६५० ॥ इह कालापेक्षया तथा २ आहारस्य मानं भवति, कालश्च त्रिधा, तथा चाह—

सिओ उसिणो साहारणो य कालो तिहा मुणेयव्वो। साहारणंमि काले तत्थाहारे इमा मत्ता ॥६५१

सुगमा, नवरं साधारणे काले आहारे इय-अनन्तरोक्ता मात्रा-प्रमाणम् ॥ ६५१ ॥

सीए दवस्स एगो भत्ते चत्तारि अहव दो पाणे। उसिणे दवस्स दोन्नि उ तिन्नि व सेसा उ भत्तस्स ॥

प्रमाणोपेताहारस्य गुणाः हिताहिताहारस्वरूपं च।

शीते—अतिशीतकाले द्रवस्यैको भागः, चत्वारो भक्ते—भक्तस्य, मध्यमे तु शीतकाले द्वौ भागौ पानीयस्य त्रयस्तु भागा भक्तस्य, वाशब्दो मध्यमशीतकालसंसूचनार्थः, यथा उष्णे—मध्यमोष्णकाले द्वौ भागौ पानीयस्य शेषास्तु त्रयो भागा भक्तस्य, अत्युष्णे च काले त्रयो भागा द्रवस्य द्वौ भागौ भक्तस्य, वा शब्दोऽत्रात्युष्णकालसूचनार्थः सर्वत्र षष्ठो भागो वायुप्रविचारणार्थं मुक्तलो मोक्तव्यः ॥ ६५२ ॥ अथ भागानां स्थिरचिरविभागमाह—

एगो दवस्स भागो अवट्ठितो भोयणस्स दो भागा । वड्ढंति व हायंति व दो दो भागा उ एक्केक्के ॥

एको द्रवस्य भागोऽवस्थितो द्वौ भागौ भोजनस्य, शेषौ द्वौ २ भागौ एकैकस्मिन् भक्ते पाने च, वर्द्धते वा हीयते वा ॥ ६५३ ॥ तदेवाह—

एत्थ उ तइयचउत्था दोण्णि य अणवट्ठिया भवे भागा । पंचमछट्ठो पढमो बिइओऽवि अवट्ठिया भागा ॥

आहारविषयौ तृतीयचतुर्थौ भागावनवस्थितौ, तौ ह्यतिशीतकाले भवतोऽत्युष्णकाले च न भवतः, तथा यः पानविषयः पञ्चमो भागो यश्च वायुप्रविचारणार्थं षष्ठो भागो यौ च प्रथमद्वितीयावाहारविषयौ एते सर्वेऽपि भागा अवस्थिताः, न कदाचिन्न भवन्तीति भावः ॥ ६५४ ॥ अथ साङ्गारसधूमद्वारमाह—

तं होइ सइंगालं जं आहारेइ मुच्छिओ संतो । तं पुण होइ सधूमं जं आहारेइ निंदंतो ॥ ६५५ ॥

तद्भवति साङ्गारं भोजनं यन्मूर्च्छितो गृद्धः सन्नाहारयति, तत्पुनर्भवति सधूमं यन्निन्दन्नाहारयति ॥ ६५५ ॥ अथाङ्गार-

धूमयोर्लक्षणमाह—

अगारत्तमपत्तं जलमाण इंधणं सधूमं तु । अगारत्ति पवुच्चइ तं चिय दड्ढं गए धूमे ॥ ६५६ ॥

अङ्गारत्वमप्राप्तं ज्वलदिन्धनं सधूममुच्यते, तदेवेन्धनं दग्धं धूमे गते सति अङ्गार इति, एवमिहापि चरणेन्धनं रागाग्निना निर्दग्धं सद् अङ्गार इत्युच्यते, द्वेषाग्निना तु दह्यमानं चरणेन्धनं सधूमम् ॥ ६५६ ॥ एतदेव भावयति—

रागग्गिसंपलित्तो भुंजंतो फासुयंपि आहारं । निद्दड्ढंगालनिभं करेइ चरणिंधणं खिप्पं ॥ ६५७ ॥

प्रासुकमप्याहारं भुञ्जानो रागाग्निसम्प्रदीप्तश्चरणेन्धनं निर्दग्धाङ्गारनिभं क्षिप्रं करोति ॥ ६५७ ॥

दोसग्गीवि जलंतो अप्पत्तियधूमधूमियं चरणं । अंगारमित्तसरिसं जा न हवइ निद्दही ताव ॥६५८

द्वेषाग्निरपि ज्वलन् अप्रीतिरेव—कलुषभाव एव धूमस्तेन धूमितं चरणेन्धनं यावदङ्गारमात्रसदृशं न भवति तावन्निर्दहति ॥ ६५८ ॥ अत इदमागतं—

रागेण सइंगालं दोसेण सधूमगं मुणेयव्वं । छायालीसं दोसा बोद्धव्वा भोयणविहीए ॥ ६५९ ॥

रागेण भोजनं साङ्गारं, द्वेषेण सधूमकं ज्ञातव्यं, एवं भोजनविधौ सर्वसङ्ख्यया ४६ भेदाः, तथाहि—पञ्चदशोद्गमदोषाः, अध्यवपूरकस्य मिश्रजातेऽन्तर्भावितत्वात्, षोडश उत्पादनादोषाः, दश एषणादोषाः, संयोजनादीनां पञ्चकमिति ॥ ६५९ ॥ कीदृशः पुनराहारो भोक्तव्यः, तावदुनेत्याह—

अङ्गारधूमदोषस्वरूपम् ।

आहारंति तवस्सी विगइंगालं च विगयधूमं च। झाणज्झयणनिमित्तं एसुवएसो पवयणस्स ॥६६०॥

तपस्विन आहारयन्ति भोजनं विगताङ्गारं विगतधूमं च परं न निष्कारणं किन्तु ध्यानाध्ययननिमित्तं, एष उपदेशः प्रवचनस्य ॥ ६६० ॥ अथ कारणद्वारमाह—

छहिं कारणेहिं साधू आहारिंतोऽवि आयरइ धम्मं। छहिं चेव कारणेहिं णिज्जूहिंतोऽविं आयरइ ॥६६१

षड्भिः कारणैर्वक्ष्यमाणैः साधुराहारमाहारयन्नप्याचरति धर्म्मं, तथा षड्भिरेव कारणैर्वक्ष्यमाणैराहारं निज्जूहिन्तो वि त्ति—परित्यजन्नप्याचरति धर्म्मम् ॥ ६६१ ॥ अथ यैः कारणैराहारमाहारयति तान्याह—

वेयणं वेयावंच्चे इरियट्ठाए य संजमट्ठाए। तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिंताए ॥ ६६२ ॥

पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात्, वेयणत्ति—क्षुद्वेदनोपशमनाय, तथा आचार्यादीनां वैयावृत्त्यकरणाय, इर्यापथशोधनार्थं वा, संयमनिमित्तं वा, तथा प्राणप्रत्ययार्थं—प्राणसन्धारणार्थं, षष्ठं पुनः कारणं धर्मचिन्तार्थम् ॥ ६६२ ॥ एतामेव गाथां विवृणोति—

नत्थि छुहाए सरिसा वियणा भुंजेज्ज तप्पसमणट्ठा। छाओ वेयावच्चं ण तरइ काउं अओ भुंजे ॥६६३

इंरिअं नऽवि सोहेई पेहाईअं च संजमं काउं। थामो वा परिहायइ गुणऽणुप्पेहासु अ असत्तो ॥६६४

१ "इरिअ"मित्यादिगाथा आवचूरिकृता न स्वीकृता न च व्याख्याता।

नास्ति क्षुधासदृशी वेदना, उक्तञ्च—" पंथसमा नत्थि जरा दारिद्दसमो य परिभवो नत्थि । मरणसमं नत्थि भयं छुहा-समा वेयणा नत्थि ॥ १ ॥ न नत्थि ज न बाहइ तिलतुसमित्तंपि एत्थ कायस्स । सन्निज्झं सव्वदुहाइं देंति आहाररहियस्स ॥ २ ॥ ", ततस्तत्प्रशमनार्थं भुञ्जीत, छातो—बुभुक्षितः सन् वैयावृत्त्यं कर्तुं न शक्नोति, तथा चोक्तम्—" गलइ बल उच्छाहो अवेइ सिढिलेइ सयलवावारे । नासइ सत्त अरई विवड्ढए असणरहियस्स ॥ १ ॥" अतो वैयावृत्त्यकरणाय भुञ्जीत । एवमीर्यापथशोधनादीन्यपि कारणानि भाव्यानि ॥ ६६१–६६४ ॥ अथ यैः कारणैर्न भुङ्क्ते तत् सम्बन्धमाह—

अहव ण कुज्जाहारं, छहिं ठाणेहिं संजए । पच्छा पच्छिमकालंमि, काउं अप्पक्खमं खमं ॥ ६६५ ॥

अथवा एभिर्वक्ष्यमाणैः षड्भिः स्थानैः संयत आहारं न कुर्यात्, यत्र विषिशा सुत्रगतिरिति पद्य शरीरव्यवच्छेद-लक्षणं व्याख्यानयति, पच्छा इत्यादि पश्चात्—शिष्यनिष्पादनादिसकलकर्तव्यतानन्तरं पश्चिमे काले, आत्मक्षमति—संलेखना-करणेनात्मानं क्षपयित्वा यावज्जीवानशनप्रत्याख्यानकरणस्य क्षम—योग्यमात्मानं कृत्वा भोजनं परिहरेत्, नान्यथा ॥६६५॥ अथाभोजनकारणान्याह—

आयंके उवसग्गे, तितिक्खया बंभचेरगुत्तीसु । पाणिदया तवहेउं, सरीरवोच्छेयणट्ठाए ॥ ६६६ ॥

आतङ्के ज्वरादौ १, उपसर्गे—राजादिकृतेति भिक्षार्थं(?)उपसर्गसहनार्थं २, ब्रह्मचर्यगुप्तिष्विति ३, अत्र षष्ठ्यर्थे सप्तमी, ततो ब्रह्मचर्यगुप्तीनां परिपालनाय ३, प्राणिदयार्थं ४, तपोहेतोः ५, तथा चरमकाले शरीर व्यवच्छेदार्थम् ६ ॥ ६–

एनामेव गाथां विवृणोति—

आयंको जरमाई रायासन्नायगाइ उवसग्गो । बंभवयपालणट्ठा पाणिदया वासमहियाई ॥ ६६७ ॥

आतङ्को—ज्वरादिस्तत्र न भुञ्जीत, यत उक्तम् " वातावरोधि निर्दिष्टं, ज्वरादौ लङ्घनं हितम् । ऋतेऽनिलश्रमक्रोधशोककामक्षतज्वरान् ॥ १ ॥ " तथा राजस्वजनादिकृतोपसर्गे च, तथा ब्रह्मव्रतपालनार्थं, तथा वर्षे वर्षति मिहिकायां वा निपतन्त्यां प्राणिदयार्थं नाश्नीयात् ॥ ६६७ ॥

तवहेउ चउत्थाई जाव उ छम्मासिओ तवो होइ । छट्ठं सरीरवोच्छेयणट्ठया होअणाहारो ॥६६८॥

तपो हेतोर्न भुञ्जीत, तपश्चतुर्थादि यावत् षण्मासिकं भवति, षष्ठं पुनः प्रागुक्तविधिना चरमकाले शरीरव्यवच्छेदार्थं भवत्यनाहारः ॥ ६६८ ॥

एएहिं छहिं ठाणेहिं, अणाहारो उ जो भवे । धम्मं नाइक्कमे भिक्खू, धम्मज्झाणरओ भवे ॥ [1] ॥

सुगमा ॥ ॥ एवं चोक्ता त्रिविधाप्येषणा—गवेषणैषणा ग्रहणैषणा ग्रासैषणा ॥ अथ सकलदोषसङ्कलनामाह—

सोलस उग्गमदोसा सोलस उप्पायणाए दोसाउ । दस एसणाएँ दोसा संजोयणमाइ पंचेव ॥६६९

सुगमा, सर्वसङ्ख्यया सप्तचत्वारिंशदेषणा दोषाः, एतान् विशोधयन् पिण्डं विशोधयति, पिण्डविशुद्धौ च चारित्र-

१ एषा गाथा श्रीवीराचार्यवृतौ दृश्यते श्रीमलयगिरिवृत्तौ च न दृश्यते ।

विशुद्धिः, चारित्रशुद्धौ मुक्तिसम्प्राप्तिः, उक्तञ्च–" एस विसोहयंतो पिंडं सोहेइ संसओ नत्थि । एए अविसोहिंते चरित्रभेय वियाणाहि ॥ १ ॥ समणत्तणस्स य सारो भिक्खायरिया जिणेहिं पन्नत्ता । एत्थ परितप्पमाणं तं जाणसु मंदसंवेगं ॥ २ ॥ नाणचरणस्स मूलं भिक्खायरिया जिणेहिं पन्नत्ता । एत्थ उज्जममाणं तं जाणसु तिव्वसंवेगं ॥ ३ ॥ पिण्डं असोहयंतो अचरित्ती एत्थ संसओ नत्थि । चारित्तम्मि असंते निरत्थिया होइ दिक्खा उ ॥ ४ ॥ चारित्तम्मि असंतम्मि, निव्वाणं न उ गच्छइ । निव्वाणम्मि असंतम्मि, सव्वा दिक्खा निरत्थगा ॥ ५ ॥" तस्मादुद्गमादिदोषपरिशुद्धः पिण्ड एषयितव्यः ॥ ६६९ ॥

एसो आहारविही जह भणिओ सव्वभावदंसीहिं। धम्मावस्सगजोगा जेण न हायंति तं कुज्जा ॥६७०

एष आहारविधिर्यथा भणितः सर्वभावदर्शिभिस्तथा मया व्याख्यात इति । पश्चार्द्धेनापवादमाह 'धम्मे'त्यादि, धर्मा-वश्यकयोगाः–श्रुतधर्मचारित्रधर्मप्रतिक्रमणादिव्यापारा येन न हीयन्ते, तथाऽपवादं सेवेतेतिभावः ॥ ६७० ॥ साधुना हि यथायथमुत्सर्गापवादस्थितेन भवितव्यम् । या चापवादसेवनया विराधनाऽशठस्य जायते साऽपि निर्जरा फला, तथा चाह–

जा जयमाणस्स भवे विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स। सा होइ निज्जरफला अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स ॥

यतमानस्य सूत्रोक्तविधिपरिपालनपूर्णस्याध्यात्मविशोधियुक्तस्य रागद्वेषाभ्यां रहितत्वाद् या भवेद्विराधनाऽपवाद-प्रत्यया सा भवति निर्जरा फला ॥ ६७१ ॥

श्रीबृहद्वृत्तिमालोक्य, गम्भीरार्थापि निश्चितं । मया श्रीपिण्डनिर्युक्तिः, भक्त्यार्थे विनिर्ममे ॥ १ ॥

उद्गमादि-दोषपरि-शुद्धो चरणत्वम् ।

इति श्रीपिण्डनिर्युक्तिरवचूरिता ।

इति श्रीविधिपक्षगच्छगगनरविमण्डलश्रीगच्छेश्वरश्रीजयकीर्तिसूरिशिष्यक्षमारत्नेन स्वपरावबोधाय श्रीपिण्डनिर्युक्तिरवचूरिरलेखि ॥ १ ॥ यत्किञ्चिन्मतिदौर्बल्यादसङ्गतमिहागतम् । तच्छोधने विधातव्या, कृपा सद्भिः सद्बुद्धिभिः ॥ २ ॥ यावदिन्दुरवी विश्वे, प्रमोदं कुरुतो भृशम् । तावन्नन्दतु साधूनां, हितैषाऽप्यर्थसन्ततिः ॥ ३ ॥ ग्र० ३००१ श्रीरस्तु ।

(१) प्रेसयोग्या प्रतिः—

संवत् १९८३ विक्रमार्के मार्गशीर्षपूर्णिमायां रत्नपुरीनिवासी प्राग्वाटवंशे रामलालात्मजरूपमचन्द्रेण पुण्यपत्तनेऽलेखि ॥ शुभं भवतु ॥

(२) पुष्पिकाः—

ग्रन्थाग्रं २८३२ श्लोकसंख्या ॥ आचार्यश्रीविजयकमलसूरीश्वरप्राचीनहस्तलिखितपुस्तकोद्धारकं सुरत ॥ आ प्रति जेसलमेरसे उतारी सं. २००८ मिति वैशाखवदी ९ ॥ क्षमारत्नकृता अवचूरिः ॥

॥ इति श्रीविधिपक्षगच्छीय—श्रीक्षमारत्नकृतावचूर्युपेता
श्रीपिण्डनिर्युक्तिः ॥

प्रथमं परिशिष्टम्

सभाष्यपिण्डनिर्युक्तेगाथानामकारादिक्रमः

निर्युक्तगाथाः ६७१ भाष्यगाथाः ३७ अनिर्दिष्टाङ्कगाथे २

गाथाया: प्रतीकम्	गाथाङ्कः	पत्रम्	गाथाया: प्रतीकम्	गाथाङ्कः	पत्रम्	गाथाया: प्रतीकम्	गाथाङ्कः	पत्रम्
अंगारत्तमपत्त	६५६	११७	अक्खे वराडए वा	७	२	अट्ठाए अणट्ठाए	१०२	२२
अंगारधूमियाई	५६०	१०१	अगविहूस्स उ महण	७८	१७	अणिसिट्ठमणुन्नाय	३८६	७२
अंगुलियाए	२८७	५६	अघणघणचारिग०	१७५	३६	अणिसिट्ठ पडिकुट्ठ	३७७	७०
अइदूरजलंतरिया	३३७	६४	अचियत्तमंतराय	३७१	७०	अणुकंप भगिणिगेहे	३२५	६१
अइबहुय अइबहुसो	६४६	११७	अचित्तमचित्तमि	५३७	९७	अणुकंपा पडिणीय०	५९६	१०७
अइभारतुडण	२५	६	अच्छिन्नपि य तिविह	३६६	६८	अणुचियदेसं दव्व	२०४	४१
अइरं फलाइपिहिय	५६१	१०१	अच्छोडपिट्टणासु	३४	८	अणुट्ठिए आयणे डायं	२५५	५०
अक्खयघयाणे	४०	९	अच्छोयरओ तिविहो	३८८	७२	अणहा रंधंते	२७२	५२

+ एतादृशा अङ्का भाष्यगाथायाः

गाथायाः प्रतीकम्	गाथाङ्कः	पत्रम्	गाथायाः प्रतीकम्	गाथाङ्कः	पत्रम्	गाथायाः प्रतीकम्	गाथाङ्कः	पत्रम्
आकरिसा निमित्तेण	४२६	८१	आसंदिपीढमंच०	३६१	६७	आहाकम्मुद्देसिय	९२	२०
आणतभुजगा	१२२	२६	आसुयमाइएहिं	४०५	७५	आहाकम्मुद्देसिय	२४८	४९
आण सवविणाण	१८४	३८	आहाकम्मोईहिं	१२५	२६	आहाकम्मुद्देसिय	३९३	७१
आणाइणो य दोसा	१८१	३८	आहाकम्मतरिया	११४	२७	आहाकम्मेण अहे०	११६	२८
आयक उवसग्गे	६११	११९	आहाकम्म भुजइ	२१७	४२	आहाय जं कीरइ	३०	७३
आयको जरमाई	६१७	११९	आहाकम्महारे	२१८	४२	आहारंति तवस्सी	६६०	११८
आयविकयारणम्	६१६	१११	आहाकम्मग्गाहणे	१८१	३७	आहार उवहिसेज्जा	६८	१५
आयकिय पुण दुविह	३०७	५८	आहाकम्मनिमंतण	१८२	३८	" "	६२१	१११
आयपोगयदोसा	५८५	१०५	आहाकम्मपरिणओ	१०७	२१	आहारोवहिगाई	३७२	६९
आयरऽणायरभावे	२०१	४१	आहाकम्मपरिणओ	२०७	४१	इंदस्स जह सहा	१५५	२८
आयरियउवज्झाए	४७५	८७	आहाकम्माईण	१३३	२७	इंगणधूमेगावे०	२५७	५१
आयरियगिलाणाण	२७	६	आहाकम्मियगमा	९४	२०	इंधणमाई मोत्तु	२६७	९२
आयवयं च परवय	४८६	८९	आहाकम्मियमायण०	२६६	५१	इंधनअभावीअवयव	२५९	५१

गाथायाः प्रतिकम्	गाथाङ्कः	पत्रम्	गाथायाः प्रतिकम्	गाथाङ्कः	पत्रम्	गाथायाः प्रतिकम्	गाथाङ्कः	पत्रम्
इंधनधूमेगंधे०	२५८	५१	उग्गमकोडिअवयव	२४७	४९	उब्भिन्ने छक्काया	३४८	६५
इक्को उ असब्भावे	७	३	उग्गमकोडीअवयव	३९४	७३	उभयाइरित्तमहवा	४	२
इक्खागवंस भरहो	४७९	८७	उग्गमदोसा सोलस	५२२	९५	उभयेऽवि य पच्छन्ना	४३२	८०
इट्टगछणंमि परि०	४६६	८५	उग्गाइ कुलेसुवि	४४१	८२	उवओगंमि य लाभं	११६	२४
इट्टगपगाईणं	३६	८	उच्चत्ताए दाणं	३२२	६१	उवसयवाहिं ठाणं	३२	७९
इय अविहीपरिहरणा	२०१	४१	उच्छुक्खीराइयं	२८०	५४	उवट्टिया पयोसं	४२०	७७
इयरोऽवि य पंतावे	३२६	६१	उड्डाह कायपडणं	५८३	१०५	उवट्ठणिऽसंसत्तेण	६०३	१०८
इरियं नऽवि सोहेई	६६४	११८	उड्डमहे तिरियंपि य	३६३	६८	उसिणस्स छड्डुणे	६३८	११३
उउबद्ध धुवण बाउस	२४	६	उणहिय दुब्बलं वा	३२७	६२	उसिणोदगंपि घेप्पइ	५५३	१००
उक्कोस मज्झिम	३४६	६५	उद्देसियं समुद्देसियं	२२९	४६	उसिणोदगमणुवत्ते	१८	५
उक्खित्तं निक्खिप्पइ	३४०	६४	उप्पायणाए दोसे	५१४	९४	उसुआइएहिं मंडेहि	४२४	७८
उक्खेवे निक्खिवे	५७०	१०२	उब्भट्ठपरिसायं	२८१	५४	ऊसव मंडणवग्गा	२२५	४५
उग्गम उग्गोवण	८५	१८	उब्भिज्ज पिज्ज कंगु	६२४	११२	एए उ अणाएसा	२०	५

गाथाद्यः प्रतिकम्	गाथाङ्कः	पत्रम्	गाथाद्य प्रतिकम्	गाथाङ्क	पत्रम्	गाथाद्य प्रतिकम्	गाथाङ्क	पत्रम्
एए उ न थीसामे	१०	७	एगविहाइ दसविहो	६०	१३	एमेव य अणमिवि	२८२	७१
एए पेय य दोसा	२२०	५१	एगस्स माणजुग	३२८	६२	„ पाइ समए	२१५	६०
एएण मज्झ भावो	[illegible]	८४	एगेण चाचि पाचि	११२	११०	„ सेसएसुवि	७६	१७
एए ते जेसिमो रक्खो	११५	१४	एगो दवस्स भागो	६५१	११७	„ सेसयाणवि	५४३	९८
एएसि दोसणाण	५७८	१०४	एगो किणाइ हीन	६४२	११६	„ सेसियाइवि	४२१	७७
एएहिं छहिं ठाणेहिं		११९	एग उ तइयचउरथा	६५४	११७	एय इ अणाइस	३४१	६५
एकेण त दुविह	२७९	५४	एमेव उद्दिद्वयमिवि	१३६	४०	एगाइ चिय तिसिवि	६२२	१११
एकेकाचि य दुनिहा	४२९	८०	„ कम्मो नियमा	१३६	६४	एयारिसे मम सत	६३१	११४
एकेके चउभगो	५१८	१०२	„ कागमाई	४५४	८४	परिसय चिय दुत्त	४५८	८४
एकेण कम्मकञ्ज	१८५	३८	„ भागकूडे	११०	२३	एव एकेकदिण	६१७	१११
एगतमचक्रमण	२११	४२	„ मीसएसुवि	५४४	९८	„ खु अह सुद्धो	११५	२४
एगत्तविद्धमी	[illegible]	९	„ य उक्कोसे	३६२	६८	„ तु मनिद्रुसा	५१३	९४
एगदा एगरवण	१३०	२७	„ य कम्ममिस्सवि	२४०	४७	„ तु पुव्वकिये	३५०	६५

गाथायाः प्रतिकम्	गाथाङ्कः	पत्रम्	गाथायाः प्रतिकम्	गाथाङ्कः	पत्रम्	गाथायाः प्रतिकम्	गाथाङ्कः	पत्रम्
एवं मीसज्जायं	२७५	५३	ओरालग्गहणेणं	१६	२०	कम्मियकद्दम०	२५३	४९
,, लिंगेण भावाण	१५३	३१	ओरालसरीराणं	१७	२०	करडुय भत्तमलद्धं	४६४	८५
एसण गवेसणा	७३	१६	ओहासिय पडिसिद्धो	४६८	८६	कस्स घर पुच्छिऊणं	४६९	८६
एसो आहारविही	६७०	१२०	ओहेण विभागेण य	२१९	४४	कस्सवि पुच्छियंमी	१३७	२८
,, सो जस्स गुणा	४९१	९०	ओहो सुओवउत्तो	५२४	९५	कामं सयं न कुवइ	१११	२४
,, सोलसभेओ	३९२	७३	कंडिय तिगुणकंडा	१७१	३६	कायवइमाणो	१७	२१
ओगाहिमायणंतर	५४८	९९	कक्कुडिय अंवगा	१६९	३५	किं अद्धि इति	५१०	९५
ओच्छाहिओ परेण	४६५	८५	कणगरययाइयाणं	४०६	७६	किं तं आहाकम्मंति	१६०	३३
ओमे संगमथेरा	३१	७९	कत्तरि पओअणा०	४४२	८२	किं तु (ति)ह सद्धा	५२६	९२
ओयण मंडग सत्तुग	६२३	११२	कन्तामि ताव पेलुं	२६	५५	किं न ठविज्जइ पुत्तो	५०९	९३
ओयण वंजणपाणग०	३७	८	कठत्रद्विग अप्पाहण	५७९	१०४	किं वा कहिज्ज छारा	३१४	६०
ओयणसमिइ मस०	२०२	४१	कम्माण जेण भावेण	६६	१५	किण्हाइया उ लेसा	२१	२१
ओयरंतं पयं दट्ठुं	५२९	९४	कम्मासंकाए पहं	२००	४०	किवणेसु दुम्मणेसु	४४९	८३

गाथायाः प्रतिकम्	गाथाङ्कः	पत्रम्	गाथायाः प्रतिकम्	गाथाङ्कः	पत्रम्	गाथायाः प्रतिकम्	गाथाङ्कः	पत्रम्
गोमहिसि अया०	१३२	२७	चम्मट्ठिदंतनहरोम०	५०	११	छक्कायवग्गहत्था	५७५	१०३
गोवपओ अच्छेत्तुं	३६८	६९	चरणकरणालसंमि	२९५	५६	छक्कायवग्गहत्था	५९१	१०६
गोवालए य भयए	३६७	६८	चरियं व कप्पियं वा	६३०	११३	छन्नगवारगमाई	२७८	५४
घणउदही घण०	१७	५	चाउलोदगंपि से देहि	१६७	३४	छहिं कारणेहिं साधू	६६१	११८
घयसत्तुयदिट्ठंतो	३७६	७०	चाणक्क पुच्छ इट्टाल०	३७	९१	छायंपि विवज्जंती	१७२	३६
घरकोइलसंचारा	३५५	६६	चुन्ने अंतद्धाणे	५००	९१	छिन्नंमि तओ उक्क०	३९१	७३
घासेसणा उ भावे	६३५	११४	चुल्लत्ति दारमहुणा	३८३	७१	छिन्नमछिन्नं दुविहं	२३१	४६
घेत्तव्वमलेवकडं	६१३	११०	चुल्ली अवचुल्लो	२५	५४	छिन्नमच्छिन्नो दुविहो	३८४	७१
घेप्पइ अकुंचियागंमि	३५६	६६	चुलक्खलिया डोए	२५०	४९	छिन्नो दिट्ठमदिट्ठो	३८५	७१
चंदोदयं च सूरोदयं	२१२	४२	चुल्लुक्खाकम्माई	२५२	४९	जंघापरिजिय सड्ढी	५०७	९३
चंपा छणंमि घिच्छामि	४८२	८९	चोयगं इंधणमाईहिं	२६१	५१	जंघा बाह तरीइ व	३३१	६१
चउरिंदियाण	४९	११	छउमत्थोघुद्देसं	२२२	४४	जंघाहीणा ओमे	३५	३१
चउरो अइक्कमवईक्कमा	१७९	३७	छउमत्था सुयनाणी	५२३	९५	जं जह व कयं दाहं	२४२	४८

गाथानामकारादिक्रमः ।

गाथाया प्रतीकम्	गाथाङ्कः	पत्रम्	गाथाया प्रतीकम्	गाथाङ्कः	पत्रम्	गाथाया प्रतीकम्	गाथाङ्कः	पत्रम्
ज इव उदगाइसु	९८	२१	जम्म पुराइ एगो	७५	१६	जहेव कुमाइसु	३५४	६६
ज पुण अचित्त दव्वं	५४७	९९	जत्ता पुण पिंडवाय०	३	२	आई कुल गण कम्मे	४२७	८१
जइणो वीसाभिग्गह	१५६	३१	जइ कम्म तु अकप्प	१८९	३९	आई कुले विभासा	४३८	८१
जइणो सावग निण्हव	१५७	३२	जइ कारण तु तत्तू	७०	१६	आ समणाणस्स	६७१	१२०
जइ पच्छकम्मदोसा	६१४	११०	जइ कारणमणुवइस	७१	१६	आ जेण होई वलेण	४१९	७७
जइवि य ता पज्जता	४६७	८६	जइ पेव उ निक्खित्ते	५५९	१०१	आणतु अजाणतो	२२	२२
जइ संका दोसकरी	५२९	९६	जइ पेव उ निक्खित्ते	५६४	१०२	आमाइपुणपइमारण	४३४	८०
जइ से न ओगहाणी	६१८	१११	जइ पेव पुवकिले	३५१	६६	आयसु न परिसोऽइ	४७२	८६
जइवि सुओ मे होही	५११	९३	जह पेव संजोगा	६०६	१०९	आरिसए चिय सहा	५२८	९६
जण सावगाण	५०४	९२	[illegible] जह परिसणी	४९८	९१	आवतद्धा सिद्ध नेय	२७२	५३
जत्थ उ तइओ मग्गो	१५९	३३	जह तिणपत्तो लवो	५७	१३	जावत देवदत्ता	१४२	२९
जत्थ उ थोवे थोव	५६१	१०२	जह ते दसणकसी	२१६	४२	जावतिए विसोही	३९०	७३
जत्थ उ सचित्तमीसे	५४५	९८	जह मत तु जमेज्ज	१९१	३९	जावतियमुद्देसे	२३०	४६

गाथायाः प्रतीकम्	गाथाङ्कः	पत्रम्	गाथायाः प्रतीकम्	गाथाङ्कः	पत्रम्	गाथायाः प्रतीकम्	गाथाङ्कः	पत्रम्
थुल्लीऍ वियडपासो	४२६	७९	दवमि अवकम्म	१०६	२३	दाहिति तेण भणिए	४७०	८६
थेर पहु थरथरंते	५९८	१०७	दवमि छज्जुयाई	८६	१९	दिव्वंते पडिसेहो	३११	५९
थेरी दुब्बलखीरा	४१८	७७	दवणा खलु काया	१०४	२२	दिह सीरं खीरं	१२१	२७
थेरो गलंतलालो	५८०	१०४	दव्वाइयो विवेगो	३९६	७४	दिवाड सज्ज पत्तवि	२२३	४४
थोवे थोव छुड छुवे	५७१	१०२	दव्वाई छिकपि छु जइ	२१४	४६	दुगमाई सामत्थे	६११	११०
दसणचरणे पढमो	१५४	३२	दव्वीछूढेवि अ जुवं	२५४	५०	दुग्गासे व समइ०	२४	५३
दसणनाणचरित्ताणं	६९	१५	दव्वे अचित्तेणं	६७	१५	दुविह च भत्तिसयं	५२१	९६
दंसणनाणप्पभवं	९१	१९	दव्वे भावे संजोअणा	६११	११५	दुविहविराहण उसिणे	५५६	१०७
दंसणनाणे चरणे	१४१	२८	दुस सन्निहाणा	१४९	३०	दुविहो य भावपिण्डो	५९	१३
दहएण वरिंघणा वा	४२	९	देहि इम मा सेसं	३११	७१	दुविहो उ संथवो	४८४	८९
दगवीए संघट्टण	५८८	१०६	दाण न होई अफलं	४५५	८४	दूरयं खु परहिय	४२१	८०
दट्ठुण य अणगारं	२९२	५६	दाणे क्रयविकए	३५२	६६	दूरा भोयण पगामि	३३	८१
दद्दर सिल सोवाणे	३१४	६८	दामधमवायव्व	६०७	१०९	दोसि उ साहुसमुत्था	५१५	९४

गाथायाः प्रतीकम्	गाथाङ्कः	पत्रम्	गाथायाः प्रतीकम्	गाथाङ्कः	पत्रम्	गाथायाः प्रतीकम्	गाथाङ्कः	पत्रम्
भावेसणा उ तिविहा	७७	१७	मडलपसुतिकुट्टी	६००	१०८	मा ते फलेज्ज कुछ	५०८	९२
भिक्खदगसमारंभे	३११	६०	मसवससोणियासव	५२९	९७	मायपिइ पुव्वसंथव	४८५	८९
भिक्खाइ गओ रोगी	४५७	८४	मइम अरोगि वीहा०	४१२	७६	मायावी चडुयारी	४८९	९०
भिक्खाई वयते	४२०	८०	मइलिय फालिय	३२१	६१	माळमि कूडे मोयग	३६०	६७
भिक्खागाही एगत्थ	२८४	५५	मच्छियघम्मा अंतो	३०२	५८	माळभिमुह दद्दूण	३५९	६७
भिक्खामित्ते अविया०	५९७	१०७	मज्झारसइयमसा	१९२	३९	माळोहडंपि दुविहं	३५७	६७
भिक्खू जहन्नगमी	२५८	४७	मज्झिममनिदे दो	१४	९	मासियपारणगट्ठा	२०९	४२
भिक्खे परिहायते	३६	९१	मतेण जेण दाहिइ	५६९	१०२	मिच्छत्तथिरीकरण	४४७	८३
भुजण अजीरपुरिम०	३३९	५७	मयमाइवच्छगंपिव	४४४	८३	मीसज्झाय आवतिय	२७१	५१
भुंजति चित्तकम्म	४४६	८३	महइंए संलखीए	२२८	४५	मुयदविपसु जुज्जइ	५६	१२
भुंजती आममणे	५८७	१०५	मा एय देहि इम पुढे	२३७	४७	रयणपईवे जोई	२११	५७
भूमाइएसु उ पुण	५६६	१०२	मा काहिति अवण्ण	२३९	४७	रस कक्कब पिंडगुल	२८३	५५
भगळहेउ पुलइया	२९०	५६	मा ताव झल पुत्तय !	२८६	५६	रसभायणहेउ वा	२३८	४७

गाथानामकारादिक्रमः ।

गाथाया प्रतीकम्	गाथाङ्क	पत्रम्	गाथाया प्रतीकम्	गाथाङ्क	पत्रम्	गाथाया प्रतीकम्	गाथाङ्क	पत्रम्
सूरोदय गच्छमह	२१२	४१	सोलसउग्गमदोसा	६६९	११९	हरियाइअणंतरिया	५५७	१००
सेयगुलि पगुड्डावे	४७१	८६	सोवीरा गोरसासव	५४	१३	हियएण संकिएण	५२७	९६
सेसा विसोहीकोडी	३९५	७४	हत्थकप्प गिरिफुल्लिय	४६१	८५	हिययमि समाहेउं	१८	२१
सेसेडु य पडिवक्खो	६०४	१०९	हत्थसय खलु देसं	३४४	६५	हियाहारा मियाहारा	६७८	११६
सेसेहिं कायहिं	५६५	१७	हत्थसयमेग गंता	४१	९	देहावणि कोसकगा	६११	१११
सेसेहिं उ दव्वेहिं	२६६	५२	हरिअइउनियकमजे	५७३	१०३	होगायविसहकरणे	४१९	८२
सोकस उग्गमदोसे	४०३	७५	हरियाहडण मिण्हे	८३	१८			

द्वितीयं परिशिष्टम्।

पिण्डनिर्युक्तिगतभाष्यगाथानां प्रतीकानि।

गाथायाः प्रतीकम्	गाथाङ्कः	पत्रम्	गाथायाः प्रतीकम्	गाथाङ्कः	पत्रम्	गाथायाः प्रतीकम्	गाथाङ्कः	पत्रम्
गुणनिप्फन्नं	१	१	घोवत्थं तिन्नि	११	७	किण्हाइया उ	२१	२१
पिंडण बहुद	२	२	निद्धेयरो य कालो	१२	९	जाणंतु अजाणंतो	२२	२२
जस्स पुण	३	२	एगंतसिणिद्धंमी	१२	९	तत्थ विभागुद्दे०	२३	४५
उभयाइरित्त०	४	२	मज्झंमनिद्धे दो	१४	९	दुग्गरसें तं सम०	२४	५४
गोणसमया०	५	२	पोरिसितिगमच्चित्तो	१५	९	चुल्ली अवचुल्लो	२५	५३
तुल्लेऽवि अभि०	६	३	ओरालग्गहणेणं	१६	२०	कन्तामि ताव	२६	५५
इक्को उ अस०	७	३	कायवइमणो	१७	२१	अब्भट्ठ उड्डिया वा	२७	५५
पायस्से पडोयारो	८	६	हियंमि समाहेउं	१८	२१	सुक्केणऽविं जं	२८	७३
संथारुत्तर०	९	७	तत्थाणंता उ	१९	२१	लेवालेवत्ति	२९	७३
एए उ न वीसामे	१०	७	संखाईयाणि उ	२०	२१	आहाय जं कीरइ	३०	७३

ओमे उंगमधेरा	११	७९	ओवो ववधागव्वं	१४	८१	चाणय पुच्छ	१७	९१
ववसयवाहिं	२२	७९	अणाहीणा ओमे	१५	९१			
दूरा मोयंण पगारिं	२१	८१	जिण्खे परिहायवे	१५	९१			

तृतीयं परिशिष्टम्।

अवचूरिकृता साक्ष्यादित्वेन धृतानां ग्रन्थानामकारादि।

नाम	पत्रम्	नाम	पत्रम्	नाम	पत्रम्
अतिसङ्क्षिप्तव्याख्यानम्	११	पाठः	१२	मूलटीका	२१
आचाराङ्गद्वितीयश्रुतस्कन्धः	२	पिण्डनिर्युक्तिः	१, १५	मूलसूत्रम्	३
करणगाहा	११	पिण्डेषणाध्ययने सप्तमोद्देशकः	९	शत्रुपाकम्	८८
कविदृष्टिसीयगाथायां	७०	बृहद्वृत्ति	१९, २१, १२०	वृत्तिः	१०२
धर्मसङ्ग्रहण्यादि	११	भरतचक्रवर्तिचरितम्	८८	(व्याख्याप्रज्ञप्तिः)	२२
निर्युक्तिगाथा	२	भाष्यम् २,२, ६, ७, २०,२१, २२, ९१		वृत्तिः	९२

चतुर्थं परिशिष्टम् ।

साक्षिधृतानां पाठानामकारादि ।

† अवचूरिकृता एषा गाथा साक्षित्वेनोद्धृताऽस्ति ।

‡ यद्यपि–अवचूर्णिकृता 'संजो' इत्यादिगाथाप्रोक्ताऽस्ति तदपि न संपूर्णप्राप्ताऽतो अस्या भङ्गो नोधृतः ।

पञ्चमं परिशिष्टम् ।

व्याकरणादिनिर्देशः ।

व्याकरणादि	पत्रम्	व्याकरणादि	पत्रम्	व्याकरणादि	पत्रम्
आर्षम्	५	तृतीयार्थे सप्तमी	२५	मध्याः क्रोशन्ति	५
" गङ्गायां घोष " इतिन्यायेन	६	धातूनामनेकार्थत्वात्	१८	समयभाषया	९, ५५
आचार्येकवचनम्	१९	प्राकृतत्वात्	२, ४, २४	सूचनात् सूत्रम्	१७, १९, २२, ३३, ५०, ६३, १०८

षष्ठं परिशिष्टम् ।

' अन्ये 'इत्यादि ।

	पत्रम्		पत्रम्		पत्रम्
अन्ये	१०६	अपरे	५	वृद्धसम्प्रदायः	१०२
अन्ये	५, ८१	एके	९	मतान्तरम्	७, १०६
अन्ये त्वाचार्यदेशीयाः	१०६	केचिदाचार्याः	१०५	व्यवहारनयमतम्	५

सप्तमं परिशिष्टम् ।

नाम्नामकारादिक्रमः ।

नाम	पत्रम्	नाम	पत्रम्	नाम	पत्रम्	नाम	पत्रम्
चन्द्रमुखा	९३	जितशत्रुः	१७	देवशर्म्मा	४८, ९९	निजयश्रेष्ठी	६२
चन्द्राननापुरी	४२, ९३	जिनदत्तः	३३	धनदत्तः	६९, ८०, ९२	नूपुरहारिका	३७, ३८
चन्द्रयशसकः	४२	जिनदासः	६९	धनदेवः	९१	पादलिप्तसूरिः	९०, ९१
चन्द्रिका	४२	जिनमतिः	३४	धनप्रिया	९३	पोतनपुरम्	४२
चन्द्रोदयम्	४१	जितशत्रु	१७	धनवती	६४	प्रतिष्ठानपुरम्	९१
चम्पापुरी	८९	तिलकश्रेष्ठी	६२	धनश्रेष्ठी	९३	प्रियङ्करः	४२
चाणक्यो	९१	त्रिलोकरेखा	९३	धनावहः	६४	प्रियङ्गुरूपिका	४५
चाणक्यः	[illegible], ९२	दत्तः	७९	धन्यवर्द्ध	८७	प्रियङ्गुलतिका	४५
छिन्नटङ्कः	३८	दत्तो	७९	धर्म्मघोषः	११३	प्रियङ्गुसारिका	४५
जयकीर्तिसूरिः	१२०	दुष्प्रभः	३९	धर्म्मरुचिः	६५	प्रियङ्गुसुन्दरी	४५
जयन्तपुरम्	६५	देवकी	८०	धर्मरुचिसूरयः	८७	प्रियदर्शना	२६
जयन्तीपुरी	६८	देवदत्त	२, २९, ६२	धर्म्मापिपृथ्वी	३	प्रियमतिः	८०
जयसुन्दरी	९४	देवराजः	६०	निम्बहिड (नाटक)	८७	बन्धुमती	६२

नाम	पत्रम्	नाम	पत्रम्	नाम	पत्रम्	नाम	पत्रम्
शिवदेवः	६०, ६१	संतुलपुरम्	९४	सारिका	६०	सुरूपः	१९, २६
शिवा	६०, ६१	सङ्कुड	३४	सिंहः	७९	सुलोचना	८६, ८७
शिशुपालः	९४	सङ्गमस्थविरः	७९	सिंहलः	२, २०	सुव्रतः	८९
शीतलकः	४८	समितसूरिः	१८, ९२, ९१, ९६	सिंहरथः	८७, ८८	सुस्थितसूरयः	९२
शीला	२५			सिंहसूरयः	८६	सूरोदयं	४२, ४३
शृङ्गारमतिः	९४	समुद्रघोषसूरि	६०	सिंहाचार्यः	७९	सूर्योदयम्	४३
श्रीविक्रमनगरम्	२६	समुद्रः	९२	सिन्धु	९४	सोदासः	३९
श्रीपर्णी	१७	सम्भवप्रमुखा	६०, ६१	सुदर्शना	१७, ६२	सौवीरगा	१११
श्रीमती	५५	सम्मतिप्रमुखा:	६०	सुन्दरः	८०	सौराष्ट्रम्	३०
श्रीस्थलकम्	१९	सम्मिकपुरम्	४८	सुन्दरी	६२, ६३	हरन्वयभिषेक.	१८
संगमथेरा	७९	सागरदत्तः	५५	सुरत्नश्रेष्ठी	६८	हस्तकल्पम्	८५

अष्टमं परिशिष्टम्

अवचूरिगतान्युदाहरणानि

कथाङ्कः	कथाविषयः	कथानाम	गाथा	अवचूरिपत्रम्	मलगिरिटीकापत्रम्
१	द्रव्यगवेषणायां	मृगदृष्टान्तः	८०–८१	१७	३०
२	प्रशस्तद्रव्यगवेषणायां	समितसूरयः	८२	१८	३१
३	द्रव्यगवेषणायां	गजदृष्टान्तः	८३–८४	१८	३१
४	द्रव्योद्गमे	लड्डुकप्रिय(मोदकप्रिय)कुमारदृष्टान्तः	८८–९०	१९	३३
५	प्रतिषेवणायां	स्तेनदृष्टान्तः	११९	२५	४६
६	प्रतिश्रवणे	राजपुत्रदृष्टान्तः	१२१	२५	४७
७	संवासे	पल्लिदृष्टान्तः	१२५	२६	४८
८	अनुमोदनायां	राजदुष्टदृष्टान्तः	१२७	२६	४९
९	आधाकर्मोदनपरिहारे	साधुकथानकम्	१६२–१६३	३४	६३
१०	आधाकर्मपरिहारे	लौकिकोदाहरणम्	१६६–१६७	३५	६४
११	आधाकर्मेऽतिक्रमादिदोषे	हस्तीदृष्टान्तः	१८१	३८	६८

१२	वान्तमिव अनेषणीये	उमतेर्भोदृष्टान्त	१९२–१९३	३९	७१
१३	अविधिपरिहारे	अकोविदसाधुदृष्टान्तः	१९८–२००	४०	७२
१४	परिणस्याऽऽधाकर्मग्रहणे	व्रुम्पकिञ्चिद्दृष्टान्त	२०८	४२	७४
१५	शुद्धगवेषणायां	प्रियङ्करक्षपकदृष्टान्तः	२०९–११	४३	७४
१६	आज्ञायां	चन्द्रसूर्योद्यानोदाहरणम्	२१३–२१५	४३	७५
१७	एषणोपयोगे	गोवत्सोदाहरणम्	२२५–२२६	४५	७८
१८	पूतिदोषे	सभोपलेपनोदाहरणम्	२३५–२४६	४८	८३
१९	प्रादुष्करणे	भिन्नस्वरूपाणां साधूनामुदाहरणम्	२९२–२९७	५६	९३
२०	परभावक्रीते	मङ्खोदाहरणम्	३१०–३११	५९	९७
२१	प्रामित्यदोषे	भगिन्युदाहरणम्	३१७–३१९	६०	९८
२२	परावर्तितदोषे	भ्रातृभगिन्युदाहरणम्	३२४–३२६	६२	१००
२३	परग्रामस्वग्रामाभ्याहृते	धनावहादिदृष्टान्त	३३७–३४३	६४	१०१
२४	मालापहृतदोषे	भिक्षुदृष्टान्त	३५९–३६०	६७	१०८
२५	„	द्वितीयदृष्टान्त	३६१	६८	१०९

परि० ८ अवचूरिगतान्युदाहरणानि ।

२६	आच्छेद्यदोषे	गोपदृष्टान्तः	३६८–३६९	६९	११०
२७	अनिसृष्टदोषे	द्वात्रिंशद्वयस्य दृष्टान्तः	३७८–३८१	७१	११३
२८	अध्यवपूरके	दत्तसीधोर्दृष्टान्तः	४२७	७९	१२५
२९	परग्रामदूत्यां	धनदत्तसाधोर्दृष्टान्तः	४३३–४३४	८०	१२७
३०	निमित्तदोषे	निमित्तकथकसाधोर्दृष्टान्तः	४३६	८१	१२८
३१	क्रोधपिण्डे	साधुदृष्टान्तः	४६४	८५	१३४
३२	मानपिण्डे	गुणचन्द्रक्षुल्लकदृष्टान्तः	४६६–४७३	८६	१३४
	गुणचन्द्रक्षुल्लकदृष्टान्तान्तरगत	(१) श्वेताङ्गुलिपुरुषदृष्टान्तः	४७१	८६	१३५
	” ”	(२) बकोड्डायक ”	४७१	८६	१३५
	” ”	(३) किङ्कर ”	४७१	८६	१३५
	” ”	(४) स्नायक ”	४७१	८६	१३५
	” ”	(५) गिद्धवरिङ्खी ”	४७२	८६	१३५
	” ”	(६) हदज्ञ ”	४७२	८६	१३५
३३	मायापिण्डे	आषाढभूतिदृष्टान्तः	४८०	८७	१३६

३४	लोभपिण्डे	सिंहकेसरमोदकगवेषक: क्षुल्लकसाधुः	४८२–४८३	८९	१३९
३५	विद्यापिण्डे	धनदेवोदाहरणम्	४९५–४९६	९१	१४१
३६	मन्त्रपिण्डे	पादलिप्तोदाहरणम्	४९८	९१	१४२
३७	चूर्णे	चाणक्योदाहरणम्	भा० ३५–३७	९१	१४२
३८	पादलेपे	समितसूरय:	५०३–५०५	९२	१४४
३९	मूलकर्मे (प्रथम)	क्षुल्लकोदाहरणम्	५०६–५०७	९३	१४४
४०	" (द्वितीय)	धनदत्तोदाहरणम्	५०६–५०७	९३	१४४
४१	विवाहे	प्रथमम्	५०८	९३	१४५
४२	"	द्वितीयम्	५०९	९३	१४५
४३	गर्भाधाने	द्वे पत्न्यौ	५१०–५११	९३	१४५
४४	द्रव्यैषणायां	वानरयूथोदाहरणम्	५१७–५१९	९४	१४६
४५	बालकदायके	कम्पटसाधुसंघाटकोदाहरणम्	५७९	१०४	१५८
४६	छर्दिते	मधुबिन्दूदाहरणम्	६२८	११३	१६९
४७	द्रव्यमासैषणायां	मत्स्य कपिलोदाहरणम्	६२०–६२१	११३	१७०

॥ इति अवचूरिगतानि परिशिष्टानि समाप्तानि ॥

नवमं परिशिष्टम्

श्रीवीराचार्यकृतायाः पिण्डनिर्युक्तिटीकायाः

आद्यन्तभागौ

॥ ऐं० ॥ नमः प्रवचनाय ॥

नम्रामरेश्वरकिरीटनिविष्टशोण—रत्नप्रभापटलपाटलितांह्रिपीठाः ।
तीर्थेश्वराः शिवपूरीपथसार्थवाहा, निःशेषवस्तुपरमार्थविदो जयन्ति ॥ १ ॥
लोकाग्रभागभवना भवभीतिमुक्ता, ज्ञानावलोकितसमस्तपदार्थसार्थाः ।
स्वाभाविकस्थिरविशिष्टसुखैः समृद्धाः, सिद्धा विलीनघनकर्म्ममला जयन्ति ॥ २ ॥
आचारपञ्चकसमाचरणप्रवीणाः, सर्वज्ञशासनभरैकधुरन्धरा ये ।
ते सूरयो दमितदुर्दमवादिवृन्दा, विश्वोपकारकरणप्रवणा जयन्ति ॥ ३ ॥
सूत्रं यतीनतिपटुस्फुटयुक्तियुक्तं, युक्तिप्रमाणनयभङ्गगभीरम् ।
ये पाठयन्ति वरसूरिपदस्य योग्यास्ते वाचकाश्चतुरचारुगिरो जयन्ति ॥ ४ ॥

1 यद्यपि—अवचूरिपरिशिष्टत्वेन टीकायाः मुद्रापण नोचितं तथाप्यस्त्ययमाप्ययाऽवष्यमुद्रिता वीराचार्यकृता टीका—इति ज्ञापनार्थमेतस्याः आद्यन्तभागमुद्रापणमुचितमिति मत्वा आद्यन्तभागौ मुद्रापण उद्यमकृतः, अतो विद्वज्जना तस्याः परिमलं गृह्णन्तु ।

सिद्धधनज्ञानसुखसमायमनवद्यवाञ्छाः, संसारसागरसमुत्तरणैकचित्ताः ।
ज्ञानादिभूषणविभूषितदेहभागा, रागादिघातरतयो यतयो जयन्ति ॥ ५ ॥

इति विरहि(चि)तपद्यपरमेष्ठिसंस्तवो गुरुजनोपदेशेन । वक्ष्ये शिष्यहितार्थमां वृत्तिमिमां पिण्डनिर्युक्तेः ॥ ६ ॥
पञ्चाशकादिशास्त्रव्यूहप्रविधायिका विवृतिमस्याः । आरेभिरे विधातुं पूर्वं हरिभद्रसूरिवराः ॥ ७ ॥
ते स्थापनाख्यदोष यावद्विवृतिं विधाय दिवमगमन् । तदुपरितनी च केचिद्वीराचार्यैः समाप्त्येषा ॥ ८ ॥
तथामीभिस्तुष्याः प्रथमा गाथा इति विभाव्या । कश्चिद् व्याख्याता या विवृतास्ता अपि ताः ॥ ९ ॥
सम्प्रति मन्दधियां दुर्बोधा इति मया समस्तानां । तासां व्याख्याव्याख्यादेवो क्रियते मयासोऽयम् ॥ १० ॥

इह हि जिनशासने पूर्वाङ्गकलितदशाध्ययनमतो दशकालिकाख्यः श्रुतस्कन्धोऽस्ति, तस्य च भद्रबाहुस्वामिसूरिणा निर्युक्तिरकारि, तत्र च पिण्डैषणाभिधपञ्चमाध्ययनस्य सत्को ग्रन्थप्रभूतत्वात् पिण्डनिर्युक्तिरिति नाम तस्यैव तेनैव पृथक्कृताऽशेषात्, सा दशकालिकनिर्युक्तिगातेत्यनेन सम्बन्धेनायात्या गाथामिमां द्वारगाथामाह—

पिण्डे उग्गम० ॥ १ ॥ व्याख्या—पिण्डोति "गोह लोड-कुडि पडिसङ्घात" इति भ्वादिकस्य "पूण मम् कुडि-पडिसङ्घात" इति विकल्पे "नत्याङ्गुराद्यः" इति वचनादिन्प्रत्ययाभावाश्रयणेन चौरादिकस्य वा पडिधातोः पिण्डनमतिमात्र इति सूत्रेण प(ब्व)नितस्यैव वा चौरादिकस्येनागमनपक्षमाश्रित्य स्वरदगमिग्रहामकितिसूनावावापिण्डो भीलनमात्र रूप येषामस्ति ते सहैक्योपचारात् त्रिभृतिकाः परमाण्वादय एकत्र मिलिता पिण्ड, यद्वा तयोरपि धातोः पिण्ड्यत इति, "अकर्तरि च कारके संज्ञाया"मितिघञित् एव, परमाण्वादि-

त्रिकप्रभृतिकाः पिण्डः, स च यद्यपि नामादिभेदैरनेकधा भविष्यति, तथाऽपीह संयमादिरूपभावपिण्डोपकारकस्य द्रव्यपिण्डस्य ग्रहणं ज्ञेयं, सोऽप्याहारोपधिशय्याभेदात् त्रेधा, तत्राऽऽहारशुद्धेः प्रस्तुतत्वादाहाररूप एव ग्राह्यः, ततश्च तस्मिन् पिण्डे अधिकृते विषयभूते वा, किमित्याह–उग्गमत्ति उद्गमनमुपद्गम उत्पत्तिरित्यर्थः, प्रथमैकवचनलोपः प्राकृतत्वात्, एवमुत्तरत्रापि विभक्तिलोपे विभक्तित्वात्येऽनुस्वारलोपादौ वाऽभणितोऽप्ययं हेतुर्ज्ञेयः, स चाधाकर्मादिभेदैर्भिन्नः स्यात्, वक्ष्यति च–" आहाकम्मुद्देसिय " (गा० ९२) इत्यादि, तथा " उप्पायणा " (गा० ५१४) इत्यादि, उत्पादनमुत्पादना धात्र्यादिप्रकारैर्या(ऽस्रे) वक्ष्यति " धाईदूई (गा०४०९) "त्यादि, इह किलैषणा त्रिधा, तद्यथा–गवेषणा ग्रहणैषणा ग्रासैषणा च, तत्रोद्गमोत्पादनाग्रहणेन गवेषणोक्ता, तथा ' एसणा ' इति एषणा–ग्रहणकाले शङ्कितादिभिः प्रकारैरन्वेषणं, वक्ष्यति च (ह० प० १) " संकियमक्खिये " (गा० ५२०)त्यादि, अनेन तु ग्रहणैषणोक्ता, तथा ' संजोयणा ' इति संयोजनं संजोयना–गृद्ध्या रसोत्कर्षोत्पादनाय सुकुमारिकादीनां खण्डादिभिः सह मीलनमित्यादिका, सा च द्रव्यभावभिन्ना वक्ष्यति च, " दव्वे भावे संजोयणा " (गा० ६२१) इत्यादि, तथा 'पमाणे'त्ति प्रमितिः प्रमाणं-कवलसङ्ख्यालक्षणम्, एकारः प्रथमैकवचनार्थः, " बत्तीसं किर कवला " (गा० ६४२)इत्यादि, चकारः समुच्चये भिन्नक्रमश्च, तथा इङ्गालत्ति चारित्रेन्धनस्याङ्गारा-णामिव करणमिति कारितेऽन्त्यस्वरादिलोपे " पुंसि संज्ञायां घ " इति घवाकारः, चारित्रेन्धनदहनसमर्थो रागपरिणामः, प्रथमैकवचन-लोपश्छन्दोऽर्थं, तथा धूमत्ति चारित्रेन्धनस्य धूम[वत्] इव करणमिति कारिते " मन्तुवन्तुविनां लुगि "ति वन्तुलोपेऽनुस्वरादिलोपे पूर्ववद्घे च धूमश्चारित्रेन्धनस्य धूमायमानताकरणसमर्थो द्वेषपरिणामः, प्रथमैकवचनलोपः पूर्ववत्, वक्ष्यति च–" तं होइ सइङ्गाल (गा० ६६५) "मित्यादि, तथा ' कारण 'त्ति प्रथमैकवचनलोपात्कार्यते प्राणी कार्यमनेनेति कारणं, च निमित्तं, पूर्वोक्तः चकारोऽत्रयोजित, एवमुत्तरत्रापि

चकारो वाच्यत्वादिष्वान्यत्रस्थितेऽपि यत्र घटते तत्र योज्यः, वक्ष्यति च "वेयणे" (गा० ६६२) त्यादि, इह संयोजनादिपदपञ्चकेन ग्रासैषणोक्ता, उपमर्दनार्थेति चन्द्रकोपादित्वनेन पिण्डस्य सर्वत्र गतत्वेन व्यापकत्वाऽभेदेनागमनादुद्गमणमणनरूप(च)कारेण, 'अट्ठविहा' इति अष्टविधा–ऽष्टभेदा, का सा विहीत्याह पिण्डनिज्जुत्ती इति निर्–निश्चयेन सततावियोगस्वरूपाधिक्येन वा युक्तिर्योजन सम्बन्ध इत्यर्थः, सूत्रेण सह येषां ते निर्युक्तिमो(स्य)र्थास्तेषां युक्तिर्योजन परिपाट्यास्तानित्यर्थः, ततश्च निर्युक्तीनां युक्ति निर्युक्तिरिति वाच्ये मध्यपदलोपितत्पुरुषेण प्रथमयुक्तिशब्दलोपान्निर्युक्तिः, यद्वा निरिति पूर्ववदुक्ता–सम्बद्धा सूत्रेण सह ये ते निर्युक्तार्थास्तेषां युक्ति पूर्वोक्ता, ततश्च निर्युक्तानां युक्तिनिर्युक्तयुक्तिरितिवाच्ये पूर्ववद्युक्तशब्दलोपान्निर्युक्ति, यथो(ष्ट्र)मुखस्यवन्मुख मस्याः सोष्ट्रमुखी कन्या, ततश्च पिण्डस्य–आहारस्य निर्युक्तिः पिण्डनिर्युक्तिः–आहारशुद्ध्यशुद्धिप्रतिपादको ग्रन्थ इत्यर्थः, भवतीति शेषः, इति द्वाराष्टकप्रतिपादकगाथासमासार्थः ॥ १ ॥ व्यवयार्थं तु ग्रन्थकारः स्वयमेव वक्ष्यति, तत्र "यथोद्देशं निर्देश" इति न्यायात्पिण्डस्य व्यासार्थं प्रस्तुतत्वात्तमपि "तस्यैवपर्यायैर्व्याख्ये"ति क्रमात्पूर्वं तस्य वाच्यम्, तत्र हि प्रभूतिकाः परमाणवादय एकत्र मिलिता पिण्ड इति पूर्वमेवोक्तम्, अथ तस्यैव भेदमयन क्रमायातमपि विचित्रत्वात् सुखगतेरित्युक्तम् वावदेकार्थिकशब्दानाह—

पिंडनिकाय० ॥२॥ व्याख्या—पिण्ड निकाय समूहेति समाहारात् पिण्डनिकायसमूह, सर्वत्र प्राकृतत्वादेकारः तेन, तथा सम्पिण्डनपिण्डना चकार समुच्चये, तथा समवायः, तथा समवसरणनिचयोपचय, चकार पूर्ववत्, तथा युग्म, चकार पूर्ववत्, तथा राशिः, चकारोनिकादीनां समुच्चयार्थे, एकार्थिकाः स्युरिति शेषः, एते सर्वेऽपि सामान्यतस्त्रिप्रभृतिके सङ्घाते वर्तन्ते, विशेषतस्तु कश्चित्कापि कस्मिन् रूढः, यथा पिण्डशब्दो गुडादिपिण्डरूपे सङ्घाते, निकायशब्दस्तु भिक्षुकादिसङ्घाते, समूहशब्दस्तु मनुष्यादिसङ्घाते, सपिण्डनशब्दस्तु

परि० १
धीराचार्य-
कृतटीका-
धाराध-
भागः ।

सेवादीनां खण्डपाकादेश्च परस्परं सम्यक् सङ्घाते, पिण्डनाशब्दस्तु तत्रैव केवलं मीलनमात्ररूपे सङ्घाते, समवायशब्दस्तु वणिगादीनां सङ्घाते, समवसरणशब्दस्तु जिनसमवसरणरूपे सङ्घाते, निचयशब्दस्तु धान्यादिसङ्घाते, उपचयशब्दस्तु सुवर्णादिसङ्घाते, युग्मशब्दस्तु भारण्डानामक्षादीनां वा युगलरूपे सङ्घाते, अन्यस्य वा कस्यचित्पदार्थस्य राशौ, राशिशब्दस्तु पूगफलादिसङ्घाते रूढः, ननु युग्मशब्दस्य द्विसङ्ख्यावाचित्वपक्षे त्रिप्रभृतिकपदार्थसङ्घाताभावेन पिण्डत्वं न घटते ? इत्युच्यते त्रिप्रभृतिकपदार्थसङ्घातः पिण्ड इति सामान्यलक्षणं, विशेषतस्तु क्वाप्याजन्माबियोगिनोरेकशरीरयोर्द्वयोरपि भारुण्डयोः पिण्डः स्यादेवेत्येके, अन्ये त्वाहुर्मुख्यवृत्त्या तावत् त्रिप्रभृतिकपदार्थसङ्घात एव पिण्डः स्याद्गौणवृत्त्या तु भिन्नशरीरयोरपि द्वयोः कपर्दादिकयोरेकत्र स्थाने मिलितयोर्मीलनमात्रमङ्गीकृत्य पिण्डत्वं स्यादेव, इहैकार्थिकप्रतिपादनेनैकान्तिकभेदाभेदौ व्युदस्येते, तत्रैकान्तभेदपक्षे तावन्नैकार्थिकाः शब्दा युज्यन्ते, कथं यस्य ह्येकान्तेनैव सर्वे भावाः सर्वथा भिन्ना वर्तन्ते, तस्य यथा घटशब्दस्य पटशब्दो भिन्न एव, एवं कुटशब्दोऽपि, तत्कथं घटशब्दस्य कुटशब्द एकार्थिको युज्यते ?, एवमेकान्ताभेदपक्षेऽपि, यस्य हि सर्वथैवाभेदेन सर्वे एव भावा व्यवस्थिताः तस्य, यथा घटशब्दस्य घटशब्दो अभिन्न एकार्थिको न भवत्येवं कुटादयोऽप्येकार्थिका न युज्यन्त एव, अभिन्नत्वात्तस्माद्भेदाभेदयोरेव ते युज्यन्ते, तत्र भेदे पिण्डनलक्षणमर्थमाश्रित्य प्रवृत्तिः, एवं निकायादीनामपि स्वं स्वमर्थभिन्नमाश्रित्य प्रवृत्तिर्जायते, असेवे(?)तु सर्वेऽप्येव एकस्मिन्नेव सङ्घातलक्षणेऽर्थे प्रवृत्ता इति गाथार्थः ॥२॥ अथ भेदानाह—

पिण्डस्स उ निक्खेवो० ॥ ३ ॥ व्याख्या—पिण्डस्य प्रतीतस्य, तु शब्दः पुनरर्थो भिन्नक्रमश्च, निक्षेपो नामादिभेदैर्न्यासः, पुनः शब्दोऽत्र सम्बध्यते, तस्य चैवं प्रयोगो, यथा पिण्डस्यैकार्थिकाः शब्दाः पिण्डनिकायादयस्तस्याऽपि निक्षेपः, पुनरिति तत्र पुनः शब्दो वैलक्षण्यस्य द्योतकस्तच्च पूर्ववाक्यार्थापेक्षयोत्तरवाक्यार्थस्य ज्ञेयमेवं सामान्यतः सर्वत्र पुनः शब्दो ज्ञेयः, कतिविध ? इत्याह—चत्वारः

परिमाणमस्येति चतुष्कः, स एव चतुष्ककः—चतुर्विधो—नामस्थापनाद्रव्यभावस्वभावः, एव षट्कः—षट्प्रकारो वक्ष्यमाणः, चकारः समुच्चये, कर्तव्यो—विधेयः, अनयोश्चतुष्कको व्यापकः, सर्ववस्तुव्यवतारित्वात्, षट्कस्त्वव्यापकः प्रतिनियतवस्तुव्यवतारित्वादिति भेदो गुरवस्तु व्याचक्षते, चतुष्ककः सुख सर्वश्रोतॄणां, षट्कस्तु सकष्ट प्रतिनियतश्रोतॄणां प्ररूपत इति भेदः, अथ सामान्येन पिण्डस्य निक्षेप उक्तः, अथ तदनुवादपूर्वक तद्विविध तदाह—कृत्वा ऽऽविधाय, चकारोऽवधारणे भिन्नक्रमश्च, निक्षेप पूर्वोक्त, प्ररूपणा—स्वरूपविचारणा, तस्यैव—पिण्डस्यैव निक्षेपस्यैव वा, अवधारणमन्यतो योजित, कर्तव्या—विधेयेति गाथार्थः ॥ ३ ॥ मन्वेतयो को निक्षिप्यते षट्कः इति द्रुम—किं कारणमित्याशङ्क्याह—

कुक्के चउब्भागस्स० ॥ ४ ॥ (भ० २) व्याख्या—कुक्के—चतु सेतिकामपमाणे धान्यमाने, तुशब्दोऽवधारणे स च सम्भव एवेत्येव योज्य, चतुर्भागस्य सेतिकाया सम्भवो विद्यमानता, यथेति शेष इति दृष्टान्तो, अथ दार्ष्टान्तिकमाह—षट्के प्रकान्ते नामादिषट्कनिक्षेपे पूर्वोक्ते चतुर्णां चतुःसङ्ख्यानां नामादीनां निक्षेपस्येति प्रक्रमः, एव तद्वितनियमेनावश्य तथा सम्भवो—विद्यमानता अस्ति—विद्यते यत इति शेष, षट्क पूर्वोक्त निक्षेपेत् तस्मात्त कारणादिति गाथार्थः ॥ ४ ॥ तमेव षट्प्रकार निक्षेपमाह—

नाम ठवणा पिंडो ॥ ५ ॥ व्याख्या—नाम ठवणा पिण्डोत्ति अनुस्वारोऽलाक्षणिकत्वान्नामस्थापनापिण्डः, तथा दवेति सूचनाद् द्रव्यपिण्डः, एव क्षेत्रे क्षेत्रपिण्डः, चकारः समुच्चये, तथा कालभावे—कालपिण्डो भावपिण्डश्च, चकारः पूर्ववत्, अथ षट्प्रकारोऽपि वक्ष्यमाणस्वरूपः, एष एवानन्तरोक्त एव, सङ्करवधारणे योजित एव, पिण्डस्सइति पिण्डस्य पिण्डशब्दस्य, निक्षेपः पूर्वोक्तार्थ, षड्विधः—षट्प्रकारः, भवति—जायत इति अक्षरार्थकमतिपादकगाथार्थं ॥ ५ ॥ नामपिण्डस्य व्याख्यानाय स्थापनापिण्डस्य तु सम्बन्धनायाह—

गोण्णं समयकयं वा० ॥ ६ ॥ व्याख्या—गौणं—यथार्थं; नामेति सर्वत्र प्रक्रमः, तथा समयकृतं—सिद्धान्तविहितं, वाशब्दः—समुच्चये, तथा यत्किमपि, वाअपिशब्दौ समुच्चयार्थौ ताभ्यां, भाष्यकारो "गोन्न समयाइरत्त "(भा० गा० ६)मित्यादिगाथयोभयातिरिक्तं चतुर्थं वक्ष्यति, तद् भवेत्—स्यात्, तदुभयेन गौणं समयकृताख्यद्वयेन कृतं—विहितं तदुभयकृतमिति भावः, एवं सामान्यतश्चतुर्विधं नामोक्तम्, इह तु नामपिण्डो भणनीयः, स च नाम्नां पिण्डत्वे सति घटते, तानि तु वर्णरूपतयोच्चरितप्रध्वंसित्वेनाविद्यमानानि, पिण्डत्वे तु परमाण्वादित्रयप्रभृतिकसङ्घातलक्षणं पूर्वमुक्तं, तच्च विद्यमानस्यैव पदार्थस्य घटते इति प्रत्यासत्या नामनामवतोरैक्यात्तच्छब्देन प्रभूतपरमाणुसंघातनिष्पन्नशरीरो विद्यमानः शृङ्गिप्रभृतिको नामवत् पदार्थो गृह्यत इति, तत शृङ्गिप्रभृतिकं द्रव्यं ब्रुवते—कथयन्ति, पूर्वाचार्या इति शेषः, नामपिण्डं—नामपिण्ड इति ध्वनेर्वाच्यं, एतेषां चतुर्णामपि मध्याच्चरमं व्यापकं यादृच्छिकत्वादित्युत्तरत्र सर्वत्र नामैषणादिषु सामान्यत इदमेव ग्राह्यं, स्थापनापिण्डं वक्ष्यमाणार्थं, अत एव तस्माद्गुणनादूर्ध्वं वक्ष्ये—अभिधास्य इति गाथा पर्यन्तपादस्य "अरूये" (गा० ७) त्यादिकया वक्षमाणया सप्तमगाथया योग इति गाथार्थः ॥ ६ ॥ भावार्थं तु भाष्यकारो यथावसरं वक्ष्यति, तत्र सामान्यतो नामनिरूपणायामाद्यनामविवरणाय भाष्यकार एवाह—

गुणनिप्फन्नं गोण्णं० ॥ भा० १ ॥ व्याख्या—गुणनिष्पन्नं मत्वर्थेन सिद्धं गौणं—गौणाभिधानं नाम, तस्याऽपि संज्ञान्तरमाह तं चेवत्ति तदेव गौणमेव, यथार्थं—घटमानव्युत्पत्तिकं, अत्थन्नी इति, अर्थविदस्तीर्थकरादयः, अर्थविद्भिः प्ररूपितोऽर्थोऽवितथतया लोके आदेयः स्यादिति तद्ग्रहणं, ब्रुवते—वदन्ति, तच्च गौणं चतुर्द्धा, तद्यथा—द्रव्यनिमित्तं जातिनिमित्तं गुणनिमित्तं क्रियानिमित्तं चेति, तत्र द्रव्यं शृङ्गादिकं, तदेव निमित्तं शृङ्ग्यादिरूपाभिधानप्रवृत्तौ हेतुर्यत्र तद्बलीवर्दादिवाचिक शृङ्गीत्यादिकावर्णावली, एवमुत्तरत्रापि, केवलं जातिमा-

समादिका', गुणः शुक्लादिकः, क्रिया तपःकरणादि पिण्डनादिरूपा, तत्र यथान्तपिण्डस्य नामान्तरावतरिष्यतीति, प्रथानमेतद्विविस्यापनार्थं, सामान्यगौणनामविषय क्रियानिमित्तं भेदमाश्रित्योदाहरणमाह–तद्गौणं नाम, पुनः शब्दो विशेषणे, विशेषणस्य च सर्वत्र पूर्ववाक्यार्थाऽपेक्षयोत्तरवाक्यार्थो ज्ञेयः, तपतीतिक्षपण तपःकर्मेत्तद्वाचक नामक्षपण इति वर्ण्यावली, [redacted] तप करणादिरूपा क्रियानिमित्तम्, एवमुत्तरत्रापि भावनीय, ज्वलतीति ज्वलनो विश्वानर, तपतीति तपनो रविः, पवत इति पवनो वायुः, प्रदीप्यत इति प्रदीपो दीपकलिका, चकारोऽन्येषां स्वजातीयानां भेदानां समुच्चयार्थः, एतानि तु यूथप्रभृतिकनामानि येष्वेव ज्वलिवह्न्यादिष्वाकारभूतेषु भणितानि तेष्वेव स्थितानि तत्प्रमितानि सकलाभिधानानि गौणानि स्यु:, अन्वर्थसंज्ञात्वेन एतानि स्वात्मानिमापकत्वेनोभयातिरिक्तानि भवन्ति, एव समयकृतमनुभयकृतान्यपि ज्ञेयानीति गाथार्थः ॥ १ ॥ एवं सामान्येन गौणं नामाभिहितमथ प्रकृत पिण्डमाश्रित्य गौणं समयकृतं च तदेवाह—

पिण्डण बहुदव्वाणं० ॥ गा० २ ॥ व्याख्या—पिण्डयति पिण्डन–मीलनमनुस्वारलोपः पूर्ववत्, बहुद्रव्याणां त्रिप्रभृतिसेवाविवस्तूनां कठुकादि तथा सजातानां मीण पिण्डः, स्यादिति शेषः, प्रभूतानां द्रव्याणां मीलने यत्पिण्ड इति नामैतद् गौणमित्यर्थः, तथा क्रियानिमित्तं पिण्डनलक्षणक्रियया निष्पन्नत्वात्, तथा प्रतिपक्षेणाप्येवविधद्रव्याणां मीलनव्यतिरेकेणाप्यप्रतिपक्षेण स्यादेवेत्यपि तदर्थं, यत्र विक्लेदकादौ पिण्डाख्या–पिण्डप्रसिद्धिः स्यादित्यत्रोत्तरम च शेषः, स एवंभूत, समयकृतः–सिद्धान्तविहितः पिण्ड –पिण्डाख्यः पदार्थः स्यात्, तस्य समयकृतत्वं दर्शयन्नाह–यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थं, समय्–आगमस्–वाक्यं, किं तदित्याह 'पिण्डपडियाई (इति)' सूचनात्सूत्रमितिन्यायात 'पिण्ड' इत्यनेन पिण्डपात इति एकदेशः 'पडिय' इत्यनेन तु पडियाए इति द्वयोर्मिलितयोः पिण्डवायपडियाए इति जातम्, अनेन च सूत्रस्य मध्यभागवर्तिना खण्डेन "तुलादण्ड"न्यायेन

सकलमथाचाराङ्गद्वितीयश्रुतस्कन्धसक्तपिण्डैषणाभिधानप्रथमाध्ययनसक्तसप्तमोद्देशकस्थितं सूत्रं गृहीतं, आई इत्यादि शब्दतयाऽस्यैव च सूत्रस्य अन्तो योज्यः, तच्चेदं "सेभिक्खू वा जाव समाणे से जं पुण पाणगं जाणिज्जा, तंजहा तिलोदगं वा तुसोदगं वे"त्यादि, इह द्विकेन भिक्खुणी चेति सूचितं, यावत् शब्देन तु "गाहावइ कुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठे" इति सूचितं, आदिशब्दात्तत्रेत्यादीनां "से भिक्खू वा २ जाव समाणे जं पुण पाणगजायं जाणिज्जा, तंजहा उस्सेइमं चे"त्यादि सूत्राणां सङ्ग्रहः, एतेषां च व्याख्या प्रस्थानतो ज्ञेया, केवलमेतैः पानकस्याऽपि पिण्डसंज्ञोक्तेति गाथार्थः ॥ २ ॥ तदुभयमाह—

जस्स पुण पिंडवाय ॥ भा० ३ ॥ व्याख्या—यस्य कस्यचित्पुनर्गुडौदनपिण्डस्येति योगः, पिण्डपातार्थाय—आहारनिमित्तं प्रविष्टस्य—गतस्य साधोर्गृहिगृहमिति सामर्थ्यगम्यं, भवति—जायते सम्प्राप्ति—लाभः, कस्य सम्बन्धिनीत्याहः—गुडओयणपिण्डेहिंति विभक्तिवचनव्यत्ययाद्गुडौदनपिण्डस्य गौरयगुणवद्द्रव्यविशेपकूरादिकस्य, उपलक्षणत्वात्सक्तुपिण्डादिग्रहः, तौ गुडौदनपिंडं तदुभयपिण्डं गौणसमयकृतपिण्डं "पिंडण बहुदव्वाणं" (भा० २) इत्यनेन गौणे त्वस्यागमप्रसिद्धत्वेन तु समयकृतत्वस्य च घटनाद् उक्तवन्तः—तीर्थकरादय ऊचुः, इहान्यथाभ्याहृतः पिण्डः स्यादिति, गृहिगृहप्रविष्टस्येत्युक्तं, तत्रापि प्रवेशः प्रायोऽन्येन निमित्तेन क्रियमाणो ब्रह्मचर्ये भेवादिदोषकरः स्यादिति पिण्डपातार्थायेत्युक्तं, यद्वा यस्य साधोः, पुनः शब्दो भिन्नक्रमः, पिण्डपातार्थाय प्रविष्टस्य भवन्ति सम्प्राप्तिः गुडौदनपिण्डस्य, तंति इह तदुभय पिण्डो भणनीयः, स च गुडादिपिण्डस्यैव घटते न साधोरिति पिण्डपिण्डवतोरैक्यात् साधुना लब्धं गुडौदनपिण्डं, पुनः २ शब्दोऽन्त्यो योजितः, शेषं पूर्ववदिति गाथार्थः ॥ ३ ॥ उभयातिरिक्तमाह—

उभयाइरित्तमहवा० ॥ भा० ४ ॥ (प० ३) व्याख्या—उभयातिरिक्तं—गौणसमयकृतरूपद्वयाद्भिन्नं, अथ चेति नामान्तरयो-

वक्र', अन्यपदार्थमित्यर्थः, अपिशब्दः पुनरर्थो वाक्यालङ्कारे, भवति-विद्यते, लौकिक-लोकरूढ नाम-अभिधान, आत्मनो नाम मातृपित्रादेरभिप्रायेण यथैतस्य बालस्यैतत्सिंहकादिनामधातव्यमिति, मनोभिसन्धिनाकृत-विहित यथा, तदेवोदाहरणेन समर्थयन्नाह यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थे, सिंहकदेवदत्तादिवदस्य पत्रदत्तादेर्नाम्नस्तथात्व हि युक्तं पित्रादिभिः सिंहको देवदत्तो वेति नाम दत्तमपि, न तस्य हिनस्तीति सिंहक इति, संस्कृतलक्षणमात्रेण ककारेण नाद्य प्राकृतलक्षणमात्रेण तु सिंह इति स्यात् एमन्यत्रापि ककारो ज्ञेयः नापि देवा एन देयासुरिति देवदत्त इति वान्यर्थो नियमेनऽस्ति, तथाभूतस्यापि तथाभूतनामधानादिति, न तावद्गौण नापि समयकृतं समये भरूढत्वात्, नापि तदुभय गौणसमयकृतत्वयो पृथग्निर्दिष्टत्वेनाविद्यमानत्वात्, किं तर्हि ?, गौणसमयकृतोभयलक्षणहीनत्वेनोभयातिरिक्तमवसेयमुच्यतेति नाम्न, कस्यचित् पुनर्धर्मवानतया सुरैर्दत्तमङ्गीकृत्य 'देवदत्त' इति नाम्नो गौणत्व संभवतीति तदपेक्षया गौणं, किमिति नोभयता ? इति उच्यते, न नामवाच्युरित्य विवक्ष्या भवति, नव भवति तर्हि नामिकत्वेन नेवाद्विवक्षितम्, एव पत्रदत्तादिष्वपि भावनीयमिति गाथार्थः ॥ ४ ॥ आह नेव " गोण्ण समये " (गा० १) इत्यादि निर्युक्तिगाथायामुपात्तमिति कुतो भाष्यकृताकृतमिति ?, उच्यते नोपात्तमित्यसिद्ध, " तवि " (गा० १) शब्दाभ्यां तत्र सूचितत्वात्, तथा चाह भाष्यकार —

गोण्णसमयाइरित्त० ॥ भा० ५ ॥ व्याख्या—गौण पूर्वोक्त, समयति प्रवचनात्समयकृतं पूर्वोक्तमेव तयोरतिरिक्त-भिन्न-उभयातिरिक्तमन्यमित्यर्थ, इद युक्त सिंहकादिकमप्राप्त वा हिन्नरूप द्वयोरप्यभ्यासाभिधायकत्वेन तुल्यत्वात्, अन्यपदार्थमित्यर्थ, शास्त्रसूचित-चा अपिभ्यां ज्ञापित, नामा-अभिधान ज्ञातव्यमिति शेष, भाष्यकृदभिधानामेवायोदाहरणमाह-यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः, पिण्डउचि इति पिण्डयतीति पिण्ड इत्येवं क्रियते-विधीयते, कस्यचिच्चित्तस्य नाम-अभिधान मनुष्यस्य-मानवस्य, मनुष्यग्रहण

सर्वस्यापि सचित्तादिवस्तुन उपलक्षणार्थम्, एवं वाऽनन्तरोक्त्या सहास्या गाथायाः पुनरुक्तताऽपि पराहता भवन्ति, यद्यपि हि प्रायो द्वेऽपि गाथे समानार्थे, तथाप्याद्या क्रमायातस्योभयातिरिक्तस्य प्रतिपादिका, द्वितीया तु निर्युक्तिगाथायां नोपात्तेति, तस्यापि परेणाऽविद्यमानतायां शङ्कितायामुत्तरदायिकेऽन्यकर्तृकीयमित्यन्ये, तत्र न पुनरुक्तायामपि कश्चिद्दोषः, केवलमस्याः पातनायामथवा सा इति गाथार्थः ॥ ५ ॥ ननु समयकृतस्य लौकिकस्य च नाम्नः संज्ञात्वेन निष्पन्नत्वान्नास्ति विशेषः, किमिति भेदेनोक्ते ते ? इति, उच्यते तदुत्पादकयोः समयलोकयोः स्वभावभेदेन तयोरप्युत्पाद्ययोर्भेदो विवक्षित इति, अथ कस्तयो स्वभावभेद इत्यत आह—

तुल्लेऽवि अभिप्पाए० ॥ गा० ६ ॥ व्याख्या—तुल्येपि-सामान्येऽप्यतुल्ये न गृह्णात्येवेति अपि शब्दार्थो, यथा तीर्थकरे शंकर इति नाम, सामायिकानां हि शं करोतीति शङ्करः, ऐहिकामुष्मिकसुखजनकलक्षणक्रियानिमित्तत्वात्, क्रियानिमित्ताख्यं गौणं नामेदमित्यभिप्रायः, लोकस्य तु तीर्थकरस्याप्यनभ्युपगमात् प्राकृतपुरुषादावप्येतन्नामश्रवणाच्च, संज्ञानामेदमित्यभिप्रायतुल्यता, अभिप्राये नामनिष्पत्तेः कारणभूते संज्ञाकरणलक्षणे उभयेषामपि मनोविकल्पे सामायिकैर्हि समयकृतं, लोकेन तु लौकिकं संज्ञाकरणलक्षणमेकमेव निमित्तमाश्रित्य नाम दत्तमित्यर्थः, समयप्रसिद्धं-सामायिकैः कृतमित्यर्थः, यथा समुद्देशादिकं भोजनदेवादिकं नाम न गृह्णाति-व्यवव्यवहारविषयी न करोतीत्यर्थः, सर्वविस्त्वाभावाद्विवक्षयाऽपि सर्वगताङ्गीकाराभावाच्च, लोकः-पृथग्जनः किमपि पुनर्लोकप्रसिद्धं-पृथग्जनख्यातं तन्नाम सिंहकादिकं पुरुषदेवादिकं सामायिका-गणधरादयः उपचरन्ति-व्यवहारविषयं कुर्वन्ति, सर्वविस्त्वाभावाद्विवक्षया सर्वमताङ्गीकारभावाच्चेत्यनयोः स्वभावभेद इति गाथार्थः ॥ ६ ॥ उक्तो नाम पिण्डः, अथ " गोन्नं समयकयं " (गा० ६)चेत्यादि गाथायां " ठवणापिण्डं अओ वोच्छं " इति चतुर्थपादोद्दिष्टं स्थापनापिण्डमाह—

अक्खे वराडए वा० ॥ ७ ॥ व्याख्या—अक्षेति अक्षे चन्दनके पिण्डत्वेन स्थापित इति शेष, जातित्वादेकवचन, एव-मुत्तरत्रापि सद्भावमसद्भाव चाश्रित्य स्थापनापिण्ड विजानीहीति योगः, तथा वराटके—कपर्दके वाशब्दोऽङ्गुलीयकादेः समुच्चयार्थ, तथा काष्ठे दण्डकादौ, तथा पुस्तेति उल्लिकादौ, चशब्दः समुच्चये, स चासद्भाव चेत्येव योज्य, चित्रकर्मणि—चित्रलिखितपुत्तलिकादौ, वा शब्दो लेप्योपलयो समुच्चयार्थः, तत्र लेप्य—मृन्मयप्रतिमादि, उपल—पाषाणप्रतिमादि तस्मिन्, सद्भावति सतोऽक्षादित्रिकप्रभृतिसद्भा-तेनाऽऽकृत्या स्थाप्यमानस्य पिण्डस्य विद्यमानस्य भावोऽस्तित्वमिति हृदयमिति, सद्भावोऽक्षादित्रिकप्रभृतिसद्भावरूपपिण्डस्याऽऽकृतिः, यद्वा सद्भावो विद्यमानश्चासौ भावश्चाऽक्षादित्रिकप्रभृतिसद्भावत्वेनाऽऽकृत्या स्थाप्यमान पिण्डरूप पदार्थः, स पूर्वोक्तैव पिण्डस्याऽऽकृतिस्त, तथा असद्भावेति एकारस्य द्वितीयैकवचनार्थत्वात्सद्भाव, पूर्वोक्ताया आकृतेरभावात्पिण्डस्याऽनाकृति, उक्त च "लेप्पगहत्थीहिथति एस सब्भाविया भवे ठवणा होइ असब्भावे पुण हत्थित्ति निरागई अक्खो ॥ १ ॥" इत्यादि, त आश्रित्येति शेष, स्थापन-स्थापनेत्यक्षादौ पिण्डोऽयमिति अध्यारोपस्तया पिण्ड स, यद्वा विषयविषयिणोरैक्यात् स्थापनाया विषयभूतोऽक्षादिरेव स्थापनेति, स्थापना चासौ पिण्डश्च स, स्थाप्यत इति स्थापनेति, पिण्डोऽयमिति विकल्पितोऽक्षादिरेव समासोऽनन्तरोक्तोऽवस्थाप्यतेऽस्मिन्निति स्थापनेति, पिण्डोऽयमिति मनोविकल्पस्य विषयभूतोऽक्षादिरेव समासोऽनन्तरोक्तत, विजानीहि—बुध्यस्वेति गाथार्थ ॥ ७ ॥ अत्रैव विषयविभागमाह—

इक्को उ असब्भावे० ॥ भा० ७ ॥ व्याख्या—एक केवलोऽक्षो वराटकोऽङ्गुलीयकादि, वेति चित्रादीनां पारिशेष्याल्लभ्यते—पिण्डत्वेन स्थापित इति प्रक्रम, तुसन्दसमये व्याख्यास्याम, असद्भावे पूर्वोक्ते, आकृतेरभावात्परमाणावयवस्तु न विवक्षिता, स्थापना-पिण्ड इति सर्वत्र प्रक्रमः, भवतीति सर्वत्रयोग, तथा त्रयाणां—त्रिसङ्ख्यानां प्रत्येक प्रक्रान्तानामक्षकपर्दाङ्गुलीयकादीनामभ्यात,

तुशब्दस्तेषामेकत्र मिलितानामेवेति विशेषणार्थोऽत्र (प० ४) योज्यः, त्रिग्रहणं–सर्वजघन्यसद्भावस्थापनापिण्डत्वस्य प्रतिपादनार्थं, तेन चतुरादीनामपि तेषां तत्स्यादेव, स्थापनात् पिण्डत्वेन न्यासः, पुनर्भवति–वर्त्तन्ते सद्भावे सद्भावस्थापनापिण्ड आकृतेर्भावात्, तथा चित्रेषु प्रभृतेष्वपि चित्रपुत्तलिकादिषु पिण्डतया स्थाप्यमानेषु, असद्भावेऽसद्भावस्थापनापिण्ड आकृतेरभावाद्वर्णपरमाण्वादयस्तु न विवक्षिताः, तथा दारुअलेप्पोवलेसियरोत्ति दारुकग्रहणस्य पुस्तोपलक्षणार्थत्वाद्दारुकपुस्तलेप्योपलेषु पूर्वोक्तेषु, इतरः–सद्भावस्थापनापिण्डोऽक्षाद्यपेक्षया आकृतेर्भावात्, ननु द्वयोरक्षादिकायाः का वार्त्तेति उच्यते, पिण्डः सिद्धः सन्नक्षादिष्वसन् स्थाप्यत इति स्थापनापिण्डः, स च येन पिण्डैकार्थिकानां मध्ये युग्मशब्देन भारुण्डयोः पिण्डैकार्थिकत्वमुक्तं, येन च तेनैव राशिरुक्तास्तेनाभिप्रायेण " तिण्हं ठवणा उ होइ सब्भावे " इति वचनाच्चासद्भावस्थापनापिण्डत्वमेव, येन त्वक्षादि युग्मस्य पिण्डैकार्थिकत्वमुक्तं तेनाभिप्रायेण " एक्को उ असब्भावे "

इति वचनाच्च तयोः सद्भावस्थापनापिण्डत्वमेवेति मतभेदेन द्वेऽपि स्थापने स्तः, यद्वा मतभेदं विना द्वेऽपि ते, तथाहि एकको द्विकर्तृक-इति सङ्ख्याक्रमः, तत्र च द्विको मध्ये एककर्तृको तु पार्श्वयोर्जातौ, तत्राप्यक्षादिविषयेणैकेनासद्भावस्थापनापिण्डस्तद्विषयेण त्रिकेन तु सद्भावस्थापनापिण्ड उक्तस्तद्विषयद्विकस्तु ग्रन्थिरिव डमरुकस्योभयपुटे–उभयपार्श्ववर्त्त्येकत्रिकलब्धे असद्भावस्थापनापिण्डत्वे स्पृशति, द्वाभ्यामपि संस्थाप्यत इत्यर्थः, प्रायिकमिदं मतं, अन्ये त्वाहु–निर्युक्तिकारवचनमेव प्रमाणं, किं युक्तिभिस्तेन च "एक्को उ असब्भावे" इत्यादि सूत्रेण स्थापनोक्ता, तत्र द्वयोस्तयोरेकाऽपि सा नोक्तेत्येकाऽपि न स्यात्, दृश्यते चान्यत्रापि सतोऽप्यविवक्षा, यथा–एकः सन्नपि गणनां न याति, द्वौ जघन्यं सङ्ख्यानमिति, इहौघनिर्युक्तिप्रभृतिग्रन्थाभिप्रायेण तु विवक्षावसतोऽक्षादीनां पृथग् द्वेऽपि स्थापने स्यातां, यथा–यदैकैको अक्षादिश्चित्रे त्वेकं रूपकं पिण्डत्वेन स्थाप्यते तदा सद्भावस्थापनापिण्डो, यदा तु नान्येव त्र्यादीनि

स्थाप्यन्ते तदा सद्भावस्थापनापिण्ड इति गाथार्थः ॥ ७ ॥ उक्तः स्थापनापिण्डः, अथ द्रव्यपिण्डस्यावसरः, स च आगमतो नोआगमतश्च द्वेधा, तत्राऽऽगमतः पिण्डशब्दार्थज्ञस्तत्रानुपयुक्तः प्राणी, नोआगमतस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तभेदात् त्रिधा, तत्र ज्ञशरीरद्रव्यपिण्डः—पिण्डशब्दार्थज्ञस्य प्राणिनो विगतजीवितं शरीरं, भव्यशरीरद्रव्यपिण्डस्तु यः पिण्डशब्दस्यार्थं साम्प्रतं न जानात्यग्रे तु सम्भाव्यते ज्ञास्यतीति स बालादिर्भण्यते, अथ तद्व्यतिरिक्तं द्रव्यपिण्डमाह—

तिविहो उ दव्वपिंडो० ॥ ८ ॥ व्याख्या—त्रिविधः—त्रिधा तुशब्दः पुनरर्थो भिन्नक्रमश्च, स्यादिति शेषः, द्रव्यपिण्डः व्यत्युक्रमश्चादि, पुनःशब्दो यथोक्तः, तत्सम्बोधनेन, यथा—सद्भावाऽसद्भावभेदात् स्थापनापिण्डो द्विविध उक्त, द्रव्यपिण्डः पुनस्त्रिविध इति, त्रैविध्यमेवाह—सचित्तोऽपि सचित्तेन—चैतन्येन वर्तत इति सचित्तः, पवनस्य द्विकविकल्पत्वात्, सचित्तो—विद्यमानं चित्तं यस्य स सचित्तः—सजीवः, तथा मिश्रकः स जीवाजीवरूपः, चकारः समुच्चये, तथा अचित्तोऽपि चकारस्य पूर्ववद्विभाव इत्यचित्तो—निर्जीवः, पृथिव्यादिद्रव्यं पूर्वं सचित्तस्यात्र, स्वकायपरकायादिभिः शस्त्रीक्रियमाणं कियन्तं कालं मिश्रं, ततोऽचित्तमित्येष क्रमः, तत्र चैकैकस्य—भिन्नभिन्नभेदस्य, चशब्दः—पुनरर्थो, भिन्नक्रमश्च, एकोऽपि एतेभ्यः पुनः सचित्तादिभ्यो मध्यात्, पुनः २ शब्दो विशेषणार्थोऽत्र योजितः, नव नवेति वीप्सायां, सङ्ख्या भेदाः प्रकारा वक्ष्यमाणाः, स्युरिति शेषः, इति मिलिताः सप्तविंशतिः भेदाः, तुशब्दः सचित्तादिभेदाविवक्षणेन सामान्यतः पृथ्वीकायादीनां नवानामपि द्विकादिसंयोगे सम्भूतैरपि जातिनिर्देशादेको मिश्रकपोऽष्टाविंशो भेदोऽस्तीतिकथनार्थः, वक्ष्यति च "अह मीसउ पिण्डो" इत्यादि, प्रत्येकं पृथक् पृथगिति गाथार्थः ॥ ८ ॥ भेदानेवाह—

पुढवी आउक्काओ० ॥ ९ ॥ व्याख्या—पृथिवीपृथक्त्वः शर्करादिः कृपणकादिश्च, तथा तेऊ वाऊ वणस्सई' इति कायशब्दानुवृत्ते-

स्तेजस्कायः—अङ्गारादि, वायुकायः—तनुवातादिर्वनस्पतिकाय आम्रादिः, चेवशब्दः समुच्चये, तथा बेइंदियतेइंदियत्ति विभक्तिलोपाद् द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियाः शङ्खादयः कीटिकादयश्च, एवं चउरोत्ति, सूचनाच्चतुरिन्द्रियाः भ्रमरादयः, तथा पञ्चेन्द्रिया गवादयः, चेवशब्दः पूर्ववत्, नवमा ज्ञेया इतिशेषः, इतिद्वारनवकप्रतिपादकगाथार्थः ॥ ९ ॥ तत्र पृथ्वीकायपिण्डमाह—

पुढविकाओ तिविहो० ॥ १० ॥ व्याख्या—पृथ्वीकायः पूर्वोक्तस्त्रिविधः स्यादिति सर्वत्र शेषः, यथा—सचित्तः, मिश्रकः, चकारः समुच्चये, अचित्तः त्रयोऽपि प्रतीताः, तत्र सचित्तः पुनराद्यः, पुनःशब्दो विशेषणे, द्विविधो—द्विधा, कथम् ?, इत्याह—निच्छियत्ति सूचनान्नैश्चयिकः सर्वथा सचित्तः, तथा व्यावहारिकः सम्भाव्यमानचेतनांशः, चेवेति समुच्चय इति गाथार्थः ॥ १० ॥ द्विविधमपि सचित्तपृथ्वीकायमाह—

निच्छयओ सच्चित्तो० ॥ ११ ॥ व्याख्या—निश्चयतः शीताद्यलगनादविसंवादितया सचित्तः प्रतीतः, पृथिवीकाय इति प्रक्रमः, स्यादिति सर्वत्र शेषः, पृथिव्यो—घर्मादयो महापर्वताः—मेर्वादयः, तेषामुपलक्षणत्वाद्धङ्कादिग्रहः, बहुमध्येऽभ्यन्तर्गर्भे, अचित्तमिश्रौ प्रतीतौ, तद्वर्ज्जः—तद्रहितः सः, सेसोत्ति पुनः शब्दलोपाच्छेषः पुनः कूटशैलनिराबाधारण्यप्रभृतिषु स्थितः, पुनः व्यवहारसचित्तो लोकानुसारितयाऽभिप्रायेण सजीव इति गाथार्थः ॥ ११ ॥ उक्तः सचित्तः पृथ्वीकायो, अथ तमेव मिश्रमाह—

खीरदुमहेट्ठ पन्थे० ॥ १२ ॥ व्याख्या—खीरदुमहेट्ठत्ति अन्ते एकारलोपात् क्षीरद्रुमाधो—वटोदुम्बरादीनां तले, तत्र हि क्षीरद्रुमाणां माधुर्येन शस्त्रत्वाभावात्सचित्तः, शीतादिशस्त्रभावाच्चाचित्त इति मिलितो मिश्रः, तथा पथे—मार्गे, तत्र हि गन्त्रिकाचक्रादिभिः सचित्त उत्खन्यते, तन्मध्यात् कियान् शीतादिभिरचित्तीक्रियत इति मिश्रः, तथा कृष्टार्द्रो हलविदारितः सजलश्च पृथ्वीकायः, तत्र कृष्टे

पथी च मियता सचित्तपृथ्वीकायस्योपरि मेघेन वर्षता च कियान् विराध्यते यावज्जलस्थिर्ति न बध्नाति तावन्मिश्रस्थिति कथ्ये तु सचित्त स्यादिति सम्भाव्यते, तथा इन्धने–गोमयादिके, इन्धने हि निक्षेतव्ये, पृथ्वीकाय तु सचेतनस्तत्र कुम्भकारादिनेन्धने स प्रक्षिप्तः संस्तेनेन्धनेन परिभ्रम्यमानो यावत्तथापि सर्वथा परिणमति तावत्, चकारः समुच्चये, मिश्रः भवति, स्यादितिशेष, तुशब्द समुच्चये, (प० ५) स च पौरुषीत्रिकं तिस्रैवं योज्या, इन्धनमाश्रित्य कालनियममाह–पोरिसिसिति विभक्तिलोपात् पौरुषी प्रहरं एकांपि भन्ते हृस्वत्वं विभक्तिलोपश्च इत्येतां केवलां, तथा दुगपि चत्रोत्तरत्र च पौरुषीत्यनुवर्तते अनुस्वारलोपाच्च पौरुषीद्विकं भवितं, एवं तिगपि पौरुषीत्रिक, "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोग" इत्यनेन यावच्छब्दाभ्याहाराद्वा द्वितीया, एवमुत्तरत्रापि, कर्ममूत्र सङ्कम च ?, बहु इन्धनपि विभक्तिलोपाद्बहु–प्रचुरमिन्धन पूर्वोक्त यत्र सोऽर्थापत्त्या स्तोकः सचित्तपृथ्वीकाय , एव मध्यपि विभक्तिलोपात्रोत्तरत्र चैवमन्तकचानुपूर्व्येण मध्येन्धनः भवति, एव थोवेपि स्तोकेन्धनः भवति, चतुष्पर्यन्तेन स्यात्, चकारः समुच्चय इति गाथार्थः ॥ १२ ॥ कथमित्थं पृथ्वीकायोऽचित्तमेवाह—

सीउण्हखारखित्ते ॥ १३ ॥ व्याख्या—शीतोष्णक्षारक्षेत्रेणेत्यर्थ , एवमुत्तरत्रापि, तत्र शीत भवति, उष्ण ताप, क्षारः तिलक्षारादि , क्षेत्र क्षारभेदविशेषः, तथा अग्गीलोणूसअंबिलेहि अग्निलवणोषाम्ल इति, तत्राग्नि विश्वानरो, लवण भवितं, ऊष उखरक्षेत्रोत्पन्नो रजो विशेषः, आम्ल काञ्जिकादि, तथा नेहे तैलादौ, अत्र शीतोष्णान्याम्लक्षारस्नेहा परकायशस्त्रमित्यादिद्वसंयोजना कार्या , अनेनान्यान्येऽपि स्वकायपरकायशस्त्राण्युपलक्षितानि, यथा परवर्णस्यापरवर्ण्य इत्यादि, किमित्याह–व्युत्क्रान्तयोनिकेन–गतजीवोत्पत्तिस्थानेन प्रासुकेनेत्यर्थः, इह किल पृथ्वीकायो द्रव्यत क्षेत्रत कालतो भावतश्चेति चतुर्धा प्रासुक, तत्र शीतादेः स्वकायपरकायशस्त्रैर्द्रव्यत प्रासुक उक्त , तेन च

क्षेत्रतः(क्षेत्र)प्रभृति प्रासुकोऽप्युपलक्षितो ज्ञेयः, तत्र क्षारादिक्षेत्रोत्पन्नस्य मधुरादिक्षेत्रोत्पन्नस्य चान्योन्यं मीलनेन क्षेत्रतः प्रासुकः, यदि त्वपरेण पृथ्वीकायेन सह न मील्यते किंत्वन्यत्र क्षेत्रे नीत्वा ध्रियते, तदानीं सर्वोऽपि सर्वस्मात् क्षेत्रादानीतो योजनशतादूर्द्ध्वं भिन्नाहारत्वेन शीतादिना च प्रासुकीस्याद्, एवं यावद्धरीतक्यादिका वनस्पतयः स्वायुःक्षयेण विनष्टः कालतः प्रासुकः, स चातिशयज्ञानिनैव सम्यग् ज्ञायते, तथा भावाः–कृष्णादिवर्णपञ्चकं तिक्तादिरसपञ्चकं सुरभ्यादिगन्धद्विकं गुर्वादिस्पर्शाष्टकं च, तत्र स्वकायशस्त्रादिभिरपरवर्णः सन्नपरवर्णो यः स्यात् स लक्षणभावेन प्रासुकीस्याद् इति भावतः प्रासुकः, एवं रसगंधस्पर्शेष्वपि भावनीयम्, अत्र वर्णादिभिश्चतुर्भिरप्यन्यथा भावं गतस्तावत्प्रासुको भवति किं तर्हि ? त्रिभिर्द्वाभ्यामेकेनापि भवत्येवेति वृद्धाः, प्रयोजनं–कार्यं, जातित्वादेकवचनं, तेन पूर्वोक्तपृथ्वीकायेन इदं–अनन्तरमेव वक्ष्यमाणत्वेन प्रत्यक्षं भवति–जायत इति गाथार्थः ॥ १३ ॥ प्रस्तावितमेव प्रयोजनमाह—

अवरद्धिगविसबंधे० ॥ १४ ॥ व्याख्या—अपराद्धं–पीडाजननरूपोपराध इति केचिदपराधिको–लूताफ्फोटकः सर्पादिदंशो वा विषं, मधुरंवद्धप्रभृतिषु चारितं स्यात् तयोर्दाहोपशमनाय बंध इव बन्धः प्रलेपस्तस्मिन् केदारतरिकादिनेति शेषः, प्रयोजनं भवतीति सर्वत्र प्रक्रमः, यद्वा लवणेन प्रतीतेन अलवणभक्तभोजनादिषु, वा-विकल्पे, यद्वा सुरभ्युपलकेन–गन्धारोहकारव्यसुगन्धपाषाणेन, तेन हि पानाद्यपानोदः क्रियते, वा-विकल्पे, एते सर्वेऽपि पृथ्वीकायरूपाः, नन्वपराधिकादिभिः कारणैः केदारतरिकादिकस्य पृथ्वीकायस्य यद् ग्रहणमनुज्ञातं तत्सचित्तादित्रिकस्य मध्यात् कतरस्य विधेयम् ?, इत्याशङ्क्याह–अचित्तस्य–निर्जीवस्य, तुकारः पुष्टालम्बनेनैव सचित्तस्यापि प्रस्तुतेन पृथ्वीकायेनोपलक्षितस्य षट्जीवनिकायस्य परिभोगो विधेयः, न यथा कथंचिदिति विशेषयति, ग्रहणं–आदानं साधुनेति प्रक्रमः, कार्यमिति शेषः, आह–अनन्तरोक्तगाथायाः पश्चार्द्धेनैतानि अपराद्धिकप्रयोजनान्याक्षिप्तानि, यस्मिंस्तु "वक्कंतिजोणिएण"मिति विशेषणं

पृथ्वीकायस्य कुत तिष्ठति, तेन तु सोऽचित्त एव मन्यत इति, गुरुरौ योऽप्यरादिकाशिपयोगनेषु केदारतरिकादिकस्य पृथ्वीकायस्याचित्त स्यैव ग्रहणं विधेयमिति कथं, किमचित्तस्य तु ग्रहणं कृतं ? इति उच्यते, उत्सर्गतो भणिना पृथ्वीकायेनोपलक्षितानां षण्णामपि जीव निकायानामचित्तानामेव ग्रहणं विधेयमिति दर्शनार्थं, तत् प्रयोजन–कार्यं तेन पूर्वोक्तपृथ्वीकायेन इदं वक्ष्यमाण, चकार समुच्चये, अन्यदपराधिकायपेक्षयाऽपरे, भवतीति शेष , अत्राऽपि जातिनिर्देश इति गाथार्थं ॥ १४ ॥ प्रस्तावितमेव प्रयोजनमाह—

ठाणनिसीयणतुयट्टण० ॥ १५ ॥ व्याख्या—ठाणनिसीयणतुयट्टणत्ति विभक्तिलोपात्स्थाननिषीदनत्वग्वर्तनमिति, तत्र स्थान–ऊर्ध्वस्थितिर्निषीदन–उपवेशनं, त्वग्वर्तनं–स्वाप , तथा उच्चारादीनां–पुरीषमूत्रप्रभृतीनां, चेव तस्यत्रोपि, पदव्यत्ययात् उत्सर्गः–परित्याग , चैवेति समुच्चये, क्रियत इति शेष , अचित्तपृथ्वीकाय इति प्रक्रम , स चायं स्थण्डिलरूपो ग्राह्य., तथा घुट्टकडगलगलेपः, गृह्यत इति शेष', तत्र घुट्टका–लेपितपात्राणां मसृणीकारकः पाषाण', डगलका –पुरीषोत्सर्गानन्तरमपानप्रोञ्छनपाषाणखण्डरूपा , लेप –भोगपुरपाषाणादिनिष्पन्न तोम्बकपात्रकाभ्यन्तरप्रदानद्रव्य, एमाइत्ति चकारलोपादेवमनन्तरोक्तं स्थानादिकं लेपपर्यन्तं वस्त्वादि –प्रभृतिर्यस्य तदेवमादि, आदिशब्दात्तत्सुपलेपननिमित्तमृत्तिकादिग्रह , प्रयोजनमचित्तपृथ्वीकायेन क्रियते कार्यं बहुधा–अनेकधा , नन्वत्र किमिति सचित्तादिभेदत्रयं प्ररूपित इति ? उच्यते, सचित्तमिश्रपरिहारेणाचित्तेन येन शिष्या प्रयोजनं कुर्वन्ति, तर्हि सचित्तादिकस्य मध्यात् किञ्चिद्भेदद्वयमेव प्ररूप्यतां तृतीयभेदस्तु पारिशेष्याल्लप्स्यत इति ?, उच्यते, शिष्याणामेव सुखावबोधार्थं, पारिशेष्येण हि तस्य भेदस्य सत्क्वानशेषात् सम्यक् शिष्या अवबुध्यन्ते, अथ पूर्ववत् सोपस्थानोऽप्येतनेष्वपि पिण्डेषु ज्ञेय इति गाथार्थं ॥ १५ ॥ उक्त पृथ्वीकायपिण्डोऽप्काय पिण्डमाह—

आउक्काओ तिविहो० ॥ १६ ॥ व्याख्या—इयं " पुढविकाओ तिविहो " इत्यादि गाथे (गा० १०–११) द्वेऽप्कायाभिलापेन व्याख्येयेति गाथार्थः ॥ १६ ॥ " निच्छयववहारओ चेवे "त्यनेनोदिष्टं नैश्चयिकव्यावहारिकाप्कायमाह—

घणउदही घणवलया० ॥ १७ ॥ व्याख्या—घणउदही घणवलया इति घनोदधयो–नरकपृथ्वीनामाधारभूतानि कठिननीराणि, घनवलयानि–तासामेव पार्श्ववर्त्तिवृत्ताकारतोयानि, (प० ६) पूर्वपदेन समासः, पुल्लिङ्गता छन्दोत्था, तथा करगत्ति विभक्तिलोपात्करका घनोपलाः, तथा समुद्ददहाणत्ति समुद्रह्रदानां - जलधिनदानां बहुमध्ये पूर्वोक्ते शीतायलगनात्, चकारः समुच्चयार्थो लुप्तो द्रष्टव्य, अथेति आनन्तर्ये, निश्चयसचित्तः पूर्वोक्तः, अप्काय इति प्रक्रमः स्यादिति शेषः, तथा व्यवहारनयस्य–लोकानुसारिनतस्याऽभिप्रायेणेति शेषः, अगडाई इति 'तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशो'ऽवटादिस्थः कूपवाप्यादिस्थाऽप्कायः, सचित्तः स्यादिति प्रक्रमः इति गाथार्थः ॥ १७ ॥ उक्तः सचित्तोऽप्कायोऽथ तमेव मिश्रमाह—

उसिणोदगमणुवत्ते० ॥ १८ ॥ व्याख्या—उष्णोदकं–अग्नितापितजलं मिश्रोऽप्कायः, स्यादिति सर्वत्र प्रक्रमः, अणुवत्ते दंडेत्ति जातिनिर्देशादनुद्वृत्तेषु अजातेषु दण्डेषु त्रिषुत्कालेषु, प्रथमेन दण्डेन कश्चित्परिणमति कश्चिन्नापीति मिश्रो, द्वितीयेन प्रभूततरः परिणमति स्तोको नापीति मिश्रः, तृतीयेन तु सर्वोऽप्यचित्त इति भावः, तथा वर्षे–वृष्टिजले, चकारः समुच्चये, स च तन्दुलोदकं चेत्येवं द्रष्टव्यः, पतितगात्रे–भूमावायातमात्रे, मात्र इति पतनकालावधारणार्थः, पतनकाल एव हि यावज्जलं गर्त्तादौ स्थितिं न बध्नाति तावत्तत् सचित्तं किञ्चित्पतितं सत् पृथ्वीक्षारादिना ध्वस्तं पुनरचित्तं स्यादिति, मिश्रितं मिश्रं स्थितिबन्धे तदाधारभूतपृथिव्यनुरूपः सचित्तादिविभागः सम्भाव्यते, तथा मुक्त्वा–परिहृत्य आदेशत्रिकं वक्ष्यमाणं मतत्रितयं, तेनोक्ता मिश्रता न भवेत्यर्थः, चाउलोदगंति

तन्दुलोदकेऽटीकरणं अवद्दुपसत्ति सूचनात् अबहुप्रसन्न—नातिस्वच्छीभूतमिति गाथार्थः ॥ १८ ॥ आदेशत्रिकमेवाह—

मण्डपासमलग्गा० ॥ १९ ॥ व्याख्या—माण्डकपार्श्वकलनस्तन्दुलधावनभाजनस्य बहिराश्रिता, उत्तेदा तन्दुलानामन्य भाजनप्रक्षालिताना, तत्र प्रक्षिप्यमाणस्य तद्भाजनस्य बिन्दवो न शाम्यन्तीत्यत्रापि योगः, गाथान्ते अन्ये इति भणनात् अत्रैके आचार्या भणन्तीति ज्ञेयं, तथा बुद्बुदास्तन्दुलोदकोपरिभवा स्फोटका, चकारः समुच्चये, निशाम्यन्ति विनश्यन्तीत्यर्थ, यावदिति कालाऽवधी यावता कालेनेत्यर्थः, तावदिति कालावधिनियमार्थं, तावन्तं कालमित्यर्थ,, मिश्रक पूर्वोक्त तन्दुलोदकमिति प्रक्रम, स्यादिति शेष, तदुपर्यचेतनमिति सर्वत्र सामर्थ्याज्ज्ञेय, पूर्वोक्तयुक्त्यान्ये इति भणन्ति, तथा तन्दुला येषां तद्भाजन तेऽपीकरका (?) चकार समुच्चये, राध्यन्ति, यावदिति पूर्ववत्, तावच्छब्दस्यानुवृत्ति, तेषां तन्दुलोदकं मिश्र स्यादिति क्रम, अन्ये—परे आचार्या ब्रुवत इति शेष, तत्र मिश्रेणैवाधिकार, अचेतन तु विवरणमसङ्गेनोक्तमिति गाथार्थ ॥ १९ ॥ एतेषां परिहरणाय दूषणान्याह—

एए उ अणाएसा० ॥ २० ॥ व्याख्या—एते ह्यनन्तरोक्ता आदेशा, पुनःशब्द एतेषामनादेशत्वादिद्योतक, अनादेशा—कुत्सितमतानि त्रयोऽपि त्रिसंख्या अपि, न पुनरेक एव द्वावेवेत्यपिशब्दार्थः, ज्ञेया इति शेष, हेतुमाह—कालस्योच्छ्वासादिकस्य नियमो यथेतापाग्निरुक्षादिकेभ्यो विनश्यन्तीत्यादिनियमस्तस्य असम्भवोऽघटनात्, सोऽपि के हेतो ? इत्याह कथं स्नेह—अकादिना अन्याप्य नवमित्यर्थ, इतरच स्निग्ध, तद्धितरीत यद्भाण्डक तन्दुलभाजनाधारभूत तत्, तथा पवनस्य—वायोर्यौ सम्भवासम्भवौ—विद्यमानताऽविद्यमानते ताभ्यामेतौ तौ, आदिशब्दात्परिपूर्णापरिपूर्णसामग्रीग्रह, प्रथमे आदेशे—कालो नियमे साध्ये रूक्षेतर-माण्डक, द्वितीये तु पवनसम्भवासम्भवौ, तृतीये तु परिपूर्णापरिपूर्णसामग्रीकारणतया योज्या, तत्र रूक्षे माण्डके अन्ना उत्तेदा स्तोकेन

इतरस्मिंस्तु प्रभूतेन कालेन विनस्यन्ति, एवं पवनस्य सम्भवे स्तोकेनेत्यादि भावनीयमिति, त्रयोऽप्यादेशा अनादेशत्वेन परिहार्या इति गाथार्थः ॥ २० ॥ तन्दुलधावनस्य मिश्रतायामभिप्रेतादेशं प्रसङ्गतस्तस्यैवाचित्ततायां स्वरूपं चाह—

जाव न बहुप्पसन्नं० ॥ २१ ॥ व्याख्या—यावदिति पूर्ववत्, न—नैव बहुप्रसन्नमतिस्वच्छीभूतं, तावदिति पूर्ववत्, मिश्रं पूर्वोक्तं, तन्दुलोदकमिति प्रक्रमः, भवतीत्यत्रापि योगः, एषोऽयं अत्र धावनविचारे आदेशो—मतं भवति—जायते, प्रमाणमङ्गीकर्त्तव्यः, अथ बहुप्रसन्नस्य तस्य का वार्त्तेत्यत आह—अचित्तं पूर्वोक्तं, बहुप्रसन्नं स्वतिस्वच्छीभूतं धावनं पुनः ज्ञातव्यं-बोद्धव्यं, एतच्चाचेतनं वक्ष्यमाणे अचेतनाधिकारे द्वयमिति गाथार्थः ॥ २२ ॥ उक्तो मिश्रोऽप्कायोऽथ तमेवाचित्तमाह—

सीउण्हखारखित्ते० ॥ २२ ॥ व्याख्या—अस्याः पृथ्वीकायाधिकारोक्तेवाप्कायामिलापेन व्याख्या, किंत्वयं द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च परिणतः स्यात्, तत्र तिलादिद्रव्यन्याय्या द्रव्यतः, क्षारक्षेत्रसक्तकूपादेः सक्तो मधुरक्षेत्रसक्तकूपादेः सक्तस्य मीलनेन क्षेत्रतः, स्वायुःक्षयेण कालतः परिणतः, स्वं च नातिशयज्ञानीति न सम्यग्जानात्यादेशेन तु जानाति, यद्गुत दधितैलादिसक्तेषु घटादिषु क्षिप्तस्य शुद्धजलादेरुपरि दध्यादियवसक्तुतरिका जायते, सा यदि स्थूरा तदैकया यदि मध्यमभावा तदा द्वाभ्यां, यदाऽतितन्वी तदा तिसृभिः पौरुषीभिस्तत्परिणमतिः, एवमेव तच्छुद्धजलादिकमपि तेषां मध्ये क्षिप्तमतिस्निग्धादिविभागेनैकया द्वाभ्यां तिसृभिश्च पौरुषीभिः क्रमशः परिणमति, भावपरिणतस्त्वस्या एव गाथायाः पृथ्वीकायाधिकारोक्ताऽनुसारतो ज्ञेया, तथा स्वकायशस्त्रं परकायशस्त्रं च स्यात्, तत्र क्षारादिरप्कायो मधुरादेः स्वकायशस्त्रं, पृथ्वीकायादिस्तु सर्वस्यापि तस्य परकायशस्त्रमिति गाथार्थः ॥ २२ ॥ अनन्तरोक्तगाथायाः पर्यन्ते प्रयोजनं तेनेदं भवतीत्युक्तमथ तदेव प्रयोजनमाह—

परिसेयपियणहत्थाइ० ॥२३॥ व्याख्या—परिसेकपानहस्तादिधावनमिति, तत्र परिसेको—दुग्धमण्डादेरुत्थितस्योपरि परिषेचन, पान—घृतपानादयोऽभ्यवहारो, हस्तादिधावन—करचरणप्रक्षालनं, तथा चीवरधावन—उपधिप्रक्षालनमित्यर्थः, चेवेति समुच्चये, तथा आचमन—शौचं, भाजनधावन—पात्रकप्रक्षालन तान् २, एवमाइवि एवमनन्तरोक्तपरिसेकादिप्रकारं वस्तु आदि—प्रसृतिर्यस्य तदेवमादि, आदिशब्दाद्ग्लानाभिभूतस्य तैलाभ्यञ्जितस्य साधोः प्रोञ्छनार्थं काञ्जिकादिग्रहणमह प्रयोजन उपयोग इति भाव, अचित्तोप्कायेन क्रियत इति प्रक्रम, (प० ७) बहुधा अनेकधा इति गाथार्थ ॥ २३ ॥ अनन्तरगाथोक्तचीवरधावनावयवो विशेषतो व्याख्यायते, तत्र च चीवरधावनमृतुबद्धे काले साधुभिर्न कर्तव्यं, कारणे दोषानाह—

उउबद्ध धुवण बाउस० ॥ २४ ॥ व्याख्या—उउबद्ध धुवणत्ति विभक्तिलोपाद् ऋतुबद्धे धावने शीतोष्णकाले प्रक्षालने सति को दोष ? इत्याह बाउसत्ति विभक्तिलोपात् बाकुश—शरीरमूर्च्छादिक स्यादिति सर्वत्र शेष, तत्र बकुशादोषद्वयमाह भवे विनाशो—मैथुनविरतिभङ्गो, गृणावान् चिन्तयति किमनया मूर्च्छया ? यदि योषितो न भुज्यन्ते, स एव वा मनोज्ञतया स्त्रीभि प्रार्थ्यते, ततस्ता सेवते, तथा अस्थानस्थापन—अयोग्यतायां प्रतिष्ठा, नूनमय कामी, तेनात्मान भूषयतीत्ययोग्योऽयं धर्मस्येति जनो जल्पतीति भाव, चकार समुच्चये, तथा सम्पातिमाना—प्रक्षालनजलादिषु पतनेन मक्षिकादीनां वायोश्च—काष्ठपात्र्यादिषु वस्त्राणामाऽऽस्फालनेनोरित्थत—वातस्य वधो—विनाशः, [redacted] प्लावनेन—जलधावनजले परिक्षिप्यमाणे पृथिव्या रेलणेन भूतोपघातः—सदाश्रितकीटिकादिविनाश, चकारास्साधो कल्पाविकाकडकभङ्गो इति [redacted] इति गाथार्थ ॥ २४ ॥ आह—ननु यद्येव तर्हि न धावितव्यान्येव तानीति ? उच्यते, वर्षाकाले धावितव्यान्येव न धाव्यन्ते तर्हीते दोषा स्तुत्तया चाह—

परि० ९ धीराचार्यकृतटीकाया आद्य-भागः ।

अइभार चुडण पणए० ॥ २५ ॥ व्याख्या—अतिभारो-महागुरुत्वं, चुडनं-जीर्णता शाट इत्यर्थः, पनकउल्ली, अइभारचुडनपनकः, स्यादिति सर्वत्र शेषः, अत्र वस्त्रशब्दः प्रकान्तः, स चार्थवशात्कापि पदे कयापि विभक्त्या दत्त्या योज्य, यथा अतिभारश्चुडनं च वस्त्राणां स्यात्, अधाविततया हि वस्त्राणि समलानि स्युः, स च मलो वर्षाजलशीतेनाहतोऽतिभारवान् स्यात्, तद्युक्तानि वस्त्राण्यप्यतिभारवन्ति स्युरित्यादि, तथा शीतलानां समलत्वेन इयेत्ययुतवस्त्राणां प्रावरणेन-शरीराच्छादनेनाजीर्णे-आहारापरिणतो ग्लानत्वं-शरीरमांद्यं, तस्मिन्सति उड्डावणत्ति अपभ्राजना, मूर्खा एते, य अधावितवस्त्रप्रावरणेनाजीर्णत्वेन ग्लानत्वं स्यादित्यपि न जानन्तीत्यादिको जनापवादः स्यात्, तथा कायवधो-मलिनानि तानि प्रावृत्य बहिर्गतस्य साधोर्मेघवृष्टौ तत् क्षारेण यथासम्भवं षट्जीवनिकायविराधना स्यात्, समुच्चयार्थश्चकारोऽत्र लुप्तो दृश्यः, वर्षासु-वर्षाकाले, अधावने-वस्त्राणामप्रक्षालने, दोषा-अनन्तरोक्तदूषणानि, स्युरिति शेष इति गाथार्थः ॥ २५ ॥ कदा कियत्प्रमाणं चोपधिं धावतीत्येतमाह—

अप्पत्तेच्चिय वासे० ॥ २६ ॥ व्याख्या—अप्पत्तेच्चियत्ति अप्राप्त एव-अनायात एव वर्षे-वर्षाकाले आषाढान्त इत्यर्थः, अनेन " उउबद्धे " त्यादि गाथायां (गा० २४) यच्छीतोष्णकालग्रहणं कृतं तत् किञ्चिन्न्यूनं ज्ञेयं, सर्व-समस्तं उपधि-उपकरणं धावन्ति-साधवः प्रक्षालयन्ति, यतनया शक्त्याऽसंयमपरिहारेण, असति स्वभावे, पुनः शब्दो विशेषणे, द्रव्यस्य जलस्य, 'जहन्नओ'त्ति तुशब्दस्य व्यत्ययप्रयोगाज्जघन्यस्त्वपवादे, नाप्यास्तां यदुत्सर्गेण सर्वोऽप्युपधिः धावनीय इत्यपिशब्दार्थः, पात्रनिर्योगः—पात्रकबन्धादिकः, पतद्ग्रहपरिकरो धावनीय इति प्रक्रमः, इति गाथार्थः ॥ २६ ॥ आह-किं सर्वेषां वस्त्राण्येकामेव वारां प्रक्षाल्यन्ते किं वास्ति केषाञ्चिद्विशेषो ?, अस्तीति ब्रूमः, केषामित्यत आह—

आयरियगिलाणाण० ॥ २७ ॥ व्याख्या—आचार्या-सूरयं, उपलक्षणत्वादुपाध्यायप्रभृतयश्च, ग्लानाः-मन्दास्तेषां, तुर्विशेषणे, महला मइलचि क्रियाव्यत्ययान्मलिनानि २ सन्ति वस्त्राणीति व्यक्तं, पुनरपि-भूयोऽपि, न केवल लोकावर्णाजीर्णलक्षण पुष्टालम्बन विना तेषामप्येषामेव [धारामपोडान्ते (!)] धावन्तीत्यपि शब्दार्थः, धावन्ति-नैवामुत्त्यकरादय प्रक्षालयन्ति, कारण-माह-माशब्दो निषेधे, भवस्थितिशेष, दुर्वाक्यालङ्कारे, गुरूणां-आचार्यादीनामवर्णोऽश्लाघने मलिनवस्त्रतया ' अहो अन्यसाधुतुल्या एवैते ' इत्यादि लोकभाषणरूपा अश्लाघा, लोके-प्रवृत्तने, वेषपरिवारादिसाम्यो हि पृथग्जन स्यात्, तथा अजीर्णे-वस्त्राणां मलिन-त्वेन धैर्याविनयात् शुक्लभक्तापरिणति, एतस्मिन् ग्लाने, जातिनिर्देशादेकस्यमिति गाथार्थं ॥ २७ ॥ एव धावनमाश्रित्योपधेः प्रमाणमुक्तम्, मात तस्यैव मध्ये उपधिविशेषा न विमाम्यन्ते तन्नामकथनपूर्वक धावनविधिमाह—

पायस्स पडोयारं० ॥ २८ ॥ व्याख्या—पात्रस्य प्रत्यवतार, तथा दुन्निसिज्जत्ति विभक्तिलोपात् द्वे निषधे, तथा त्रिपट्ट-चोतिरजोहरण, समुच्चयार्थस्तुशब्दोऽत्र बोध्य, एतान् न, 'तु' शब्दो व्याख्यात एव विश्रमयेत् तत्स्थपट्पदिकानां तु यतनया सङ्क्रमणा कार्येति शेष, ततश्च धावन प्रकान्तानाम्-विभागणीयानां कार्यमिति शेष, इति गाथासमासार्थ ॥ २८ ॥ एतामेव गाथां गाथात्रयेण व्याख्यानयन्नाह—

पायस्स पडोयारो० ॥ भा० ८ ॥ सयाकप्परपोलग० ॥ भा० ९ ॥ एए उ न वीसामे० ॥ भा० १० ॥ व्याख्या—पात्रस्य-भाजनस्य प्रत्यवतार-परिकर, पत्तगवज्जोयचि पात्रकवर्जक एव-पात्ररहित एव पात्रनियोग, पात्रकबन्धादिक षड्विध भाजनोप-करण, तथा दुं-द्विसंख्ये निषधे, पुनः रजोहरण-उपकरणविशेषरूप पुन ज्ञेय इति शेष, अब्भिंतरपि अब्भिंतरा-मध्यवर्तिनी, तथा

बाह्या—बहिर्वर्तिनी, चैवेति समुच्चये, इह सम्प्रति या दसिकादिभिः सह दण्डिका क्रियन्ते सा आगमविधिना केवलैव स्यात्तस्या निषद्याद्वयं स्यात्तन्मीलितं रजोहरणं भण्यते, तत्रैका दण्डिका बाह्यतिर्यग्वेष्टकत्रयपृथुसैकहस्तदीर्घोर्णामयादिकंबलीखण्डरूपा स्यात्तस्याश्चाग्रे दशिकाः स्युः, तां च सदशिकामपि रजोहरणशब्देन भणिष्यतीत्यसौ नाम बाह्या, द्वितीया त्वेनामेव तिर्यग्बहिर्वेष्टकैराच्छादयन्त्येकहस्तविस्तरादि किञ्चिदधिकैकहस्तदीर्घा वस्त्रमयी स्यात्, साऽन्याऽभ्यन्तरेति भाष्या, तृतीया त्वेतस्या एव बहिस्तिर्यग्वेष्टकान् कुर्वती चतुरङ्गुलाधिकैकहस्तमानो चतुरस्रा कंबलमयी स्यात्, सा चाधुनोपवेशनोपकारित्वादासनमोञ्छनकमिति रूढा, दण्डिका तूपकरणसङ्ख्यायां न गण्यते, रजोहरणस्योपष्टम्भिका मात्रत्वेन विवक्षितत्वादिति, तथा संताहत्तरचोलगावि विभक्तिलोपात्संस्तारोत्तरचोलकाः, पट्टा इति पट्टशब्दवाच्याः, संस्तारपट्ट उत्तरपट्टश्चोलपट्टश्चेति तत्त्वं प्र० (प० ८)

अन्त्यभागः

(प० १०५) ॥ ६२५ ॥ पूर्वोद्दिष्टां भजनां मक्षाष्टकेनाह—

संसट्ठेयर हत्थो० ॥ ६२६ ॥ व्याख्या०—संसट्ठेयरत्ति विभक्तिलोपात्संसृष्टोऽन्नलेपेन स्वयोगेन खरंटित इतरस्त्वसंसृष्टस्तेनाखरंटितस्ततः कर्मधारयः स्यादिति सर्वत्र शेषः, हस्तो वाच्यः कर इत्येकं पदम्, तथा मत्तोत्तिवि लिंगव्यत्ययान्मात्रकमपि—करोटिकादिकमपि लिंगव्यत्ययेन तदपि संसृष्टेतरः स्यादित्यनुकर्षणार्थं इति द्वितीयं, च पुनरर्थो भिन्नक्रमश्च, दव्वत्ति विभक्तिलोपात् पुनः शब्द—योजनाच द्रव्यं—वस्तु, पुनः सावशेषेतरदिति तत्र यस्य सापवे देयद्रव्यस्य मध्यात् किञ्चित्स्याद्दात्रावुद्धरति तदाद्यं, यन्मध्यादुद्धरति तद्द्वितीयमिति तृतीयं, एतेषु पदेषु अष्टौ—अष्टसंख्या भंगा—भेदाः स्युरिति, शेषास्त्वमी—संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं

सावशेष द्रव्यं १, संसृष्टो हस्त संसृष्ट मात्रं निरवशेष द्रव्य २, संसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्र सावशेष द्रव्य ३, संसृष्टो हस्तोऽसंसृष्ट मात्र निरवशेष द्रव्य ४, असंसृष्टो हस्त संसृष्टं मात्र सावशेष द्रव्य ५, असंसृष्टो हस्त संसृष्ट मात्र निरवशेष द्रव्य ६, असंसृष्टो हस्तोऽसंसृष्ट मात्रं सावशेष द्रव्य ७, असंसृष्टो हस्तोऽसंसृष्ट मात्र निरवशेष द्रव्य ८, अत्र वा नियमाभिप्रायेण ग्रहण-आदानं भक्तस्य साधुना कार्यमिति प्रक्रमः, तु ओघसूचि पदव्यत्ययादविषमेष्वेव प्रथमतृतीयादिषु न समेषु द्वितीयचतुर्थादिष्विति भजना, इह हस्तो मात्र वा द्वे वा स्वयोगेन संसृष्टा वा सन्ति, साध्वर्थं संसृष्टानि भवन्तु, न तद्योगेन यत्र द्रव्य सावशेषं तत्रैतानि साध्वर्थं सदृष्टान्यपि दात्री न धावति, किं तर्हि ! तत्र द्रव्ये व्यापारवतीति सावो पश्चात्कर्म स्यादत्र तु द्रव्य निरवशेष तत्रैतानि तद्व्यापारस्थाली च छात्रदानानन्तरं सा धावतीति, तस्यादेवेति भजना पद, बहुलेपेऽप्ययं पठते, परं प्रयत्नवा मोक्तेति गाथार्थः ॥ १६१ ॥ उक्त लिप्तद्वारमथ छर्दितद्वारमाह ॥

सचित्ते अचित्ते० ॥१६२॥ व्याख्या—इह यतो भण्डादुत्स्यते तत्साध्य वस्तु सचित्ते, तथा अचित्ते, तथा मीसगाथि विभक्तिलोपात् मिश्रके, त्रितयमपि प्रतीत, तथेति समुच्चये, कस्मिन्नेवमित्याह छर्दने—भूम्यादौ पातने, च पुनरर्थो भिन्नक्रमश्च, चउभंगो जातिनिर्देशाच्चतुर्भङ्गत्रय प्रतीत, स्यादित्यत्रोत्तरत्र च शेष, यथा—सचित्तमिश्रपदाभ्यामेक, सचित्ताचित्तपदाभ्यां द्वितीय, मिश्राचित्तपदाभ्यां तृतीयस्तत्र सचित्ते सचित्त मिश्रे सचित्त सचित्ते मिश्र मिश्रे मिश्र—छर्दितमुत्पाद इत्यादि, तत्र चउभंगेऽपि जातिनिर्देशादपि लोपाच्चतुर्भङ्गत्रयेऽपि स्वय भावनीय, प्रतिषेध साधोर्भक्तादिग्रहणनिवारण, इह यत्र छर्दं तत्र सचित्त मिश्र वा, तत्र भाद्य सचित्त मिश्र वा स्यादित्यादयो दोषास्तु, किं च ग्रहणे तद्दोषदुष्टाहारादीनां आणाइणोति सूचनादाज्ञाभङ्गानवस्थामिथ्यात्वविराधना, आज्ञाभङ्गादय

पूर्वोक्तानामाधाकर्मादीनां वक्ष्यमाणानां संयोजनादीनां च दोषाणां सेनायां ज्ञेयाः, निर्युक्तिकारेण मिश्रदोषेणास्य संयोगादीनामविदेशो कृतेऽपि चतुर्भङ्गत्रयप्ररूपणासामर्थ्याद् गुरूपदेशवचनाच्च कृतो ज्ञेयो, यथा—शिक्षादानाय प्रवृत्ता यदा आमिक्षामध्याद् भ्रष्टं भूम्यादिस्थमचित्त— मृत्तिकादेरुपरि सचित्तलवणादिकं छर्दितमिति प्रथमचतुर्भङ्गस्य प्रथमभङ्गेन पृथ्वीकायमाश्रित्य स्वस्थानत एको भेदो लब्ध इत्यादि, यावच्चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानां भङ्गानां सचित्तपृथ्वीकायछर्दित इत्यादि यावद्द्व्युपरं शतं संयोगानां स्यात्, तथा सचित्तमिश्रे सचित्तमिश्रमचित्ते सचित्तमिश्रं सचित्तमिश्रे अचित्तं अचित्तेऽचित्तं छर्दितमित्यादि चतुर्थो—मतांतरचतुर्भंगो ज्ञेयः, तत्र च सचित्तमिश्रे पृथ्वीकायादौ सचित्तमिश्रं पृथ्वीकायादिछर्दितमित्यादि पूर्वोक्तैकचतुर्भङ्गत्रयचतुश्चत्वारिंशद् भङ्गशतं षट्त्रिंशत्संयोगाश्च भावनीयाः, इहाति- देशवशतो द्वितीयादि चतुर्भङ्गत्रयसक्ते चतुर्थे भङ्गे कल्पतो लब्धाऽपि न माला, चउभंगे पडिसेहो इति निषिद्धत्वात्, शेषा उक्ता भणिष्यति चेति गाथार्थः ॥ ६२७ ॥ विराधनां विशेषतो विधूणवनाह—

उसिणस्स छड्डणे० ॥ ६२८ ॥ व्याख्या—उष्णस्य-तप्तभक्तस्य छर्दने-भूम्यादावुज्झने दत्त-प्रयच्छद्दायकशब्दाद् ग्राहको वा साधुर्द्वयं वा दह्येत-दाहमनुभवति, यद्वा कायानां भूमिस्थसचित्तपृथ्वीकायादीनामुपरिपातेन प्लावनेन वा दाहः प्लावः, वा-विकल्पे भवेदिति शेषः, सीयपडणमित्ति युगमशब्दलोपात् शीतपतने—शीतभक्तादिपरिसाटे, पुनः कायाः पृथ्वीकायादयः विराध्यत इति शेषः, अथ पतितं द्रव्यमाश्रितदोषपरंपरामाह—पतिते छर्दिते मधुबिन्दूदाहरणं, दोषमाश्रित्य माक्षिकत्वेनोपलक्षितो दृष्टान्तः स्यादिति शेषः, इह साधोः स्वदाहेनात्मविराधना, पृथिव्यादिदाहेन तु संयमविराधना, शत्रुदाहेन तु प्रवचनविराधना भावनीया, मधुबिन्दूदाहरणमिदम्—

जहा वारत्तपुरं नाम पुरं आसि, तत्थ य अभयसेणो नाम राया, तस्स य पुढविसिरी नामा देवी, ताणं वारत्तओ नाम अमच्चो,

तस्य य वीरा नाम भगणी, अन्नया य धम्मघोसो नाम साहु भिक्खं हिंडंतो वारत्तगस्स घरं गओ, तस्स भिक्खादाणट्ठाय गहिय-पायसथालं गहाय आगया वीरा, एत्थंतरे उ मज्झाओ पडिओ बिंदू भूमीए पडिओ, छड्डियदोसोत्ति न गेण्हइ निग्गओ साहू.- वारत्तगेण मत्तवारणठिएण स दिट्ठ, किमणेण एसा भिक्खा न गहियत्ति जाव चिंततो चिट्ठइ ताव बिंदुमि मच्छियाओ लग्गाओ, ताण घरकोइलिया धाविया, तीसे सरडो आगओ, तस्स य मज्जारो पहुओ, तस्स य पाहुणगसुणगो पहाविओ, तस्स य वत्थव्वगसुणओ समुट्ठिओ, दोण्हपि सुणगाण भंडण जाय, नियगनियगाण रक्खणट्ठा दोण्ह सामसामिणो समुट्ठिया, तेसिंपि सपरिवाराण महाजुज्झं जाय, जाव वणेगाण सुहडाण मारामारी जाया, त सव्व वारत्तगेण दिट्ठ, चिन्तइय च अहो नूण एएण मारामारिदोसेण साहुणो भिक्खा न गहिया, एमाइ भावतो संबुद्धो, तस्सेव समासे पव्वइओ, तओ तमि भवे पुव्वभवे सुयसयणसंभूएण विओगादुविओगादुहेण संभाविओ, तच्छेयणत्थ तिय जिण थुणेइ, जहा—

"जइ तिहु(प०१०९)यणेक्कमगल ! जय निरुवमभोक्खसोक्खसंपण्ण ! । जय भवसमुद्दतारय ! जय जय हियनिरयजिणचंद ! ॥ १ ॥ पियविप्पओगमप्पियपओगकट्ठाइदुक्खकढेहिं । नाह ! कइवयछिन्नसुवा किंचि तुम विन्नविस्सामि ॥ २ ॥ जम्मजरमरणपउरे संसारे इह मए ममतेण । जिण ! तुम त न दिट्ठो नाह दिट्ठो सेविओ नेव ॥ ३ ॥ तेण जिण ! दुहाइ अणतसोऽपि य विओयमाणि । दुक्खाइ अणुहवतो अज्जवि एयेव चिट्ठामि ॥ ४ ॥ संपइ तुहि जोएण नदिट्ठुयो भए तुम दिट्ठो । नाह ! न चेव जिणेसर ! नासेवेउ समारद्धो ॥ ५ ॥ पहु ! तुह सेवा करणे मा मे साहिज्जकारओ नाह ! । आसीइ पावपिओ सो दुस्सहदसेव पडिघूओ ॥ ६ ॥ ताण काउ मसमरययस्स सोयगिजलियहियस्स । पेच्छवस्स वि विहिया हरिओ वीतोय पवणेण ॥ ७ ॥ जिण ! तेण पियविओयजलण-

संताविओ विगयसरणो । सोयंतो रोइंतो कंदंतो जाव चिट्ठामि ॥ ८ ॥ ता मे सयलसमाहियकज्जविणासणपरेहिं अपिएहिं । आजंमं संजोगो जिण ! जा दुस्सहोज्जुचि ॥ ९ ॥ जा तेण दुहेण य दुक्खिओ वि कहमवि गमामि जिण ! कालं । ता कंदफादुक्केणं गहिओ सीहेण हरिणो व ॥ १० ॥ एवं परिभवपमुहेहिं दुक्खलक्खे जगडिओ नाह ! । जमवत्थमहं पत्तो तं कहिउं भरसि तं नेव ॥ ११ ॥ ता अतुलपालस्स दयालुयस्स तुह सेवगोवि जमिमेहिं । दुक्खेहिं कयत्थिज्जामि सामि हीही अजुत्तमिणं ! ॥ १२ ॥ हुं नायं [जिणा समं] जिणंद तुह सेवगो अहं जेण । संतिपमुहंमि भग्गो तइ भणिए निरुच्छाहो ॥ १३ ॥ ता देहि संतिलगं कोदगडं जेण तेण जिण ! हणिमो । अप्पहिं य मद्दवमज्जं माणगिरिं चूरिमो जेण ॥ १४ ॥ नियडिउरगीनिवारणि अज्जवविज्ञाए कुण जिण ! पसायं । लोहरहदलणमुत्तीगया य दाणेण य पयासी ॥ १५ ॥ तह देहि ताव सत्ती जह तव अरइए नासिमो गत्तं । अहसंजमदलणे सुसंजमंमि जिण ! कुण मणुग्गहं ॥ १६ ॥ सच्चं असच्चहणणं सोयं च असोयगिहहणणं होइ । परिगहहणणमकिंचणमबंभहणणं जिण ! बंभं ॥ १७ ॥ इय एवंविह दसविहधम्मे सिग्घं अपम्मनासयरे । तुह पयकमलपसाया होउ ममं तिहुयणप्पणया ॥ १८ ॥ जेण पियविओगाइय-दुहाइगलघल्लिऊ ण एयाइं । अणुवमसुहपरिकलिए सासयसोक्खंमि गच्छामि ॥ १९ ॥ इय भवबइरिवीरगणीवायगसंजयमि वह वंदिया, परिहियकरणसगसायर ! सुरनररायपणमिया । इट्ठविओगविए गुरुदुहतविए णमइं तुह नाह ! पविहिया, जिण निसिविए सजयवंच-वयरय हवउ सहलिया ॥ २० ॥ तओ कालेण सिद्धोत्ति गाथार्थः ॥ ६२९ ॥

इति वीरगणिविरचितायां पिंडनिर्युक्तिवृत्तावेषणाख्यं तृतीयं द्वारं समाप्तमिति ॥

उत्क्रमेषणाद्वारं, तदुक्तौ तूक्ता ग्रहणैषणेति, अथ संयोजनाद्वारं प्रस्तुतं, तत्रैव गृहीतस्याहारस्य विधिना ग्रासः कार्य इति ग्रासैषणायां

निक्षेपमाह—

नाम ठवणा दविए० ॥ ६२९ ॥ व्याख्या—नाम ठवणा दविएत्ति नाम स्थापना द्रव्य , अनुस्वारलोप , तथा भावे पूर्वोक्ते, चः समुच्चये, तथा कप्पिउ अर्थो ठओ द्रव्य-, भासो—योजन, तद्विषयेषण-शुद्धाशुद्धपर्यालोचन, सा गुणितव्या—ज्ञातव्या, तत्र नामस्थापने पूर्ववत् , द्रव्ये-द्रव्येषणायां मत्स्योदाहरण-सफरिदृष्टांत , भावे स्वाध्यवसाये, पुन भवन्ति—जायते एवंविधा संयोजनायेति गाथार्थः ॥ ६२९ ॥ द्रव्यग्रासैषणाऽऽहारणस्य संबन्धमाह—

चरिय च कप्पिय वा० ॥ ६३० ॥ व्याख्या—चरित-वृत्त, चः समुच्चये, तथा कल्पित-स्वमतिविचरित, वा समुच्चये आहरण-दृष्टांत , द्विविधमेवैव ज्ञातव्य, वा द्रव्य, अर्थस्य-अभिलषितप्रयोजनस्य, साधनार्थे-निष्पादनायेत्यनमिव-वाम कास्ठादीयोपलक्षणत्वात् स्याख्याविग्रह', जोवमार्गे-इहाविनिमित्तमिति गाथार्थः ॥ ६३० ॥ तत्र प्रत्यासत्त्या कल्पितोदाहरण रूपकत्रयेणाह—

अह मसंमि पहीणे० ॥ ६३१ ॥ विपलागपडुम्मुक्को० ॥ ६३२ ॥ एगारिस ममं सत्तं० ॥ ६३३ ॥ व्याख्या—अत्थि अहिट्ठिड नाम गामो, तत्थ य संसो नाम मच्छिओ, तस्स य ठवोमरनाम महिला, सो य मच्छगहणत्थ गलं गहाय तलाए गओ, अगमाए मसं वाऊण तेण सो तत्थ पक्खित्तो, तत्थ य एगो मच्छो वसइ, सो य मसगंधेण तत्थागओ, नाय जहा अम्ह गहणत्थ केणइ मच्छि एण समसो गलो पक्खित्तो, तो गलस्स पाउद्दिसि सणिय सणिय भक्खिओ सव्वमसं खाइओ, मच्छिअस्स वाहणत्थ पुच्छेण गलोविओ, तओ चिंतो मच्छोवि चितिय छड्डत्ति गओ मच्छिएण कड्डिओ, दिट्ठो य मसमच्छरहिओ, सो विलक्खीभूओ, एव तिन्नि वाराउ, तओ अईव विलक्खीभूओ-अहो ! केणइ दुट्ठमच्छेण मे गलगामसं सव्व अह च वाहिओ, तो कहइ सो गहियव्वोत्ति, जाव थिरदिट्ठीसरीरो

चिंतंतो चिट्ठइ ता मच्छेण भणिओ–भो भो मच्छिय ! किमेवं झायसि, हुं नायं, मम गहणत्थं उवाए चिंतेसि, एत्थ सुणेहि मे वयणं, जहा निल्लज्जोसि तुमं, अहं तिन्नि वाराउ बलागाए पत्तो, गिलणत्थं चंचूए गहाय उड्ढं उच्छलिओ, तो नियविन्नाणेण तिरिच्छो पडिओ, तीसे मुहे न माइ, अओ पब्भट्ठो नट्ठो य, तहा–तिन्निवाराउ वेलाए भट्ठो पक्खित्तो झडत्ति वेलाए चेव सह नियत्तिऊण ठाणं पत्तो, तहा एकवीस-वारा मच्छिएण तत्थ जालं पक्खित्तं, अहंपि मज्झे पडिओ, ताव सो न अज्ज विप्पइ ताव झडत्ति हेट्ठे कद्दमे पविट्ठो, तं उवरिट्ठियं तेण संकोणियं तत्थ छद्देहिं, तहा एगवारं मच्छिएण दहाउ जलं सोसिऊण बहुहिं मच्छेहिं सह अहं गहिओ, सो य तिक्खे सूले सबे ते पोइउं लग्गो, मए सयमेव दंतेहिं सूलो गहिओ, पोइओवि नाउं तेण नाहं विद्धो, सो य कद्दमधोवणत्थं तलाए छूढो तओहं तत्थेव जले पविट्ठो, तं एयारिसं तं मंसट्ठं मच्छियविहियगलायबंधणाभिभवकारगं, जं गलेण घेत्तुं इच्छसुत्ति, सूत्रं सुगमं, नवरं वलयामुहेत्ति वेलिकामुख इति वेलाये ममं तिमं घट्टिय घट्टणंति–घट्यते स्म–मत्स्यादिना चाल्यते स्मेति घट्टितं गलादि तस्य घट्टनो–अभिभवक इत्यर्थः रूपकत्रयार्थः ॥ ६३१–६३३ ॥ भावग्रासैषणायां रागद्वेषपरिहारो मुख्यो, अतः साधुर्भिक्षाटनेन द्विचत्वारिंशद्दोषशुद्धां भिक्षा-मादायोपाश्रये भोजनार्थं उपस्थितः संस्तारवांश्चेत्यात्मनाऽऽत्मानमनुशासितुमाह—

बायालीसेसणसंकडंमि० ॥ ६३४ ॥ व्याख्या—द्विचत्वारिंशत्संख्यां आधाकर्मादिदोषाणामेषणापरिहारार्थमन्वेषणं तया विषम (?) तस्मिन्ग्रहणे–भक्ताद्यादाने जीव !–हे अन्तरात्मन् ! न–नैव महुरन्नकृते छलितस्त्वं–वंचितः दाऽयेति शेषः, ततश्च इदानीं–संप्रति येन प्रकारेण न–नैव छलयसे–वंच्यसे, भुंजान–इमां भिक्षामभ्यवहरन् रागद्वेषाभ्यामभि(प० १०७)ष्वंगाप्रीतिभ्यां तथाकर्त्तव्यमिति च शेष इति गाथार्थः ॥ ६३४ ॥ तामेव भेदत आह—

घासेसणा उ भावे० ॥ ६३५ ॥ व्याख्या—घासैषणा पूर्वोक्ता, उ भावेऽपि पञ्चस्वभावत्वे त्वध्यवसाये पुन भवति—जायते प्रशस्ताऽऽद्या, तथैवेति समुच्चये, तथा अप्रशस्ता तद्विपरीता, तत्र प्रशस्तेतरयोराह—अप्रशस्ता पूर्वोक्ता पञ्चविधा—संयोजनाप्रमाणाङ्गार-धूमकारणरूपा, तद्विपरीता—अप्रशस्ताया विपक्षभूता प्रशस्ताख्याः, पुनरिति गाथार्थ ॥ ६३५ ॥ संयोजनाया निक्षेपमाह—

दव्वे भावे संयोजणा उ० ॥ ६३६ ॥ व्याख्या—द्रव्ये—द्रव्यविषया, भावे—भावविषया समुच्चयार्थस्तुशब्दोऽत्र योज्य, संयोजना—क्षीरादे रसगुणोत्पादनाय दध्यादिद्रव्यमीलनम्, स्यादिति सर्वत्रशेष, तुर्यावधारणे एव, तत्र द्रव्ये—द्रव्यविषया द्विधा—द्विभेदा, बहिरन्तश्चेति च समुच्चयार्थं, प्रत्यक्षं अत्ययोगाद्बहिरन्तश्चा—भाजने अभ्यन्तरा च, तत्र भिक्षा समुदानां चियपि—अवधारणे, तत्र पाडे-वेलायां हिंडमान—पर्यटन्, वक्षोऽपि संयोजन—मीलनमुपाश्रयकारणमपि संयोजयेत् क्षीरादीनां अभे दध्याद्यर्थं पर्यटेदा लभ्यमाने भिक्षापात्रेषु स्वादयेत्साधु—यैविरिति शेष, तत्र—तस्मिन्साधो भाजने भाजनसंज्ञेति गाथार्थ ॥६३६॥ एत सद्यतस्नाभ्यन्तरां तु प्रतिपादयन्नाह—

खीरदधिगुडकट्ठर० ॥ ६३७ ॥ व्याख्या—कश्चित्साधुर्भिक्षामटन् क्षीरदधिलब्धकट्ठरलाभे दुग्धस्य—गोरसस्य गुडादिदाले सतीमनोज्ञभिक्षावटिकानां च लाभे, तथा गुडसर्पिर्वटकपालुके गोरसयोगेतद्रव्यविशेषस्य घोलवटकानां चोपलक्षणत्वान्मण्डकादिमहलाभे सतीत्यनुवृत्ति, रसगृध्या संयोजना स्यादिति शेष, भिक्षार्थं अटता साधुना क्षीरं लब्ध, ततो रसवृद्धिनिमित्तं गुडगवेषयतीत्यादि, यद्वाऽधुना मीलितानि भाजनवेलायां भावकृतानि सरसानि भविष्यन्तीति भोजनं कुर्वन् मीलयिष्यामीति विचिंत्य क्षीरादीनि लब्धानि बहिरेव पृथक् पृथग् भाजनेषु गृह्णाति, अतस्त्वभ्यंतरा पुन त्रिधा—त्रिभेदा स्यादित्सत्रोपरत च शेषो यथा पात्रे भिक्षाटने वसतौ वा भाजनविषया, तथा लवणादि समुच्चयार्थस्तुशब्दयोमनाक्लवणदाने च कवलविषया च, तत्र त्रिधाणा—विविध गमन स्यादथवा सुकुमारिकादि येन सहतागुह-

परि० ९
वीराचार्य-
कृतटीका
या अन्वय
भागः।

रोचते तद्भिक्षां पर्यटन् वसतौ वयो[वयण]तस्तेनैव सहैकस्मिन्नेव पात्रे चिरं व्यवस्थापयतीति यदुक्तां केचिद्यदि (?) वसतौ तदाऽभ्यंतरा च भिक्षाचर्यायां तदा बाह्येति व्याख्यायन्ति, तुर्व्याख्यात एवेति गाथार्थः ॥ ६३७ ॥ द्रव्यसंयोजनाया दोषान्विभणिषुः प्रस्तावनामाह—

संजोयणाए दोसा० ॥६३८॥ व्याख्या—संयोजनायां द्रव्यरूपायां दोषा—वक्ष्यमाणा अपायाः स्युरिति शेषः, यथा यः कश्चित्साधुः संयोजयति—मीलयति भक्तपानं—कूरादिकं दध्यादिना सहेत्यादीत्यर्थः, तुः पूरणे, दव्वाई रसहेउंति सूचनाद् द्रव्यरसादिहेतुरेवति, तत्र द्रव्याणां मीलनीयकूरदध्यादीनां रसो विशेषमिष्टता आदिशब्दात् सुकुमारितादिग्रहः, एतल्लक्षणा, हेतुर्निमित्तं यस्य स एव न तु " पत्तेय पउरलंभे(६४०)इत्यादिकः, व्याघातः—चारित्रविराधना, तस्य साधोः अयं वक्षमाणः भवति—जायत इति गाथार्थः ॥ द्रव्यसंयोजना-सेवायामनन्तरोदिष्टं व्याघातं विभणिषुर्भावसंयोजनामाह—

संजोयणा उ भावो० ॥ ६३९ ॥ व्याख्या—संयोजना पूर्वोक्तार्था, उ भावेत्ति पदव्यत्ययाद् भावे स्वध्यवसाये, पुनः इयं स्यादिति शेषः, संयोज्य—मीलयित्वा तानि क्षीरादीनि द्रव्याणि—वस्तूनि, ततः संयोजयेद् द्वितीयादित्यर्थः कर्म—ज्ञानावरणादि आत्मनीति शेषः, ततश्च कर्मणा पूर्वोक्तेन भव—संसारं निवर्त्तयतीति शेषः, भवं ततो सकाशाद्दुःखं—असातां प्राप्नोतीति शेषः, द्रव्यसंयोजना क्षीरादि-द्रव्यविषया, गृद्धिरूपोऽध्यवसायो भावः, संयोजना त्वात्मना सह कर्मादीनां मीलनमिति भावेन संयोजना, भावेन संयोजना भावसंयोजनेति गाथार्थः ॥ ६३९ ॥ द्रव्यसंयोजनायामपवादं गाथाद्वयेनाह—

पत्तेय पउरलंभे० ॥ ६४० ॥ रसहेउं पडिसिद्धो० ॥ ६४१ ॥ व्याख्या—पत्तेयत्ति एकमेकं साधुसंघाटकं प्रति प्रत्येक-मनुस्वारलोपः, प्रचुरलाभे—घृतादेर्विपुलप्राप्तिस्तस्मिंश्च भुक्तसाधुभिरभ्यवहृताद्दुद्धरितं शेषं तस्मिन्, चः समुच्चये, शेषः—स्थानान्तरोक्त-

विधिनोद्धरितस्य गमनमुपभोगस्तदर्थं—अविनिषिद्धं तीर्थकरादिभिरनुज्ञातं इत्यर्थः, संयोगं संयोजना—उद्धरितं हि घृतादि येन केनचिद् सुकुमारिकादिना तत् भवति तेनैव भोक्तव्यं, येन परिष्ठापनीयाज्ञात भावविधितं तस्यात्, तत्पुरस्कारे, क्येति संयोगविशेष प्रतिपादना-नन्तर्यद्योतकः, क्रम—परिपाटित कारणानीत्यर्थं, तस्य संयोगस्य यत्र " पत्तेय पठवलमे " इत्याद्युक्तरूपो वक्ष्यमाणश्चाय यथा भवति—यावत—इति वक्ष्यमाणश्चाय यथा रसहेतवि विभक्तिव्यत्ययाद्रसहेतु, सविशेषशोभनस्वपादाननिमित्तं, प्रतिषिद्धस्तीर्थकरादिभि-र्निषिद्धः संयोगः प्रतीत, स एव कल्पन्ते कर्तुमुचित, ग्लानार्थं—रोगनिमित्तं यथा यस्य कस्यचित्साधो, वा समुच्चये, अभक्तच्छद्—आहारे अरुचिः स्यात्तत्रोपरत्र च शेष, तस्येत्यत्रोपरत्र च सामर्थ्यगम्य, तथा सुखाय उपचारात् सुखकारिसंयोजिताहाराय शुभस्य वा संयोग-जाताय यथाऽऽहारस्योचितयोग्यो राजपुत्रादि स इत्यत्रापि योग तस्य तथा भावित साधुचितेन संयोगरहिताहारेण भोजनकारणे-नापि सम्यगनुयात, य भिक्षकादि तस्य, चः समुच्चये, कल्पत इति सर्वत्रानुवृत्तिः, एतेषां हि आलम्बनादिनैवाहारारोपण इति गाथाद्वयार्थं ॥ ६४०–६४१ ॥ इति श्रीवीरगणिविरचितायां शिष्यहितायां पिण्डनिर्युक्तिवृत्तौ संयोजनाख्य चतुर्थं द्वारं समाप्त मिति ॥ ४ ॥ उक्त संयोजनाद्वारमथ प्रमाणद्वारमाह—

बत्तीसं किर कवला० ॥ ६४२ ॥ व्याख्या—द्वात्रिंशत्प्रतीता, किरेति किञ्चित् मध्यमप्रमाणेनेव जघन्यत स्तोका उत्कृष्टतस्तु बहवोऽपि स्युरिति वाचक, कवला–ग्रासा आहारो–भोजन कुक्षिपूरक इति सामीप्योपचारादुदरभरक एव तृप्तिकारक इत्यर्थः, भणित-स्तीर्थकरादिभिरुक्त, इह द्वारपर्यंत यावद्विशेषभणन मुक्तेव कस्मिन् दिन इति शेष, पुरुषस्य–पुंस, तथा महिलाया –स्त्रिय अष्टाविंशति प्रतीता–भवेति भवेयु स्यु । कवला–ग्रासा, नपुंसकस्य चतुर्विंशतिस्ते स्यु, परं तस्य प्रायोऽप्रव्राजनीयत्वादत्र प्रमाण नोक्त, इह च

आहारितो वृत्ति(द्धिं) ज्ञानादिवृद्धिं च करोति, तस्य (प० १०८) द्वात्रिंशो भागः साधोः कवलप्रमाणं, स च तथा भूतो मणसो-त्यादिवक्ष्यमाणन्यायेनैव स्यादिति गाथार्थः ॥ ६४२ ॥ इतः प्रमाणान्न्यूनस्याहारस्य नामभेदानाह—

एत्तो किणाइ हीणं० ॥ ६४३ ॥ व्याख्या—इत एतस्माद् द्वात्रिंशत्कवलप्रमाणाद् एकेनापि केवलेनाप्यास्तां द्वयादिभिरित्य-प्यर्थः, कवलेनेति प्रक्रमेण हीनं-न्यूनं यावत्किमिहार्धं-षोडशकवलप्रमाणं अर्द्धार्द्धं अष्टकवलप्रमाण, चः समुच्चये, प्रमाणं भोजनं साधोः पर्यंतं ब्रुवते-जल्पंति वीरास्तीर्थंकरादयः मात्रा संयमनिर्वाहः, सैव मात्रा-प्रमाणं यस्य संयमनिर्वाहः क्षम इत्यर्थस्तं, चः समुच्चये, तमेव चावभक्षमाणन्यूनत्वेनावमाख्यं, चः पूर्ववत्, उपलक्षणत्वाचथानुरूपं साध्वींश्चाश्रित्यैतत्सर्वं ज्ञेयमिति गाथार्थः ॥ ६४३ ॥ प्रमाणदोषान् भेदेनाह—

पगामं च निगामं च० ॥ ६४४ ॥ व्याख्या—प्रकामं, चः समुच्चये भिन्नक्रमश्च, तथा निकामं:, चः समुच्चये, यः कश्चित्साधुः तथा प्रणीतं भक्तपानं प्रतीतं, आहारयेदश्नीयात्, तथा अति-बहुकं तथा अतिबहुशः, उक्तचकारात् अइप्पमाणं इति च, तत्रापि प्रमाणं भक्तपानं, लिंगव्यत्ययादतृप्यमानो वा साधुः, तस्येति शेषः, प्रमाणदोषः-आहारविषयं मानदूषणं मुणितव्यः-ज्ञातव्य इति, भेदषट्कप्रतिपादको गाथार्थः ॥ ६४४ ॥ तत्राऽऽद्यभेदत्रयस्वरूपमाह—

बत्तीसाइ परेणं० ॥ ६४५ ॥ व्याख्या—द्वात्रिंशतिः प्रतीतायाः कवलानामिति प्रक्रमः, परेणोर्द्धं त्रयस्त्रिंशदादिकवलैरितितत्त्वं भोजनमिति प्रक्रमः, अग्रेतनपदे नित्यग्रहणादिहैकस्मिन्नेव दिने ज्ञेयं, तत्किमित्याह-पगामत्ति अनुस्वारलोपात्प्रकामो-प्रकामाख्यं, तत्र केवलप्रकामत्वेनैतैरगलत्स्नेहबिन्दुभिर्ज्ञेयं, यदि तु गलत्स्नेहबिन्दुभिः स्यात्तदा प्रकामः प्रणीतश्चाद् द्वौ दोषौ स्यातां, एवं शेषदोषश-

इत्यमपि भावनीयं, नित्य पुनर्निरन्तरं द्व्यादीनि दानि, पुनः पुन शब्दो भण्यमान शुद्धन्यायक्रोम, तदेव प्रमाणभोजन, तुर्व्याल्पाद एव, निकाम-निकाममाख्य, यत्पुनर्यत्किमपि पुन गलत्सुत्यायमानेभ्यः कवलेभ्यस्येवत् स्नेहो घृतादिर्यत्र तत् प्रणीतमिति, त-प्रणीतमित्यनेन शब्देन तद्भोजन, तुदात्तीर्थंकरादय प्रुवते-वदन्तीति गाथार्थः ॥ ६४५ ॥ अतिबहुकादित्रिकसेवनदोषानाह—

अइबहुयं अइबहुसो० ॥ ६४६ ॥ व्याख्या—अतिबहुकमिति बहुकाख्य, तथा अतिबहुशो[भि] वा तथातिप्रमाणेन कारणभूतेनाक्रम्यमानेन वा साधुना यद्भोजन-अशनादिक भुक्त-अभ्यवहृत, हादयेद्-पुरीषाधिक्य कारयेत्, यद्वा वामयेद्वमथि-कारयेत्, यद्वा मारयेद्-मारणधर्मं कारयेत्, वाशब्दाः स्वस्थाने विकल्पार्थाः, तदिति बहुकादिभोजनं, अजीर्णं-अपरिणमत्, इह स्वरूपमविपाचनमस्यार्थेऽपि यद्बहुकादिप्रमाणप्रवृत्तस्य पूर्वे दोषा उक्तास्तदस्यात्मविराधनाविजनकत्वेनातिपरिहारतो मकटिता स्यात्, तथात्मविराधना मरणादे संयमविराधना तु तापनार्थे तेजस्कायादिविराधनात्या. प्रवचनविराधना औदरिक एव इत्यादिजनापवादात् उपलक्षणत्वात्प्रकामादित्रयभोजनेऽपि यथाऽनुरूपदोषा भावनीया इति गाथार्थः ॥ ६४६ ॥ अतिबहुकादित्रयस्वरूपमाह—

बहुयातीयमइबहुयं० ॥ ६४७ ॥ व्याख्या—बहुयातीय इति साध्यद्वित्रैककवलक्षेपात् एकस्मिन् दिने बहुक न्यूनोद-रतारहितत्वेन परिपूर्णं अतीत-अतिक्रान्त स्वप्रमाणाधिकमित्यर्थः, यदशनादिकमिति भुक्त इति च सर्वत्र योगः, तत्किमित्याह अति-बहुकमिति बहुकाख्य, स्यादिति सर्वत्रशेष, तथा अतिबहुशोऽति बहुशोऽभिधानं स्यात्, त्रिशः-त्रिवारा इति सामर्थ्यगम्य, भुक्ते यदशनादिक तिप्यदपि तिष्ठम्य. पुन परेणोपरत्वमतस्तद्गतादित्यर्थः, त चिपचि तदेवाशनादिकं यद्भक्षः, तत्किमित्याह-अहृत्प्रमाणादि अतिप्रमाणमिति प्रमाणाख्यमस्याप्यमेतन वाशब्दरक्षचित संस्कारांतरमाहन्त-अहृत्प्रमाणमतप्रमाणाख्य स्यात्, भुक्ते-अभ्यवहरति,

यदशनादिकं चेति व्याख्यात एवेति, अतृप्यमानो—अतिलौल्योऽतृप्तिं मन्यमानसाधुरिति गाथार्थः ॥ ६४७ ॥ एवं प्रमाणातिरिक्तस्याहारस्य भोजने साधो र्दोषा उक्ताः, अथ तस्यैव प्रमाणादियुक्तस्य भोजने गुणानाह—

हियाहारा मियाहारा० ॥ ६४८ ॥ व्याख्या—हिताहाराः—शरीरोपकारिभोजिना, तथा मिताहारा—द्वात्रिंशत्कवलभोजिनः, अल्पाहाराः—द्वात्रिंशत्कवलेभ्यः स्तोकतरभोजिनः, चः समुच्चये, ये केचन नरा—मनुष्याः स्युरिति शेषः, न—नैव तान्हिताहारादिभोजिनः वैद्याः—चिकित्सकाः चिकित्सन्ते—प्रतिजाग्रति, यतः अप्पाणंति आत्मनः स्वस्य षष्ठ्यर्थे द्वितीया, आत्मनेति शेषः, ते—हिताहारादिभोजिनश्चिकित्सका वैद्याः, (अ)हिताद्याहारनिषेधनादेव वर्त्तंत इति शेषः इति श्लोकार्थः ॥ ६४८ ॥ अनंतरश्लोके हिताहार उक्तः, स चाहितपरिहारपूर्वकः स्यादित्यहितहिताहारौ वाच्यौ, तौ च केवलौ संयोगतश्च स्यातां, तत्र संयोगस्तावदाह—

दहितिल्लसमाओगा० ॥ ६४९ ॥ व्याख्या—दधितैलायोः प्रतीतयोः समायोगो—मलिनं सः अहितः—कुष्ठविषविकारादिकारी, श्रूयते च समप्रमाणायास्तैलघृतयोर्मिलितायाः कियता कालेन विषपरिणतिर्भवतीति सर्वत्रयोगः, तथा क्षीरदधिकांजिकानां प्रतीतानामन्योन्यं च समायोगो, अहित इत्यनुवर्तनार्थं, उपलक्षणत्वात् क्षीरशाकसमायोगादिग्रहः, तथा पथ्यं प्लुतघृतगुडाद्यतिरुक्षद्रव्यमीलनं पुनः रोगहरं—व्याधिनाशकं भवति, एनमेवार्थं व्यतिरेकेण समर्थयन्नाह न—नैव, चः पूरणे हेतुः—कारणं भवति—जायते, रोगस्य व्याधेरिति गाथार्थः ॥ ६४९ ॥ "बत्तीसं किरिकवला ' गा. ६४२)" इत्यादिना कवलस्याहारस्य पुरुषाद्याश्रित्य प्रमाणादिकमुक्तमथ तस्यैव सपानस्योदरमाश्रित्य प्रमाणादिकमुक्तं, विभागेन प्रमाणमाह—

अद्धमसणस्स सव्वंजणस्स० ॥ ६५० ॥ व्याख्या—इह सर्वमेवोदरविवरं षड्भिर्भागैर्निरूप्यते, तत्र द्वे भागौ त्र्यं अशनस्य

कुर्यात्–विदध्यात्, तस्य द्रव्यस्य कांजिकादेः द्वौ–द्विसंख्यौ भागावद्धौ कुर्यात्, तथा वायुप्रविचरणार्थं–एकोऽपि शेषस्य षष्ठांशं न्यूनं हीनं कुर्यात्–विदध्यात् साधुः, अन्यथा हि वातः पीडां कुर्यादिति, पञ्च षष्ठेव भागाः प्रत्याख्येयो न इति गाथार्थः ॥ ६५० ॥ इदं चाहारमानं कालापेक्षया (प० १०९) स्यात्, स च त्रिधा, तथा चाह—

सीओ उसिणो साहारणो० ॥ ६५१ ॥ व्याख्या—शीत–शीतलो उष्णो–घर्मवान् साधारणो–मध्यम, क्रमशो वर्षाकाल उष्णकाल शीतकालश्च, च समुच्चये, कालो त्रिधा–त्रिविधः मुनिवर्यो–ज्ञातव्य, व्यवहारेणेदमुक्तं, येन वर्षाकालेऽपि श्रावणे स्तोकं भाद्रपदे तु बहुतरं शीतं स्यादित्यादेवमुष्णसाधारणयोरपि भावनीय, तथा वर्षाकालेऽपि यदा कष्टदिनी नक्षत्रं छादि तदोष्ण, उष्णकालेऽपि यदा वारिदिनी वहति तदा शीतकाल स्यादिति, निश्चयतस्तु वर्षाकालादीनां त्रयाणां मध्ये यत्र समये शीतमधिकं स शीतः, यत्र उष्ण स उष्णः, यत्र द्वयोरपि साम्य–साधारण कालः स्यात्, किंवा इत्याह–साधारण अनन्तरोक्ते काले पूर्वोक्ते, तत्र तेषां शीतादीनां मध्यमो मन्तव्यः, आहारे भक्तपानविषयो हुम " अद्धमसणस्से "त्यादि गाथो(गा० ६५०)क्त मात्रा–प्रमाणं स्यादिति शेष, न समन्तर वक्ष्यमाणगाथायां त्रिविधस्यापि कालस्य विषयं भागैर्भक्तपानमान प्रकार एव भणिष्यतीति, तेनैव स्यालपतितेन साधारणकालस्य विवक्षित ज्ञायते, किमत्र पृथगुक्तमिति ?, उच्यते, मूलकारिणेन [illegible] भाषान्यस्थापनार्थमिति गाथार्थः ॥ ६५१ ॥ त्रिविधमपि कालमाश्रित्य भागैर्भक्तपानैर्मानमाह—

सीए दवस्स एगो० ॥ ६५२ ॥ व्याख्या—इह भागवति[निकाय]शीत साधारण उष्णश्चेति कालत्रयम्. कार्य, तत्र भक्तपानयोर्द्वयोरपि षडेव भागा कार्या, तत्र शीते पूर्वोक्ते, द्रवस्य कांजिकादेः एक–एकको भाग स्यादितिशेष, भक्ते चत्वारः–चतुःसंख्या-

भाग इति पंच स्युः, साधोर्भोजनप्रमाणमिति सर्वत्र प्रक्रमः, साधारणो हि द्विधा-शीताऽपेक्षयोष्णापेक्षया च, तत्र यत्र न बहुशीतं स शीताऽपेक्षया मार्गशीर्षपोषौ, यत्र तृष्णता च बही स उष्णाऽपेक्षया माघफाल्गुनौ, तत्र शीताऽपेक्षतायां तमाह-अथवेति प्रकारान्तरद्योतकः, द्वौ-द्विसंख्यौ भागौ, पाने पूर्वोक्ते पानकस्येत्यर्थः, से इत्यत्रोत्तरत्र च यथा संभवं शेषः, सेसा उ भत्तस्स इत्यत्रोत्तर च योगाडुच्चरिता-स्त्रयो भागाः, पुनर्भक्तस्येति पंच, तथोष्णे पूर्वोक्ते द्रवस्य जलस्य, तत्र त्रिसंख्या भागाः स्युर्भक्तस्य पुनर्द्वौ भागौ स्त इति पंच, उष्णाऽपेक्षया साधारणमाह-द्वौ-द्विसंख्यौ स्तः, चेति प्रकारान्तरद्योतकः, द्रवस्येति प्रक्रमः, शेषास्तूच्चरिता त्रयो भागाः पुनः भक्तस्या-सनस्येति पंचः भागाः इति चत्वारः कालभेदा जाताः, परं नव एव ज्ञेयाः, साधारणयोर्द्वयोरपि तत्त्वत एकत्वादिति गाथार्थः ॥६५२॥

भागानां स्थिरचलत्वं गाथाद्वयेनाह—

एगो दवस्स भागो० ॥ ६५३ ॥ एत्थ उ तइय चउत्था० ॥ ६५४ ॥ व्याख्या—एकः-एककः द्रव्यस्य पूर्वोक्तस्य भागः षष्ठांशः अवस्थितो नित्यभावः स्यात् प्रक्रान्तानां पंचानां षष्ठांशानां मध्यात्, तथा भोजनस्य पूर्वोक्तस्य द्वौ-द्विसंख्यौ भागौ षष्ठांशौ स्तः, अवस्थिताविति प्रक्रमः, इति त्रयो भागा अवस्थिता नवृद्धिं गच्छतः, वा-विकल्पे हीयंति-हानिं गच्छतः, वा पूर्ववत्, दो दोवि द्वावेव २ प्रतीतौ साधारणमेतनशब्दलक्षभागौ शेषषष्ठांशौ तु व्याख्यात एव एकैके पाने भक्ते च, शीतादारभ्य उष्णं यावत्तस्य पानस्य वर्द्धेते भक्तस्य तु हीयेते, उष्णादारभ्य शीतं यावत्तस्य तु भक्तस्य वर्द्धेते पानस्य तु हीयते, शीते ह्येको भागो द्रवस्य स्यादमूत्ततः साधारण एको वर्द्धित उष्णे एको वृद्धिन इति द्वौ वर्द्धिता एकादावित्यादीति, अत्र होतेषां मध्यात् पुनः चतुर्थौ पूर्वोक्तौ तुभियचि द्वावेव प्रतीतौ अनवस्थितौ चलौ भवेतामिति भवेतां-जायेते भागौ षष्ठांशौ, तथा पंचममपि विभक्तिलोपात्पंचमः षष्ठः प्रथमो द्वितीय

एते प्रतीता एव, चः समुच्चये, अवस्थिता—सदावस्थायिन भागा षष्ठांशा स्तुरिति शेष, तत्र पञ्चमः पानविषय, षष्ठो वायुविषय प्रथमद्वितीयौ भक्तविषयौ तृतीयचतुर्थौ भक्तपानविषयौ, इह हि "अद्धमसणस्से"त्यादि गाथानु(गा० ६५०)सारत शीते प्रथमद्वितीय-तृतीयचतुर्था भागा भक्तस्य पञ्चमस्तु पानस्य स्यादत साधारणे प्रथमद्वितीयतृतीयभक्तस्य चतुर्थपञ्चमे तु पानस्य इत्यानन्तरोक्त काला-पेक्षया, अत्र काले चतुर्थभागस्य भक्त निष्काशात्त्यागे प्रवेशाधानवस्थितेनैवमुक्ते स्यात् तृतीयस्य तु साधारणे पानानि कोष्ठाग्रके प्रवेशाच्च सत्ये तृतीयस्यैवेत्थ शीते चतुर्थस्याशेषाणां चतुर्णामपि सर्वकालेषु विद्यमानत्वादवस्थितत्वं, इह भक्ते भागानां वृद्धि युगुक्षाया पथ्यापि सा यात्तु हान्यित्यादि भावनीयेति गाथाद्वयार्थ ॥ ६५२—५६४ ॥

इति वीरगणिविरचितायां पिंडनिर्युक्तिवृत्तौ प्रमाणाख्य पञ्चम द्वारं समाप्त ॥ ७ ॥

उक्त प्रमाणद्वारमथाङ्गारधूमाख्यद्वारद्वयावसरस्तत्राङ्गारधूमौ नामादि भेदाच्चतुर्धा, तत्र नामस्थापने पूर्ववत्, द्रव्याङ्गारस्तु काष्ठ-मग्निदग्ध निर्धूम ज्वलदङ्गाररूप, भावाङ्गारस्तु रागपरिणाम, द्रव्यधूमस्तु काष्ठादेर्दह्यमानस्य सक्त प्रतीत, भावधूमस्तु द्वेषपरिणाम, इह [redacted] भाव्याङ्गारभावधूमस्वरूपदोषाभ्यामधिकारस्तथा चाह—

त होइ सइंगाल० ॥ ६५५ ॥ व्याख्या—तदिकमभ्यशनादिक भवति—जायते अंगार पूर्वोक्तशब्दार्थश्चारित्रेन्धनदहनसमर्थो रागपरिणाम, [redacted] यदाभित्य साधुस्तेनाङ्गारेण सह वर्तते उपचारात्तदशनादिकमपि तथेति सहाङ्गारेण सागार, यत्किमपि आहार-मत्यभ्यवहरति मूर्च्छितो [redacted] ममेतदित्यादिरागवान् संभवन्, तदशनादिक पुन भवति—जायते, पुन पूर्वोक्त शब्दार्थश्चारित्रेन्धनस्य धूमायमानताकरणसमर्थो द्वेषपरिणाम, ततश्च पूर्ववत्सहधूमेन सधूमं यत्किमपि आहारमत्यभ्यवहरति निन्दन् क्रूरमेतदित्यादि दोषाद्

गृद्धनिति गाथार्थः ॥ ६५५ ॥ द्रव्याङ्गारधूमयोः स्वरूपमाह—

अंगारत्तमपत्तं० ॥ ६५६ ॥ व्याख्या—अङ्गारत्वं-द्रव्याङ्गारभावं अप्राप्तं-अगतं सन् ज्वलन्-दाहक्रियामनुभवन् इन्धन-काष्ठादि सधूमं तु-सधूममेव प्रोच्यत इत्यत्रापि योगः, तथा अंगारइत्यङ्गार एव ध्वनिना प्रोच्यते-भण्यते, तं चियत्ति तदेवेन्धन-दग्धं-सर्वथा ज्वलितं, तत्स्वरूपविशेषणमाह—गते-सर्वथा ज्वलितत्वेनायाते धूमे द्रव्यधूमे इहाङ्गारसधूमयोर्व्यत्ययेन व्यवधानमुपचिक्रमांगीकरणाज्ज्ञेयं पूर्वं हि काष्ठादिदह्यमानमर्धदग्धेपूर्णस्वभावं सधूमं स्यात्ततः सर्वथाज्वलनरूपामङ्गारतां भजतीति गाथार्थः ॥ ६५७ ॥ अथ रागसामर्थ्यमाह—

रागग्गिसंप्रलित्तो० ॥ ६५७ ॥ व्याख्या—रागः पूर्वोक्तः, स एव चारित्रे(प० ११०)वनदाहकत्वादग्निः ज्वलनस्तेन सम्यक्-सामस्त्येन पलित्तो दीप्त्यो व्याप्त इत्यर्थः, सः साधुः भुञ्जानो-अभ्यवहरन् प्राशुकमपि-निश्चेतनमपि न केवलमप्राशुकमित्यर्थः, उपलक्षणत्वादेषणीयमहः आहारं-अशनादिकं निर्दग्धं-सर्वथा काष्ठादिवहना निर्धूमा इत्यर्थः, सांगारः द्रव्याङ्गारस्तैर्निभं सत्तं, ततः करोति-विधत्ते परिणामवसाच्चारित्रमेव दाह्यत्वादिन्धनं ज्वलन् तत् क्षिप्रं-शीघ्रं, यथा अङ्गारैः काष्ठादिकार्यं न सिध्यति तथा तेन चारित्रेण कृत-दुःखमोक्षो न शीघ्रं लभ्यत इति गाथार्थः ॥ ६५७ ॥ द्वेषसामर्थ्यमाह—

दोसग्गीवि जलंतो० ॥ ६५८ ॥ व्याख्या—द्वेषः पूर्वोक्तः, स एव चारित्रेन्धनदाहकत्वेनाग्निः-ज्वलनः, सोऽपि न केवल रागाग्निर्निर्दग्धाङ्गारनिभं करोतीत्यर्थः, ज्वलन्-दाहक्रियां विदधन् अप्रीतिकं रूक्षोऽयमाहार इत्यादिवचनमुच्चारणं तदेव मलिनकारित्वसाम्याद्धूमो द्रव्यधूमस्तेन धूमितं धूमायमानीकृत् चरणं-चारित्रं अङ्गारो-द्रव्याङ्गारः स एव तन्मात्रं-तेन सदृशं-तुल्यं तत्, यावदिति

कालावध्युद्देशेन भवति—जायते, निर्दहति—प्लोषति, तावदिति कालावधिनिर्देशः तावन्निर्दहति यावदर्धदग्धमेव स्यादिति भावः, रागेण सर्वथा दग्धेन्धनसमं चारित्रं करोतीति स गुरु[र्दोषोऽपचयत्व]र्द्वेषोऽर्धदग्धेन्धनसममिति स लघुरिति गाथार्थः ॥ ९५८ ॥ प्रस्तुतद्वारद्वय-निगमनं सर्वदोषसंग्रहं चाह—

रागेण सइंगाल० ॥ ९५९ ॥ व्याख्या—रागेण पूर्वोक्तेन सांगारं—अङ्गारदोषदुष्टं भोजनमिति प्रक्रमः, तदेव द्वेषेण पूर्वोक्तेन सधूमकं-धूमदोषदुष्टं विजानीहि—बुध्यस्व, तदेवं षट्चत्वारिंशदिति संख्या दोषाः—आधाकर्मादिदूषणानि बोद्धव्याः—ज्ञातव्याः भाजनविधौ—अभ्यवहारकरणे, [illegible] अध्यवपूरकस्य किञ्चित्साम्यात् मिश्रान्तर्भावेन षोडशोद्गमस्य षोडशोत्पादनाया दशैषणायाश्चत्वारो ग्रहणैषणादोषाः पूर्वोक्ताः पञ्चमस्तु कारणाख्यो वक्ष्यमाणः ननु किमत्र पृथगुक्तः ?, इति, उच्यते पूर्वोक्तदोषैः शुद्धोऽप्याहारो नैतद्विना भोक्तव्य इत्यस्य प्राधान्यख्यापनार्थमिति गाथार्थः ॥ ९५९ ॥ कीदृशं किं निमित्तं चाहारं साधवो भुञ्जन्ते ? इत्याशङ्क्याह—

आहारति तवस्सी० ॥ ९६० ॥ व्याख्या—आहारयन्ति—भुञ्जन्ति तपस्विनः—साधवो विगतमङ्गारं क्रियमाणत्वाद्रूढो यस्मात् तदङ्गारं, च समुच्चये, एवं विगतधूमं, च समुच्चये, तदपि ध्यानं—धर्मध्यानादि, अध्ययनं—आचारादिपाठस्तन्निमित्तं—तदर्थमेव, एतद्वद्वय वक्ष्यमाणानां षण्णां वेदनोपशमादीनां मध्यात्षष्ठे धर्मचिन्तारूपे भेदे अवतरति, इह चास्य पृथगभणनं धर्मचिन्ताया मध्ये प्राधान्यख्यापनार्थं, एषोऽनन्तरोक्तो उपदेशः—आज्ञापनं प्रवचनस्य—आगमस्य स्यादिति शेषः, अशेषेषूद्गमादिदोषेषु जगत्त्रयकदर्थको रागद्वेषरूपो गुरुत्वमाविति ख्यापनार्थं क्रमभणनं, व्यक्तौ तौ दोषौ सङ्गावुक्ताविति गाथार्थः ॥ ९६० ॥ इति वीरगणिविरचितायां शिष्यहितायां पिंडनिर्युक्तिवृत्तावङ्गारधूमाख्यं षष्ठसप्तमं द्वारद्वयं समाप्तमिति ॥ छ ॥

उक्तमङ्गारधूमाख्यं द्वारद्वयमथ कारणद्वारमभिधित्सुः (आह)

छहिं कारणेहिं साहू० ॥ ६६१ ॥ व्याख्या—षड्भिः प्रतीतैः कारणैः–प्रयोजनैः साधुः–यतिराहारयन्नपि भुंजानोऽप्यनाहारयन्नेवेत्यप्यर्थः, आचरति–करोति धर्मं–पुण्यं, तथा षड्भिश्चैव–षट्संख्यैरेव कारणै–र्निमित्तैः, निर्व्यूहयन्नपि प्रकृतमाहारं त्यजन्नपि न केवलमाहारयन्नित्यप्यर्थः, आचरति–धर्मं करोतीति गाथार्थः ॥ ६६१ ॥ तत्राद्यानि कारणान्याह—

वेयणवेयावच्चे० ॥ ६६२ ॥ व्याख्या—वेयणत्ति सूचनाद्वेदनोपशमनार्थं–पीडापगमाय, तथा वेयावच्चेत्ति विभक्तिव्यत्ययाद्वैयावृत्त्यकरणाय आचार्यादिषु भक्तदानार्थं, तथा इरियट्ठाएत्ति सूचनादीर्याशोधनार्थं ईर्यासमितिपालनाय, चः समुच्चये, तथा संयमार्थं प्रत्युपेक्षणादिनिमित्तं, तथेति वाक्योपक्षेपे, प्राणप्रत्ययाय–जीवनायेत्यर्थः, इति पञ्चकारणानि, षष्ठं प्रतीतं कारणं पुनः धर्मचिन्तायै–श्रुतचारित्रधर्मपर्यालोचनार्थं भुञ्जीतेति सर्वत्र शेष इति गाथार्थः ॥ ६६२ ॥ एनामेव गाथां गाथाद्वयेन विवरितुमाह—

नत्थि छुहाए सारिसा० ॥ ६६३ ॥ इरिअं नऽवि सोहेई० ॥ ६६४ ॥ व्याख्या—न–नैव, अस्ति–विद्यते क्षुधा–बुभुक्षा सदृशा–तुल्या, अपरेति सामर्थ्यगम्यं, वेयणत्ति वेदना–पीडा यत इति शेषः, भुञ्जीत–अश्नियात्साधुः, तत्प्रशमनार्थं–वेदनाविनाशाय, तथा छाओत्ति बुभुक्षितो–भोजनरहितः, वैयावृत्त्यं–आचार्यादिभक्तदानादि न–नैवाचरति–शक्नोति कर्तुं–विधातुं यत इति शेषः, अतोऽनेन कारणेन भुञ्जीत–अभ्यवहरेदिति, तथा ईर्यामीर्यासमितिं प्रतीतं, चः समुच्चये, न–नैव शोधयति–पालयति, बुभुक्षितशब्दोऽत्रोत्तरत्र च प्रक्रान्तः किंतु प्रथमांतः षष्ठ्यांतश्च यथासंभवं व्याख्येयं इति, बुभुक्षितः सन्, तथा बुभुक्षितः प्रेक्षादिकं–प्रत्युपेक्षणाप्रमार्जनादिकं, चेति समुच्चये, संयमशब्दात्परतो योज्यः, संयमं प्रतीतं कर्तुं–विधातुं न तरतीति, पाश्चात्यगाथाया अनुवृत्तिः, तथा

बुभुक्षितस्य ध्यान नश्य चेति समुच्चये परिहीयते–क्षीयते, तथा बुभुक्षित गुणऽनुप्रेक्षासुचि नकारलोपात्गुणानुप्रेक्षयो', पूर्वाधीत- श्रुतस्य परावर्तने–अर्थचिन्तनिकायां च असक्त इति परतो योज्य', असक्तो–असमर्थ स्यादितिशेष, यतो मुनीतेति पाश्चात्यगाथाया सर्वत्रानुवृत्तिरिति गाथाद्वयार्थ' ॥ ६६३–६६४ ॥ अभोजनकारणानि विभणिषुस्तत्प्रस्तावनार्थं षष्ठस्याभोजनकारणस्य विवरणार्थं चाह—

अहवा ण कुज्जाहारं० ॥ ६६५ ॥ व्याख्या—अथवेति भोजनकरणापेक्षया विकल्पार्थं, न–नैव कुर्यात्–विदध्यात् आहार- भोजन बहुभिः मतीते स्थाने'–चरमरूपे पदे., संयत –साधु, यत "सर्वशाम्यनुष्ठानस्य मरणाराधनासारे"ति तस्यां महाप्रयत्नो विधेय इत्यस्यार्थस्य ख्यापनार्थं वक्ष्यमाणमपि षष्ठमभोजनकारणं व्याख्यानयन्नाह–पश्चात्–शिष्यनिष्पत्तिकरणादेरुपरि, प्रथम हि शिष्य निष्पादनादिमेव, पश्चिमकाले–इहत्ये, अन्यथा हि मायो बुभुक्षाऽऽदिव्यादिनाऽऽहार(प० २२१)परिहारो दुष्कर' स्यात्, कृत्वा– विधाय आत्मानमिति शेषः, अथवा प्रथममेव संलेखनाकरणेन क्रोध'स्तोकोत्थानादिरूपा कृत्वा शक्तियस्य त समर्थशरीरे आहारपरित्यागे माय आर्तध्यानमुपयाति, तथा क्रम–विशेषत समयुक्तथाऽयोग्यमनुपक्रान्तो हि संलेखनयाऽपि एव सुगतेः साधको न स्यात्, आहारपरिहारे साधुरिति सामर्थ्यगम्यं, यद्वा पश्चा इति भन्तो योज्यमिति, पश्चिमकाले–संलेखनाप्रस्तावे कृत्वा–विधाय आत्मक्षमो- क्षान्तिविशेषत उपशमे स्थितेरयर्थं, पश्चात्तु परिहरेदिति पूर्ववदिति श्लोकार्थः ॥ ६६५ ॥ अस्यावतोऽन्ये वाऽभोजने कारणन्याह—

आयंके उवसग्गे० ॥ ६६६ ॥ व्याख्या—आतङ्के–आकस्मिकरोगे न भोक्तव्यमिति सर्वत्र प्रकम, तयोपसर्गे–स्वजनादौ, तथा तितिक्षार्थं पाठनायेरयर्थं', कासामित्याह ब्रह्मचेरगुत्तीसुचि ब्रह्मचर्यगुप्तीनां–मैथुनविरतिरक्षाविशेषाणां, षष्ठ्यर्थे सप्तमी, तथा प्राणिदया– जीवानुकम्पा, एष पूर्वोक्त, त एव हेतु कारण तं आश्रित्येति शेष', तथा शरीरव्यवच्छेदनार्थं–देहत्यागाय, च समुच्चयार्थो लुप्तो

दश्य इति गाथार्थः ॥ ६६६ ॥ एनामेव गाथां गाथाद्वयेन व्याख्यानयन्नाह—

आयंको जरमाई० ॥ ६६७ ॥ तत्रहेउ चउत्थाई० ॥ ६६८ ॥ व्याख्या—आतङ्कः पूर्ववत्, जरमाई इति जरादि, अजीर्णप्रभृति, मकारः पूर्ववत् भण्यत इति, तत्रेति च शेषः, भवत्यनाहारः साधुरिति सर्वत्र शेषः, उपवासः कुर्वतो हि प्रायो ज्वरादयः (याति), तथा राजा केनाऽपि कारणेन कुपितो नृपतिरनेन प्रतिकूल उक्तः सज्ञायकाः प्रव्रज्यामो च नात्यर्थं अवस्थिताः स्वजना अनेन स्वनुकूल उक्तः, वा विकल्पे, किमित्याह—उवसग्गोत्ति उपसर्ग—स्वलीकरणं प्रथमा द्वितीयार्थे कुर्वन्तीति शेषः, तत्रेत्यनुवृत्ति, स ह्युपवासाः कुर्वन्तं प्रायस्ते मुञ्चन्ति, तथा ब्रह्मव्रतपालनार्थं उपवासा हि कुर्वतः कामोऽशक्रामति, तथा पाणिदया इति सूचनात्प्राणि-दयार्थं—सत्त्वरक्षणायेत्यर्थः, वासमहियाई इति विभक्तिव्यत्ययाद्वर्षमहिकादौ—जलवृष्टौ निश्चयतः सचित्तवृष्टिविशेषे च, आदिशब्दात् सचित्तरजःपातप्रभृतिमहः, मेघवृष्ट्याऽऽदौ ह्युपवासं करोति, येन भिक्षाटनादिजाता कायादिविराधना न स्यादिति, तथा तपोहेतुस्तपोर्थं, कथंभूतं तप इत्याह—चतुर्थायेकाद्युपवासप्रभृति यावद्—कालावधिनिर्देशे, चः पूरणे, षड्भिर्मासैर्निष्पन्नं षण्मासिकं, तपः पूर्वोक्तं भवति—जायते, षण्मासिकत्वभणने कारणं—निमित्तं सत्वंति माणिऊणमित्यादि (?) गाथोक्तं ज्ञेयमिति पञ्चाभोजनकरणानि, तथा षष्ठं प्रतीतं अभोजनकारणं भवतीत्यनुवृत्ति, यत्किमित्याह—शरीरव्यवच्छेदनार्थं—संलेखनाक्रमेण वृद्धभावे मरणाय भवति—जायते अनाहारो—निर्भोजनः साधुरिति गाथाद्वयार्थः ॥ ६६७-६६८ ॥ तत् षट्कं निगमयन्नाह—

*एएहिं छहिं ठाणेहिं, अणाहारो उ जो भवे । धम्मं नाइक्कमे भिक्खू, धम्मज्झाणरओ भवे ॥ ॥

* एषा गाथा श्रीमलयगिरिसूरिप्रणीतवृत्त्यादर्शेषु तु बहुषु न दृश्यते श्रीक्षमारत्नसूत्रितावचूरौ(प० ११९) न दृश्यते, अत्र मलयगिरिवृत्त्यानुगताङ्का अतोऽङ्को नोद्धृतः।

पतैरातद्धादिभि' षड्भिरेव प्रतीतैरवधारण सुशब्दयोजनाद्वोम, स्थाने पदेरनाहार –उपवासी, तुर्याल्यात एव, सः कश्चित्साधुः भवेद्–स्यात् धर्मं–पुण्य ते नैव अतिक्रामेत्–त्यजेत् स इति विशेष भिक्षु –साधुः, यदि किमित्याह धर्मध्यानरत'–शुभाध्यवसायासक्त भवेत्–स्यादिति श्लोकार्थः ॥ ग्रन्थोपसंहारे चिकीर्षु पूर्वोक्तसमस्तदोषकथनायाह–

सोलस उग्गमदोसा० ॥ ६६९ ॥ व्याख्या—षुगमा केवल, तु समुच्चये, मकारोऽलाक्षणिकः, [redacted] पूर्वसंस्तवपश्चात्संस्तवा-न्यामेक एव संस्तवाख्यो दोष एव, चूर्णयोगौ तु भिन्नभिन्नौ द्वौ दोषावुक्तौ, क्वापि ग्रन्थे व्यत्ययो दृश्यते, इति सर्वे सप्तचत्वारिंशत्, एतान् दोषान्विशोधयन् साधु' पिण्ड विशोधयति, तद्विशुद्धो तु चारित्र निर्मलयति, तन्निर्मलत्वात् तु शीघ्रमाप [redacted] सिद्धगत निर्वाण, निर्वाणमवाप्नोति, तस्मान्मुमुक्षुभिरेतद्भ्रमादिदोषे शुद्धो पिण्ड एषितव्य इति गाथार्थः ॥ ६६९ ॥ ग्रन्थस्योपसंहारार्थं स्वमनीषिका-रचितस्यपरिहारमपवाद चाह—

एसो आहारविही० ॥ ६७० ॥ व्याख्या—एष –सकलमन्योक्त , आहारस्य–पिण्डस्य विधि –विधान–शुद्धाऽशुद्धतया निरू-पणमित्यर्थ', स यथा–आधाकर्मादिभेदरूपप्रकारेण भणित –उक्त सर्वभावदर्शिभि –समस्तजीवादिपदार्थावलोककैस्तीर्थकरैरित्यर्थः, अनेन ग्रन्थस्यादेयता स्यात्, तथा मयाऽपि स्वमतिविभवानुसारतो ग्रन्थतया ग्रथीति शेष , किं बहुना ? धर्म'–श्रुतचारित्ररूप आव-श्यकरूप –प्रतिदिननियमकरणस्वभाव योगाश्च–प्रत्युपेक्षणादिव्यापारा धर्मावश्यकयोगाः येन केनचित् यथोचितमाधाकर्माद्यासेवा-रूपप्रकारेण न–नैव हीयन्ते–हानिर्यान्ति, तत्–तदेव कुर्याद्–विदध्यात्, अनेनोत्सर्गापवादाभिज्ञेन साधुना भाव्यमित्युक्त स्यादिति गाथार्थ ॥ ६७० ॥ केचेत्यमपवादमासेवमानस्य साधो पृथिव्यादिविराधनापि निर्जराफला स्यादित्येतदेवाह—

जा जयमाणस्स भवे० ॥ ६७१ ॥ व्याख्या—या काचित् यतमानस्य—ग्लानाद्यवस्थायां गुरुदोषपरिहारेण लघुदोषासेवां कुर्वतः भवेत्–स्यात् विराधना—पथ्यादौ क्रियमाणे पृथिव्याद्युपमर्दादि सूत्र०–आचारादिकं विधिः—प्रस्तावाद्यथावद् यो विधानं, तयोः समग्रस्य यावद् यः गीतार्थस्येत्यर्थः, सा विराधना भवति—जायते निर्जराफला—कर्मशोधिका, अध्यात्मं—चित्तं तस्य विशोधिः—यथौचित्येन प्रवर्त्तनाद्रागद्वेषाभावरूपा निर्मलता तया युक्तः—समन्वितस्तस्य साधोः, इत्युक्ता ग्रासैषणा, तदुक्तौ समाप्तैषणा इति गाथार्थः ॥ ६७१ ॥

इति वीरगणिविरचितायां शिष्यहितायां पिण्डनिर्युक्तिवृत्तौ कारणाख्यमष्टमं द्वारं समाप्तमिति ॥ तत्समाप्तौ च समाप्ता पिण्डनिर्युक्तिवृत्तिरिति ॥

भो भव्या ! इह हि जन्मजरामरणनीरनिकरपूरिते बहुप्रकारपरिभवपातालोल्वणे मोहमहावर्तसंवर्तनदुरुत्तारे कषायवडवानलज्वालाकराले रोगशोकदारिद्र्यप्रभृतिकमत्स्यकच्छपग्राहादिक्षुद्रसत्त्वसत्त्वसमाकुले विविधव्यसनव्याघ्रसिंहादिश्वपददुःसंचारमार्गे प्रियवियोगाप्रियसंप्रयोगचलद्वीचिनिचयनिचिते करणरणरसिकतस्करनिकरनिरुद्धप्रचारे परमाधार्मिकादिकदर्थ्यमाननारकादिसत्त्वैककालसमुच्छलितकरुणहाहारवघोषाकरे समस्तदुःखनिभृतानि नारकतिर्यग्जन्मनिमज्जनानि नरामरजन्मोन्मज्जनानि वाऽनन्तशो यूयं विदधाना संत आधाकर्मादिसप्तचत्वारिंशद्दोषशुद्धिफलकसंघट्टघटितं मनःशुद्धिगाढबंधनबद्धं वाक्शुद्धयुत्तंभितमहाकूपस्तम्भं कायशुद्धिविस्तारितसितसितपटं निर्लोभतानिर्यामकाधिष्ठितं दत्तावधाननररक्षितापायं 'किमनयोरशुद्धा (?) मनिष्टं लभे(भ्येत) तज्जुज्यत' इत्यादिकुतीर्थिकवचननिचयविषम(म)वाताद्युपसर्गसहस्रोपनिपाताऽक्षोभ्यं श्रीमन्महावीरेण सकलशुद्धप्रवहणनायकेन करुणापरेण समस्तसत्त्वोत्तरणाय व्यवस्थापितं पिण्ड-

निर्युक्तिपोत कथमपि महापुण्यप्राग्भारेण लब्ध्वा विलम्ब्य किं तर्हि ? यथोक्तमार्गपालनारोहणेन नरगतिमाश्रित्य निर्वृतिपुरं गच्छत, येन तत्रानन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यसंयुक्ता निराकुला सदैव तिष्ठथेति ॥

श्रीलाटदेशतिलकश्रीवटपद्रक-विशालपुरगतयोः । श्रीभिल्लवालकपर्कटवा(ज्ञा)तिव्योमेन्दुनिर्मलयोः ॥ १ ॥
श्रेष्ठिवरवर्द्धमान-धामिल्यो(?)स्तीर्थनाथमुनिनमने । रतयोर्वसन्तनाम्ना ज मोतपपि समाश्रित्य ॥ २ ॥
प्रव्रज्याग्रहणं पुनराश्रित्य विशुद्धसाधुगुणधाम्नां । वसतिविहारि-श्रीचन्द्रगच्छगगनेन्दुकल्पानां ॥ ३ ॥
संस्थापितनाम्ना श्रीसमुद्रघोषाभिधानसूरीणां । धीर इति प्राप्तापरनाम्नाऽत्यन्त विशुद्धधिया ॥ ४ ॥
दीक्षायाः परिपाकमाश्रित्य तु सकलवसतितिलकानां । श्रीमरवालकगच्छस्य-वाचनाचार्यवर्याणां ॥ ५ ॥
अधीश्वरगणिनाम्नां सुतेन संप्राप्तवीरगणिनाम्ना । एकादशशतोपरि षष्टिकसंवत्सरे ॥ ६ ॥
वटपद्रग्रामे कर्करोणिकापार्श्ववर्तिनि प्रवरे । शोभानुसारतोऽकारि पिण्डनिर्युक्तिवृत्तिरियं ॥ ७ ॥
तेषां सेवांवेश्वर(?)गणिना, श्रीमन्महेन्द्रसूरिवरा । सकलागमपारगताः धर्मकथाकथननिरताश्च ॥ ८ ॥
अन्येऽपि देवचन्द्राभिधानगणिनः प्रधानमन्त्रज्ञाः । उचितज्ञाः अभ्यर्थितशुद्धाः संग्रहपराश्च दृढ ॥ ९ ॥
अन्येऽपि देवचन्द्राभिधानगणिनः क्रियापराः सरलाः । क्षान्त्यादिधर्मनिपुणाः परहितरतयो विनीताश्च ॥ १० ॥
एते त्रयोऽपि शिष्याः, सकलजनानन्ददायिनोऽत्यर्थं । देवानामपि भव्या नन्दन्तु चिरंतना वक्ये ॥ ११ ॥
येषां भक्तप्रदानमुख्योपष्टम्भप्रसादेन । निरन्तरां निराकुलवाकारि मयैषा स्फुटा वृत्तिः ॥ १२ ॥

श्रीनेमिचन्द्रसूरिश्रीजिनदत्ताभिधानसूर्याद्यैः । श्रीमदणहिल्लपाटकपुरे यशोधीयसुपयुक्तैः ॥ १३ ॥
पश्यति तथाऽपि यदि कोऽपि दूषणं किञ्चिदल्पमितरद्वा । तन्मयि कृतानुकम्पः स शुद्धधीः शोधयेद्विबुधः ॥ १४ ॥
कस्य न च्छद्मस्थस्यानाभोगः स्यादतीव विदुषोऽपि । नितरां विमुग्धबुद्धेः किं पुनः मादृशजनस्य ॥ १५ ॥
यावच्चन्द्रो यावच्च भास्करो यावदमरगिरिमुख्याः । तिष्ठन्ति जगति तावन्नन्दतु सुतरामियं वृत्तिः ॥ १६ ॥ इति ॥
वृत्तिमिमां कृत्वा यत्किञ्चिदुपार्जितं मया पुण्यं । तेनैतस्या पाठे समुद्यतो भवतु साधुजनः ॥ १७ ॥
एवं सप्तसहस्रा शतषट्कं चैकसप्ततिश्चास्याः । द्वात्रिंशदक्षरमितैः श्लोकैः सर्वप्रमाणमिति ॥ १८ ॥

ग्रन्थाग्रश्लोकसंख्यायां ७६७१ ॥

इति वीरगणिविरचिता शिष्यहिता नाम पिण्डनिर्युक्तिवृत्तिः समाप्तेति ॥ छ ॥
शिवमस्तु सर्वजगतः ॥ शुभं भवतु ॥ छ ॥

दशम परिशिष्टम् ।

माणिक्यशेखरसूरिकृता पिण्डनिर्युक्तिदीपिका ।

आद्यभागः

श्रीआचाराङ्गे द्वितीयश्रुतस्कन्धे अथ दशवैकालिके पञ्चम पिण्डैषणाध्ययन, अस्य निर्युक्तिर्महार्थत्वात् श्रीभद्रबाहुना पृथक्कृता, सा पिण्डनिर्युक्तिरितिप्रसिद्धा, अस्या अर्थमात्र कथामात्र च लिख्यते, या पिण्डैषणानिर्युक्तिर्दशवैकालिकपंचमाध्ययनस्यास्ति सा स्तोकार्था एवा तु विस्तरार्था, पिण्डैषणाया निर्युक्तिः पिण्डनिर्युक्तिरितिमध्यपदलोपिसमासः, मगक तु " वदित्तु सवसिते " इत्यादिना आचारनिर्युक्तौ शस्त्रपरिज्ञाध्ययने यथ श्रीभद्रबाहुनोक्त तिमस्ति, अथार्थाधिकारसंग्रहगाथामाह—

पिण्डे उग्गम उप्पाय० ॥ १ ॥ पिण्ड संघाते, पिण्डनं पिण्ड बहूनां सं(समुदायः)× × ×

× × × (तुकुमा)रिकादीनां सम्हावे सह योजनं, सा द्विधा द्रव्यभावाभ्यां ४, ततः प्रमाणमाहारस्य वाच्य, ५, च समुच्चये, तत अङ्गारदोष ६, ततो धूमदोष ७, तत कारणाघाहारस्य भोजन(क)भोजनयोर्वाच्यानि ८, अष्टधेति महार्थाधिकारे पिण्डनिर्युक्तेः-पिण्डैषणाया निर्युक्तिर्वाच्या, पिण्डार्थस्त्वादो भिन्न एव, पिण्डैषणाध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि उपक्रमादीनि, तत्र नामनिष्पन्ने निक्षेपे पिण्डैषणाध्ययनं नाम, तत्राध्ययन प्राग् द्रुमपुष्पिकाध्ययने व्याख्यात पिण्ड एषणा च वाच्या, तेन सम्बन्धेनायाता, आदौ पिण्डव्याख्या ॥ १ ॥ तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्येति पिण्डपर्यायानाह—

---

१ यस्याः प्रतेरियं प्रतिकृतिः [illegible]स्ति सा जीर्णाऽस्वास्थ्यपत्रा बहुषु स्थानेषु खण्डिता वर्तते, अतः तत्र तत्र स्थानेषु × एतचिह्नं स्थापितम् ।

पिण्ड निकाय० ॥ २ ॥ ×(निकायः भिक्षुका)दिसंघाते समूहे (मनुष्या)दिवृन्दे सपिण्डनः–सेवादीनां खण्डपाकादिना संयोगे, पिण्डनाऽपि तत्रैव किन्तु मीलनंमात्र संयोगे, समवायः–वणिगादिसंघाते, समवसरणः–अर्हतः सदेवनरासुरसमे, निचयः–शूकरादिवृन्दे, उपचयः–पूर्वावस्थातः प्रचुरीभूते संघातभेदे, चयः–इष्टिकारचनायां, युग्मः–पदार्थद्वयसंघाते, राशिः–पूगाद्योघे, वाः समवये, एते शब्दाः किञ्चिद्विशेषेऽपि सामान्येनैकार्थाः व्रजत्वात् ॥ २ ॥ उक्ताः पर्यायाः, पिण्डभेदानाह—

पिण्डस्स उ निक्खेवो० ॥ ३ ॥ पिण्डस्य निक्षेपो नामादिन्यासः, तुः पुनः, चतुष्ककः षट्कको वा कर्त्तव्यः ॥ ३ ॥

कुलए चउब्भागस्स० ॥ ४ ॥ यथा कुडवः–चतुःसेतिकामाने चतुर्भागस्य सेतिका मात्रस्य सम्भवः तत्राऽवश्यं स्यात्, एवं षट्के निक्षेपेऽवश्यं चतुर्णां निक्षेपस्य चतुष्करूपस्यैवं नियमेन संभवोऽस्ति, तस्मात्षट्कं अहं निक्षिपामि–षट्कनिक्षेपं वच्मि, षट्कनिक्षेपेण चतुष्कनिक्षेपस्योक्तत्वादेव ॥ ४ ॥

नामंठवणापिण्डो० ॥ ५ ॥ नामपिण्डः, स्थापनापिण्डः, द्रव्यपिण्डः, द्रव्यस्य पिण्ड इत्यर्थः, क्षेत्रे क्षेत्रपिण्डः, कालपिण्डः, भावपिण्डश्च, एष उक्तः, खलु, पिण्डस्य प्राकृतत्त्वात् आकारः, निक्षेपः षड्विधः ॥ ५ ॥ नामपिण्डमाह—

गोण्णं समयकयं वा० ॥ ६ ॥ यत्पिण्डशब्दरूपं नाम स नामपिण्डः, नाम चासौ पिण्डश्चेति युक्तेः, नाम चतुर्धा गौणं समयजं तदुभयं अपिशब्दादनुभयजं च, गुणादागतं, तत्र शब्दव्युत्पत्त्यर्थो योऽर्थो, यथा–ज्वलनस्य दीपनं "ज्वल दीप्तौ" इति, स च गुणः, गुणाश्चेह परतन्त्रोक्ताः, न पारिभाषिको रुपादिः, तेन यद्यस्य व्युत्पत्तिकृत् द्रव्यं गुणः क्रिया वा स गुण उच्यते, तत्र द्रव्यं व्युत्पत्तिकृत् दन्ती शृङ्गी, गुणः जातरूपं हेमं स्वादुरसा श्वेत इत्यादौ, क्रिया तपनः श्रमणः दीप्तो हिंस्रो ज्वलन इत्यादौ गोजातिर्नाम्नो व्युत्पत्त्यै

समयकृतः नामपिण्डः, नामनामवतोरभेदोपचारादेवं निर्देशः, उपचाराभावे तु तद्वस्तुनि तत्पिण्ड नाम समयजं, एतद्दर्शयति यद् आचारस्य सूत्रे पिण्डेति पिण्डपातः, "पडियाई" शब्देन प्रतिज्ञाऽहं भिक्षां लप्स्य इति विचारणा—"पिण्डवायपडियाए अणुपविट्ठे" इत्यादि प्रागुक्तं, अयं भावः—अत्र सूत्रे सरद्रव्यश्लेषाभावेऽपि नीरे पिण्डाख्याऽन्वर्थहीना समये प्रयुक्ता इदं समयजं ॥ भा० २ ॥ अथोभयजं—

जस्स पुण पिंडवायट्ठया० ॥ भा० ३ ॥ यस्य साधोः पुनः पिण्डपातार्थतया पिण्डपात—आहारलाभस्तदर्थं गृहिगृहं प्रविष्टस्य गुडोदन × × ×

गोण्णसमयाइरित्तं० ॥ भा० ॥ ५ ॥ इदं पिण्ड इति नाम, अन्यदा गोणसमयजभिन्नमपिशब्दसूचितमस्ति, यथा कस्यापि मनुष्यस्य पिण्ड इति नाम क्रियते, तद्धि न गौणं बहुद्रव्याश्लेषात्, देहावयवौघस्याधीनत्वात्, न च समयजं, अत उभयातिरिक्तं. ननु समयजोभयातिरिक्तयोर्न विशेषः, उभयत्रान्वर्थस्यानयोरथताभावात्, तत्किं द्वे उक्ते ? सांकेतिकमेवोच्यतां, एवं द्वयोर्ग्रहणं स्यात् ? इति चेन्न आशयाज्ञानात्, यतो यल्लौकिकं नाम सांकेतिकं तज्जनाः सामयिका आद्रियन्ते, यत्पुनः साङ्केतिकं तत्सामयिका एव न त्वन्ये ॥ भा० ५ ॥

× × इहाभिप्राये इतिपदैकदेशे पदसमुदायोपचारादभिप्रायकृतत्वे तुल्येऽपि समयप्रसिद्धं लोको न गृह्णाति, न कापि समुद्देशशब्देन समयसिद्धेन जनो भोजनं व्यवहरति, यत्पुनर्लोके प्रसिद्धं तत्सामयिका उपचरन्ति. एवं समयजोभयातिरिक्तयोर्भेदोऽर्थनान् पृथगाद्यः, एवं गोणसमयजोरपि स्वभावभेदोक्त्या पृथक्त्वं सार्थकं, यतो यद्यपि गौणोभयजयोः सान्वर्थता त्वर्थत्वेनाविशेषं, परं जनाः सामयिका गौणं व्यवहरन्ति, उभयजं तु सामयिका एव नान्ये, तेनैषां हेत्व × × × ।

× (अक्खे वराडए० ॥ ७ ॥) आकारः साक्षाद्दृश्यते सा सद्भावस्थापना पिण्डस्य, यदाऽक्षादेरेकस्य पिण्डत्वेन स्थापना एष

मे पिण्ड इति, यथा तत्र पिण्डाकारस्यासद्भूतस्यासद्भावे स्थापना पिण्डस्य, अक्षोपस्थाक्षादिस्थस्य वा विवक्षणात्, चित्रकर्मण्येकपिण्डालिखनेन पिण्डस्थापना, यथैष पिण्ड आलिखित इति, तथा बहुद्रव्यलेखाकारावर्णनादसद्भावे पिण्डस्थापना, यथा ह्येकचित्रलेखनेऽपि एष गुडपिण्डादिर्मया लेखि इति विवक्षा तदा सद्भावपिण्डस्थापना ॥ ७ ॥ अत्र भाष्यं—

इक्को उ असब्भावे ॥ भा० ७ ॥ एकोऽक्षो वराटकोऽङ्गुलीयकादिर्वा यदा पिण्डत्वेन स्थाप्यते तदा पिण्डस्थापना असद्भावे, इतरेतार्थे, पिण्डाकृतेरज्ञेयत्वात्, अक्षापेक्ष्योपस्याविवक्षणात्, यदा तु बहूनामक्षादीनां अङ्गुलीयादीनां वा मिथ एकत्र क्षेपे पिण्डस्थापना तदा सद्भावे, पिण्डाकृतेर्दृश्यत्वात्, एवं द्वयोर्बहूनां च क्षेपेऽपि पिण्डस्य, यथा चित्रेष्वेकचित्रालेखासद्भावे स्थापना, बहुचित्रालेखेन बहुद्रव्योपात्तपिण्डस्थापना सा सद्भावस्थापना, पिण्डाकृतेस्तत्र दृष्टेः, तथा दारुकलेप्योपलेषु पिण्डाकृतेर्या पिण्डस्थापना स इत्वर-सद्भावस्थापना पिण्डः, एवं उक्तः स्थापनापिण्डः ॥ भा० ७ ॥ अथ द्रव्य[स्थिर]पिण्डः द्विधा—आगमनोआगमाभ्यां, आगमतः पिण्डशब्दार्थज्ञस्तत्रानुपयुक्तः " अनुपयोगो द्रव्यं ", नोआगमतस्त्रिधा ज्ञशरीरद्रव्यपिण्डः स शरीरद्रव्य × × ×

(पुढवी आउक्काओ० ॥ ९ ॥) × × × चतुरिन्द्रियपिण्डः पञ्चेन्द्रियपिण्डश्च ॥ ९ ॥ एतानथभेदान् व्याख्याऽऽहपाति—

पुढवीकाओ तिविहो० ॥ १० ॥ पृथ्वीकायस्त्रिविधः—सचित्तो मिश्रोऽचित्तश्च, सचित्त पुनर्द्विधा—निश्चयतो व्यवहारतश्च, ॥ १० ॥ यथा—

निच्छयओ सच्चित्तो० ॥ ११ ॥ निश्चयतः सचित्तः पृथ्वीकायः घर्मादीनां क्ष्माणां मेर्वादीनां महाद्रीणां बहुमध्यभागे, एवं टङ्कादीनां च ज्ञेयः, तत्र अचित्ततायाः मिश्रतायाश्च हेतूनां शीतादीनामसम्भवात्, शेष वक्ष्यमाणमिश्राचित्तवर्ज्यः, निराबाधारण्यभुइ

व्यवहारसचित्तः ॥ ११ ॥ मिश्रपृथ्वीकायमाह—

खीरदुमहेट्ठपंथे ॥ १२ ॥ क्षीरद्रुमाः-वटाश्वत्थाद्यास्तेषामधस्तले पृथ्वीकायः मिश्रः, तत्र क्षीरद्रुमाणां माधुर्येण शस्त्रत्वाभावात् कियान् सचित्तः शीतादिशस्त्राच्च कियानचित्त इति मिश्रः, अत्र व्याख्यासंशयः (?), [चकारात्] तथा पथि ग्रामे पुरबहिर्यः पृथ्वीकायः स मिश्रः, तत्र गन्त्रीचक्राद्युत्खातः स कियान्सचित्तः, शीतवातोर्वैरचित्तीकृतः कियांश्चेति मिश्रः, कृष्टो हलेनादौ मिश्रस्ततः शीताद्यैः कियानचित्तीकृत इति मिश्रः, तथाऽऽर्द्रोऽम्बुमिश्रः यावतम्बुशस्त्रं पृथ्व्याः, ततो मिश्रो जलार्द्रोऽन्तर्मुहूर्त ततोऽचित्तः, × × ×

× × × पः सोऽग्निनैवाग्नः सोऽपि स्वकायशस्त्रं, एवमन्यान्यपि स्वान्यकायशस्त्राणि ज्ञेयानि, यथा कटुरसो मधुररसस्य स्वकायशस्त्रं इत्यादि, एवं पृथ्वीकायश्चतुर्धाऽचित्त उक्तः, द्रव्यतः स्वान्यकायाभ्यागचित्तता, क्षेत्रतः क्षारादेः क्षेत्रजान्मधुरादिक्षेत्रजस्य, रक्तवर्णस्यान्यवर्णस्य साऽचित्तता, अत्र क्षेत्रप्राधान्यविवक्षा, यथा योजनशतात् पृथ्वीकायस्याचित्तता भिन्नाहारत्वात् शीतादिसंगाच्च, क्षेत्रांतरेण परावृत्तेः, इत्यमप्कायादिष्वप्यचित्तत्वं ज्ञेयं, यथा वनस्पतौ हरीतक्या औषधाद्यर्थं अचित्तता स्पष्टा, कालेनाचित्तत्वं आयुःक्षयेण, तच्छद्मस्थानामज्ञेयं, अत्र तडागाऽंभो दृष्टान्तोऽचित्तत्वे श्रीसंदेहः वीरस्य भगवतः, अचित्तता पूर्ववर्णादित्यागादन्यवर्णादित्वं, उक्तोऽचित्तपृथ्वीकायः। एतेन साधुसाध्यमाह-व्युत्क्रांतयोनिना गतयोनिना प्रासुकेनेदं वक्ष्यमाणं प्रयोजनं तेन स्यात् ॥ १३ ॥ यथा—

अवरद्धिगविसबंधे० ॥ १४ ॥ अपराद्धिको-लूतास्फोटः सर्प्पादिदंशो वा, विषं, तथा दद्र्वादौ च बंधे उपशमनाय, प्रलेपः अचित्तक्ष्मारानं, गोरमृदः केदारतर्यादेर्वा लानं, लवणेन वाऽचित्ततार्थः, सुरभ्युपलेन गन्धके(पाषाणे)न वा पामाप्रसूतत्राताद्विघातः, अचित्तस्य तु ग्रहणं, यद्वा तेन चि × × ×

(घणउदही घणवलया० ॥ १७ ॥) × × × 'अह' एष सर्वोऽप्कायो निश्चयसचित्तः—एकांतसचित्त, शेषोऽवटादि-क्षेत्रजोऽप्काय व्यवहारसचित्त, आदेर्वापीवटादिकादिश्च, आचारादेवयोरभेदारगवादीति ॥ १७ ॥ उक्त सचित्तोऽप्काय, मिश्रमाह—

उसिणोदगमणुव्वत्ते० ॥ १८ ॥ दण्डे इति आचावेकवचन, अनुवृत्तेषु दण्डेषूष्णोदक मिश्र स्यात्, आद्ये दण्डे कोऽपि परिणमति कोऽपि नेति मिश्र १, द्वितीये बहुपरिणमति स्तोको न २, तृतीये सर्वोऽचित्त ३, ततो दण्डत्रयाभावे सर्वमुष्णाम्भो मिश्र स्यात्, तथा वर्षे वृष्टो पतितमात्रेऽम्भो ग्रामादिषु मिश्रं स्यात् प्रभूततिर्यक्पचारभुवि, ततो मुहूर्तेन बहुधरयच्छतायां सचित्तमपि ग्रामादेर्बहिः स्तोक मेघाम्भस्तत्काल मिश्र क्ष्माकायसद्भावात्, मध्यमत एतन्मेघाऽम्भो घनमपि मिश्र क्ष्माकायात्, ततो मेघाम्भ पतत् सचित्त, मुक्तवादेशत्रिक–विकल्पत्रिक, तन्दुलोदकमबहुप्रसन्न, मकारलोपो ज्ञेय ॥ १८ ॥ आदेशत्रिकमाह—

भडगपासवलग्गा० ॥१९॥ तन्दुलोदके–तन्दुलक्षालनभाण्डादन्यस्मिन् भाण्डे प्रक्षिप्यमाणे ये उत्सेदा–बिन्दवः पा × × ×

(एए उ अणाएसा० ॥ २० ॥) × × × मिश्रस्याप्यचित्तत्वसंभावनया महणप्रसङ्ग, स्निग्धे तु परमार्थतोऽचित्तस्यापि बिन्दुपतने मिश्रत्वसंभवादग्रहण, यथा इक्षुरसा अपि सरयाते क्षीम [विध्वंसंते] चिरमपि स्तु, ततो द्वितीयादेशवतो सरयाते बुद्बुदशेषे मिश्राम्भसामध्यादान स्यात्, बुद्बुदाते सचित्ताम्भसोऽप्यनादान मिश्रत्वाशङ्कायां, तृतीयादेशोऽप्यचिराम्भो मिश्र चिरं तन्दुलानां महेन्धनैरल्पकालेन सिद्धि, न चाऽल्पेषला, स्तोकाम्भोभिस्तु सन्त सिध्यन्ति, ततो मिश्रादानाचित्तानादानदोषो इति त्रयोऽनादेशा ॥ २० ॥ समयादेशमाह—

जाव न बहुप्पसन्नं० ॥ २१ ॥ यावत्तन्दुलाम्भो बहुप्रसन्न नाविलच्छीभूत तावन्मिश्र, एषोऽत्र मिश्राधिकारे आदेशो भवति

प्रमाणं, यत्तु बहुमसन्नं तदचित्तं ॥ २१ ॥ उक्तो मिश्रोऽप्कायः, अथाचित्तः—

सीउण्हखारखत्ते० ॥ २२ ॥ प्राग्वत् पृथ्वीकायस्थानेऽप्कायो ज्ञेयः, इह स्वान्यकायशस्त्रयोजना, द्रव्यक्षेत्रकालभावैर्वाऽचित्तता प्राग्वत् यथायोगमप्कायेऽपि योज्या, तथा दधितैलादिघट्टेषु शुद्धाम्भस ऊर्द्ध्वं दध्याद्यन्यतरी स्यात्, सा बाह्या चेतदैकया पौरुष्या × × ×

(उउबद्ध० ॥२४॥) × × × वासः परिधानमूषितांगो हि विरूपोऽपि रम्यत्वेन दृश्यमाणः स्त्रीणां रत्यर्होऽयमिति प्रार्थ्यः स्यात्, किं पुनः रम्याङ्गः ! ततः स्त्रीणां प्रार्थ्यमानानां सललितदर्शिततिर्यक्कटाक्षाङ्गमोटनव्याजदर्शितकक्षामूलकुचविस्तारगम्भीरनाभिचिन्तनाद-वश्यं ब्रह्मणो भ्रंशं धत्ते, तथाऽस्थानस्थापनं, चेत्र ब्रह्ममनक्ति तथापि लोकेनास्थाने स्थाप्यते, नूनं कामुकं, अन्यथा कथं त्वं भूषयति, "नाकामी मण्डनप्रिय "इति, तथा संपातिमानां मक्षिकादीनां क्षालनजले पततां वायोश्च वधः—विनाशः, तथा प्लावने अम्भःपरिष्ठापने क्ष्मायां रैल्लणेन भूतोपघातः—क्ष्माश्रितकीटिकादिघातः, ततो न ऋतुबद्धे वस्त्रक्षाल्यं ॥ २४ ॥ ननु वर्षास्वप्येते दोषाः स्युः, ततः कथं तत्र धावनं चीवराणां, अत्राह—

अइभार चुडण पणए० ॥ २५ ॥ वर्षासन्ने चेद्वस्त्राधावनं तदा दोषाः, अतिभारो—गुरुत्वं वस्त्राणां, यतः वस्त्राणि मलार्द्राणि चेजलकणयुग्वायुना स्पृशन्ते ततो मलो गाढं वस्त्रेषु लग्यते, किं पुनर्वर्षासु !, सर्वाऽम्भोवद्भूपु (!) क्लिन्नमलसंगाद्वासांसि गुरूणि स्युः, तथा चुडणं—वस्त्राणां अधावने मलेन जीर्णता स्यात्, न च वर्षास्वभिनववस्त्रादानं न चाधिकः परिग्रहस्ततो वस्त्राभावे दोषाः × × × × × × (सम्य)क्प्रवर्त्तमानः कथंचिद्विराधकोऽपि नासौ पापभाक्, नापि तीव्रपापभागी, सूत्रबहुमानतो यतनया प्रवृत्तत्वात्, नापि बाकुश्यं, नास्थानस्थापना, लोकानामपि वर्षास्वधावने दोषात्, न चोक्ता अतिभाराद्या दोषा ऋतुबद्धे वस्त्राधावने स्युः तस्मात्

तदा ग्राह्यं ॥ २५ ॥ वर्षाभ्योऽर्वागुपधिमुत्कर्षं जघन्य प्रमाणमाह—

अप्पत्तेच्चिय वासे० ॥ २६ ॥ अप्राप्त एव वर्षे–वर्षाकाले आर्द्रागमात् सर्वमुपधिं प्रकादिसामग्र्यां उत्कर्षतः धावयति यतनया मतम, द्रवस्यासत्ति–अभावे जघन्यतोऽपि पात्रनिर्योगोऽवश्यं प्राक्, निर्पूर्वो युज् उपकारे ततो निर्योग, उपकरण–पात्रस्य पात्रबन्धादि, तस्य ॥ २६ ॥ ननु सर्वेषामुपकरणं वर्षाभ्योऽर्वाक् क्षाल्यन्तेऽत आह—

आयरिय गिलाणाण० ॥ २७ ॥ इह ये कृतपूर्विणोऽर्हदागमाचारादिग्राह्योपधानाभ्यधीतिनः स्वसमयेषु ज्ञातिनः सर्वस्थान्य शास्त्रेषु कृतिनः कारितजिनध्वजाचारेषु आराधक्याराधकारिणः सद्धर्मदेशका आचार्याः, एवं उपाध्यायादीनां प्रभूणामपि, तथा ग्लानानां पुनः मलिनानि वस्त्राणि धाव्यन्ते, हेतुमाह–मा दुर्निंद्यमे गुरूणां मलिनवस्त्राच्छादने लोकेऽवर्णोऽश्लाघा, यथा निरुपमा अमी, तत समस्तुर्भिगन्धाश्रः स्वयं, किमेषां पार्श्वगतैरस्माभि, × × ×

(पायस्स पडोयारो० ॥ २८ ॥) × × नवमादि पादमोंछनकमिति स्वा, बाधा निषधोच्यते, एवं त्रिविधं रजोहरणं स्यात्, यत् द्वे निषधे, यथा यथा–संस्तारोत्तरपटौ चोलपट्टश्च पोतिपि मुखपिधानवस्त्रं रजोहरणं सदशिकाया निषद्या, दण्डिकावेष्टकत्रयप्रपुहस्तायामा हस्तत्रिभागायामदशायुता, एता उपकरणभेदान् विश्रमयेत् नापरिभोग्यान् स्थापयेत्, कुतः? प्रत्यहमेषामवश्य व्यापारात्, ततो यतनया वस्त्रान्तरितहस्तग्रहणरूपया सङ्क्रमणा, ततो षट्पदिकानामश्रान्तेषु वस्त्रेषु संक्रमणं, ततो धावनं कुर्यात् ॥ २८ ॥ अथ भाष्यगाथात्रय—

पायस्स० ॥ भा० ८ ॥ सधारु० ॥ भा० ९ ॥ एए उ न० ॥ १० ॥ तत्र विश्रामाभावे सति यतनया षट्पदिका अन्यत्र सङ्क्रमय्य विधिना धावयन्ति ॥ भा० ८–१० ॥ एवमविश्रम्योपध्युक्त, शेषो विश्रम्योपधि स्यात्, तत्र विधिमाह—

जो पुण वीसामिज्जइ० ॥ २९ ॥ यः पुनः उपधिः प्रायः धावनकाले धनेनाकालधावनेऽर्हदाज्ञाभङ्गो दर्शितः, विश्रम्यते-निःशेषयूकाशोधये परिभुक्तो भिद्यते, तं उपधिं वीतरागाऽऽज्ञा-अर्हदुपदेशेनार्दद्रुकमित्यनभार्य, एवं वक्ष्यमाणविधिना साधुर्विश्रमयेत् ॥ २९ ॥ विश्रामणविधिमाह—

अब्भिंतरपरिभोगं० ॥ ३० ॥ साधूनां द्वौ क्षौमौ × × ×

× × × प्राप्नोति, येन ता क्षुधिता देहे लगन्ति, एवं परीक्षणे याता न स्युस्तदा धावयेत्, अथ स्युस्तर्हि पुनः २ वीक्ष्य यदा न स्युरिति निश्चितं तदा धावयेत्, एवं सप्ताहैः कल्पशोधना, एवं शेषोपधेरपि शोधिर्गण्या, इह विश्रामणा शाल्यस्यापरिभोगरूपा उक्ता, ततो यदस्य बहिः प्रावरणादिपरिभोग इति न तदापि विश्रामणा निरुध्यते ॥ ३० ॥ अत्र भाष्यं—

धोनत्थं तिन्निदिने० ॥ भा० ॥ ११ ॥ विश्रामणायां मतान्तरं—

केई एकेकनिसिं० ॥ ३१ ॥ केचिद्-एके सूरय एवमाहुरेकैकां निशां, त्रिधा-त्रिभिः प्रकारैः पूर्वोक्तैः संवास्य, कोऽर्थः ?, एकां निशां शोध्यः, कल्पं बहिः प्राप्नोति, द्वितीयां संस्तारकान्ते स्थापयति, तृतीयां स्वपन् स्तोर्ध्वं लंबमानं अधोमुखं प्रसारितं देहलग्नं प्रावपर्यन्तं स्थापयति, एवं परीक्षान्ते दृष्टोक्षिताश्चेत् दृष्टास्ततः सूक्ष्मयूकाशोधकोऽन्ने प्राप्नुवन्ति, प्राप्तौ चेत लगन्ति-न लग्ना दृश्यन्ते यूकास्ततो धावयन्ति, लग्न × × ×

× × × रिणामात्, नास्थिते वर्षे तदा मिश्रं नीयाम्भः, पूर्वं निपतितमचित्तीभूतं तत्कालं पतत्सचित्तं इति मिश्रं, ततः स्थिते वर्षे प्रायं, आस्ते तत्र क्षारः क्षेप्यः, येन भूयः सचित्तं न स्यात्, जलं प्रासुकीभूतमपि केवलं यामत्रयोर्ध्वं सचित्तीस्यात्, ततः क्षारः क्षेपः,

सारेण सगलमप्यऽम्बु प्रसत्त स्यात्, स्वच्छाम्भसा माऽऽचार्यविवासांसि सुतेजांसि स्युः, एवमपि क्षार शेष ॥ ३२ ॥ अथ धावनक्रमः

गुरुपच्चखाणि० ॥ ३३ ॥ गुरुपत्याख्यानिग्लानशैक्षादीनां पूर्वं धावनं कुर्यात्, तत्र आत्मनः, विनयमूलत्वाद्धर्मस्य, अविनीतस्य गच्छवासाभावाच्चारित्राभावः, ततो धावनमधूनेनविधिनाऽऽत्री गुरुणां—आचार्याणां वस्त्राणि क्षाल्यानि, तत्र प्रत्याख्यानिनां, क्षपकादीनां ततः ग्लानानां, ततः शैक्षाणां—नवदीक्षाणां, बालवृद्धादीनां, मोऽऽअववित्तः, तत आत्मनः, गुर्वादीनां वस्त्राणि, त्रिधा—यथाकृता यत्परि कर्म्माणि परिकर्मणि च, तत्र यानि परिकर्मरहितान्येव तथारूपाणि कल्पानि तानि यथाकृतानि, यान्येकदा खण्डित्वा सीवितानि तान्यल्पपरिकर्म्माणि, यानि बहुधा खण्डित्वा सीवितानि तानि बहुपरिकर्म्माणि, तत्र क्रम, पूर्वं सर्वेषां यथाकृतानि × ×

× × × छायातपे शोषयेत्, परिभोगेषु तथा शोधितेष्वपि कदाचित् यूका स्यात्, धावनेऽपि सा कथंचिज्जीविता मृता कथितापेन म्रियते, तद्रक्षायै छायायां शोषयेत्, इतराणि आतपे, दोषाऽभावात्, तानि च छायायामातपे च विस्तारितानि निरन्तरं प्रेक्षेत, येन न कोऽपि हरति, इह पूर्वोक्तविधिना यतनया धाव्यमानेषु वस्त्रेषु वायुप्रकादिविराधनारोप स्यादेव, तच्छुद्ध्यै साधोर्गुरुणा एककल्याण-तप तपो देय ॥ ३४ ॥ एवं समयसमस्तकायपिण्ड, तेजस्कायपिण्डमाह—

तिविहो तेउक्काओ० ॥ ३५ ॥ त्रिविधस्तेजस्काय सचित्तो मिश्रोऽचित्त, सचित्त पुनर्द्विधा निश्चयतो व्यवहारतश्च ॥ ३५ ॥ यथा—

इट्टगपागाईण० ॥ ३६ ॥ इष्टकापाक स्पष्ट, आदे कुम्भपाकेक्षुरसपाकाविद्युत्प्रभृत्याच, तेषां बहुमध्यभागे विद्युद्विद्यु-विद्यु-दुल्कादिमूर्तिषु तेजस्कायो निश्चयत सचित्त, शेषोऽङ्गारादि, अंगारो—ज्वालाहीनोऽग्नि, आदे ज्वालादि, व्यवहारसचित्त, मुर्मुर — कारीषोऽग्नि, मादेरर्धविध्यातादि, इत्यादि ॥ ३६ ॥ अचित्ततेजस्का × × ×

× × × त्ताग्निकायपिंडेन हेतुमाह—उपयोग एतेषामोदनादीनां भोजनादौ, ततोऽचित्ताग्निना साधूनां कार्यं, द्रव्यादिभेदाच्चतुर्धाऽग्निः प्राग्वद् यथायोगं ज्ञेयः ॥ ३७ ॥ उक्तस्तेजस्कायपिण्डः, अथ वायुकायपिण्डमाह—

वाउक्काओ तिविहो० ॥३८॥ वायुकायस्त्रिविधः, सचित्तो मिश्रोऽचित्तश्च, सचित्तः पुनर्द्विधा निश्चयतो व्यवहारतश्च ॥३८॥ यथा—

सवलय घणतणुवाया० ॥ ३९ ॥ सह वलयैः सवलया, घनवाततनुवाताः, ये नरकभुवां वलयाकारेण स्थिताः, घनवातास्तनुवाता, अन्ये घनवातास्तनुर्वाताश्च, वलयाकारेण वा घनवातास्तनुवाताश्च, तथाऽतिहिमे ये वायवोऽतिदुर्दिनेऽब्दतमसि ये वाता एष निश्चयसचित्तो वायुकायः, अतिहिमातिदुर्दिनाभावे प्राचीनादिवातो व्यवहारसचित्तः, यस्त्वाक्रान्तादि-पङ्काक्रमाद्युत्थः, स पंचधा वक्ष्यमाणैरचित्तः ॥ ३९ ॥ यथा—

अक्कंतधंतघाणे० ॥ ४० ॥ आक्रान्तैरङ्घ्रिणा पङ्कादौ यो वातः चिदितिशब्दयन् उच्छलति, यश्चाध्माते आस्यवातभृते दृत्यादौ, यो वा घाणे-तिलयन्त्रे तिलपीडने सशब्दो निर्यान् × × ×

× × × मिश्रसचित्तता ज्ञेया, यथा हस्तशतगतिकालं व्याप्त्वा एकस्मिन्नपि स्थानेऽम्भोमध्यस्थितस्याचित्तत्वादिकं ज्ञेयं, दृतिर्यथा तथा वस्तिः, बस्तिश्च दृतिर्यथा तथा बस्तिः, बस्तिश्च दृतिरूपः, किंत्वन्यचर्म्मः स्थगितग्रीवो विवृतमुखपाश्चात्यप्रदेशः, तथा स्थलस्थः स्निग्धं रुक्षं च कालमाश्रित्य, बस्तिर्बस्तिवातः, एवं दृतिवातोऽपि स्थलस्थः, यथाक्रमं पौरुषीषु दिनेषु वाऽचित्तादिर्ज्ञेयः ॥ ४१ ॥ अथ भाष्यगाथाचतुष्कं

निद्धेयरो य कालो० ॥ भा० १२ ॥ एगंतसिणिद्धंमी० ॥ भा० १३ ॥ मज्झिमनिद्धे० ॥ भा० १४ ॥ पोरिसिति-

गमविचो० ॥ भा० १९ ॥ काल सामान्यतो द्विधा स्निग्धो रुक्षश्च, यः सजल सशीतश्च स स्निग्ध , उष्णो रुक्षः, स्निग्धोऽपि त्रिधा—एकान्तस्निग्धो मध्यो जघन्यश्च, एकान्तस्निग्धो—ऽतिस्निग्ध , रुक्षोऽपि त्रिधा—जघन्यो मध्य उत्कृष्ट , उत्कृष्टो—ऽतिरुक्ष', तत्रैकान्तस्निग्धे काले शस्त्रिविर्हस्तिमत एका पौरुषीं यावदचित्तः स्यात् , द्वितीयस्यां यावदपि मिश्रः तत यावत् , तृतीयस्यामारभ्य एव सचित्त', तत सचित एव, मध्ये स्निग्धकाले द्वे पौरुष्यौ अचित्त , तृतीयस्यां मिश्र , तुर्यायां सचित्तः, जघन्ये च स्निग्धे तस्याविनाश पौरुषीत्रय यावदचित्त', तुर्यायां मिश्र , पञ्चम्यां सचित्तः, एव रुक्षेऽपि × × ×

× × × पुनर्द्विधा निश्चयतो व्यवहारतश्च ॥ ४३ ॥

× × × सर्वो वनस्पतिर्बहुशुष्को ज्ञेय', तत्र योऽत्र शुष्क सोऽचित्त , शेषः सचित्त इति मिश्र , लोट्ट—पक्वादिचूर्णं , तत्र नखिका सम्भवन्ति, ता सचित्ताः शेषोऽचित्त इति मिश्र , आदिशब्दात्काकवल्लिककणिकादि , तत्र कियन्तोऽपरिणताः सचित्ता , कियन्तस्त्वचित्ता इति मिश्रता ॥ ४४ ॥ अथाचित्तवनस्पतिकाय'—

पुष्फाणं पत्ताण० ॥ ४५ ॥ पुष्पाणां पत्राणां शलादुफलानां—कोमलफलानां, हरितानां—व्रीहिकादीनां वृन्ते म्लाने—शुष्कभावे ज्ञातव्य, एव जीवविप्रमुक्त ॥ ९५ ॥ अथाचित्तवनस्पतिना कार्यः—

संथारपायदडग० ॥ ४६ ॥ × × ×

× × × अत्र आचार्येकस्य, द्वित्रिचतु पञ्चाक्षपिण्डे कार्यमिद वक्ष्यते ॥ ४७ ॥ तत्र द्वित्रिचतुष्पिण्डकार्यमाह—

वेइंदियपरिभोगो० ॥ ४८ ॥ साधोर्द्वीन्द्रियैः कार्यं द्विधा—सकलेन देहेन, सकलेन शङ्खेन शङ्खसकलेन, देहेन कार्यं त्रिधा—पूर्णेन

तदेकदेशेन तत्स्पर्शेन च, एषां चतुर्णां कार्याणां मध्ये केषाञ्चियतीनां किमप्युपयोगवशात्, केषांनिचत्कार्येपि, द्व्यक्षाणां संपूर्णाक्षानां, अक्षाणां सशुक्तिशंखयुजां, आदेः कपर्दकादीनां, चक्षुःपुष्पे शंखशुक्तयोऽगदं, त्रीन्द्रियाणां उद्देहिकादि, कोऽर्थः ?, उद्देहिकाकृतशकभृत्, आदेरन्यत्रीन्द्रिकृतमृत् स परिभोगविषयः साधोः स्यात्, परिभोगः कार्यं ज्ञेयं, उद्देहिकादेः सर्पदंशादौ लिप्यते दाहशान्त्यै, यद्वा किमपि वैद्यो वदेत्, ऽयक्षविषये साधूनामौषधं ऽयक्षपिण्डः ॥ ४८ ॥

चउरिंदियाण मच्छि० ॥ ४९ ॥ चतुरिन्द्रियाणां मध्ये मक्षिकाणां परिहारो—विष्ठा वान्तिशान्त्यौषधं, तथाऽश्वमक्षिकाऽक्षिरोगस्याक्षरस्योद्धाराय स्यात्, पञ्चेन्द्रियपिण्डे उपयोगमाश्रित्य नैरयिका × × ×

× × × उपदेश उक्तिः, भिक्षादानं साधोः कार्यं, आदेर्वसत्यादिदानं, शिरोऽस्थि, लिङ्गे व्याधिशान्त्यै, घृष्टं कार्यं, यद्वा द्विष्टनृपे साधोर्नाशाय शिरोऽस्थि कापालिकवेषेऽर्थः, मिश्रस्य मनुष्योपयोगः, सरजस्कस्य सरक्षस्कस्य वा साधिकापालिकस्य पार्श्वे पथिपृच्छा ॥ ५१ ॥ अथ सुरोपयोगः—

खमगाइ कालकज्जाइ० ॥ ५२ ॥ क्षपकादेरादेराचार्यादेः, क्षपकस्य तपोबलाकृष्टत्वेन प्राय आसन्ना एव देव्यः स्युरतः क्षपकोक्तिः, कालकार्यं—मृतिरित्यादिकार्येषु काश्चिद्, पथिविषयेषु शुभाशुभे—सापायत्वे निरपायत्वे प्रश्ने दिव्य उपयोगः ॥ ५२ ॥ एवं सचित्तादित्रिभेदो द्रव्यपिण्डः प्रत्येकं पृथ्वीकायादिभेदाभवत्वाऽऽख्यातः, अथ एषां नवानां द्व्यादियोगे मिश्रं द्रव्यपिण्डमाह—

अह मीसओ य पिण्डो० ॥ ५३ ॥ अथेति केवलपृथ्व्यादिपिण्डोक्तेरनुमिश्रः पिण्डः उच्यते, विजात्यमिश्रणात् द्व्यादिसंयोगा ज्ञातव्याः पिण्डः, यथा पृथ्व्यप्कायौ पृथ्वीतेजस्कायौ इत्यादि यावच्चरमो भङ्गो नवयोगे, तत्र द्वियोगे ३६, त्रियोगे ८४, चतुर्योगे

षड्विंशं द्वत, पञ्चकयोगे १२६, षड्योगे ८४, सप्तयोगे ३६, अष्टयोगे ९, नवसंयोगे एक, सर्वाग्रं ५०२, एवं महाभाष्यस्थे एवं करणगाथा–" उभयाद्य × × ×

× × × नव भङ्गाः ९ तदाङ्कस्थाः सार्धमतार, ततोऽधोराश्यवशिष्टे प्रथमेऽङ्के ऽष्टकेन सार्धचतुष्केन तस्याधो राश्यङ्कस्यो- परितन अष्टक गुणयित्वा संयोगभङ्गा ज्ञेया., एवं सार्धचतुष्कगुणिता अष्ट जाता ३६, एवं द्वियोगे ३६ भङ्गा जाता, अथाष्ट भवस्था ३६ अंकः तत ऊर्ध्वराशौ, तत्त्रियोगभंगसंख्यायै अधस्तनराशिद्विकमरत्रिकोर्ध्वशिसप्तकस्य प्रथम पाश्चात्य ३६ अंक भक्ता- लब्धा १२ तेनोर्ध्वका सप्तको गुण्य जाताः ८४ त्रियोगा, अथोऽधोऽधस्तनानन्तरेण चतुष्केन भक्ता लब्धा २१, ते ऊर्ध्व- राशिषट्के गुणिता जाताः १२६ चतुर्योगा, तत १२६ पञ्चकेन भक्ता लब्धा २७, (५) पञ्चभागेऽतुल्य, तेनोर्ध्व पञ्चको गुण्य, जाताः १२६ पञ्चयोगाः, तत १२६ अधस्तनानन्तरेण षट्केन भक्ता लब्धा २१, तेनोर्ध्वचतुष्को गुणित जाताः ८४ षड्योगा, तत ते सप्तकेन भक्ता लब्धा १२ तेनोर्ध्वत्रिको गुण्यः, जाताः ३६ सप्तयोगा, तेऽधस्तनाष्टकेन भक्ता लब्धाः ४, तेनोर्ध्वद्विको गुणित जाता गव अष्टयोगा, ऊर्ध्व एकोमूलेनावस्थित एकयोगे नव भङ्गा इत्यर्थः, नवयोगे चैकः, एते दशसये ४९२ इति योगजाताः दशक्षेपे ५०२ यावत्कयोगे एको भग, तथा चाह अत्र परिसो यावद् द्वियोगाद्यो मिश्रः पिण्डो ज्ञेयो यावदसमो भवत एको मिश्र पिण्डः, स च ठेवमाधिप्योच्यते, भङ्गपुरिसिद्धितायां रत्न पृच्छा पृथ्वीकायो भवति, नपुंसकेऽप्कायः, सोऽहमत × × × ×

× × × (पुतन)तादि, तेजस्सकायादि, वायु वायुकर्मादिकादि वनस्पतिपृथ्वीकायत्रसकायादिपिण्ड, फल आमलकादि, पोट्टल-नाई, एतानि वायुवज्ज्ञेयानि, कारण, अप्पृथ्वीकायतेजस्काया, पुरीषनो वायुवत्, इत्याद्यनेके संयोगे पिण्डा ज्ञेया, किन्तु

यो यत्र द्वियोगादावायाति स तद्भंगे मील्यः ॥ ५४ ॥ उक्तः सप्रपञ्चं द्रव्यपिण्डः, क्षेत्रकालपिण्डावाह——

तिन्नि उ पएससमया० ॥ ५५ ॥ " नामठवणापिंडे दवे खेत्ते य कालभावे य " इति गाथायाश्चतुर्थपञ्चमपिण्डौ, क्षेत्रं-आकाशं, कालः-समयावित्र्वर्तरूपः, तत्र त्रयः प्रदेशाः व्योम्नो मिलिताः क्षेत्रपिण्डः, त्रयः समया मिलिताः पिण्डः, आदाने द्विचतुरा-दयोऽपि स्युः, एवं निरुपचरितौ मुख्यौ क्षेत्रकालपिण्डौ उक्तौ, सोपचारौ गौणावाह-" ठाणट्ठिइउ " द्रव्येऽणुस्कंधरूपे स्थानं-अवगाढं, स्थितिः-कालं वाश्रित्य यस्तदाऽऽदेशः-क्षेत्रकालावाश्रित्य क्षेत्रकालपिण्डव्यपदेशः स्यात्, यथा एकप्रादेशिकः स्कंधः द्वित्रिप्रादेशिक इत्यादि क्षेत्रतः, उक्तः क्षेत्रपिण्डः, एकादिसामयिकः कालपिण्डः, यद्वा त्रिप्रदेशावो क्षेत्रपिण्डे त्रिसमयादौ कालपिण्डेऽवस्थितः स्कंधः, तदाऽऽदेशात् क्षेत्रकालोपचारात्, क्षेत्रकालपिण्डौ पुनराह-क्षेत्रकालपिण्डो ' जत्थ जया तप्परूवणया-यत्र च × × ×

× × × वात्र कालसमयेषु, ननु मिथो वेधः संख्याबाहुल्याभ्यां, यतः क्षेत्रप्रदेशा मिथो मिलिता एव सदा, यथा वुस्या कृते चतुरस्रादिघने क्षेत्रे प्रदेशानां मिथो मैत्र्यात्संख्याबाहुल्यात्पिण्डाख्या, तथा क्षेत्रप्रदेष्वपि पिण्डशब्दः प्रवर्तमानोऽविसुद्धमिश्र्यो बहुसंख्याभावात्, कालोऽपि परमार्थतः सन्, द्रव्यं न, ततः सोऽपि परिणामी, ततः सर्वस्य परिणामीत्वमङ्गीकृते, अन्यथा सत्वायोगः, धर्मसंग्रहणीटीकादावेतदुक्तं-अत्र नोच्यते, परिणामी चान्वयी तेन रूपेण परिणममान उच्यते, ततोऽस्ति सांप्रतसमयस्याप्यतीतैष्य-समयाभ्यामनुवेधः, किंतु तौ असन्तावपि धिया सन्तौ विवक्षितौ, बहुसंख्यात्वं च तत्रास्तीति पिण्डत्वाविरोधः ॥ ५६ ॥ क्षेत्रपिण्डा-विरोधाय दृष्टान्तः——

जह तिपएसो खंधो० ॥ ५७ ॥ यथा त्रिप्रदेशिकः-त्र्याणुकः स्कंधस्त्रिष्वप्याकाशप्रदेशेष्ववगाढो नत्वेकस्मिन् द्वयोर्वा अविभागेन

नैरन्तर्येण सम्बद्ध पिण्ड उच्यते, नैरन्तर्यरहितः संख्याबाहुल्यवत्, एव त्रिप्रदेशस्य अणुकस्कन्ध इव तदाधारस्याणुकस्कन्धाधार, प्रदेशत्रयरूपः कथं पिण्ड उच्यते ?, उच्यते पिण्ड इति, उभयत्रोक्तनीत्या विशेषाभावात् ॥ ५७ ॥ अथ 'अस्य जथा तप्परूवणया' इति व्याख्यातु नामस्थापनाद्रव्यभावानां क्षेत्रकालयोर्गौणपिण्डत्वमाह—

अहवा चउण्ह नियमा० ॥ ५८ ॥ अथवा पूर्वं क्षेत्रकाल्योः स × × ×

× × × पिण्डोऽपि भावभाववतो कथञ्चिदभेदात्ताच्छब्द्येनैवैहो भावस्तत्र संयोगविभागो नामपिण्ड इव तस्या पिण्डता, क्षेत्रकाल-पिण्डयोर्न संयोगविभागौ, तत नामादिपिण्ड एव उक्त् क्षेत्रनिवासादिपर्यायप्रवृत्तस्य चिवक्ष्य क्षेत्रकालपिण्डाख्या ज्ञेया, यथा पुनो –क्षेत्रकालयोर्यत्र–वसत्यादो यदा वाऽऽद्यपौरुष्यादो च पिण्डो नामादिरूपो वर्ण्यते यथा गृहादौ गुडपिण्डे मोदकादिर्वा क्रियते, यदाऽऽद्ययामादौ निष्पाद्यते स वर्ण्यमानो नामादिपिण्डः, क्रियमाणो वा गुडोदनादिपिण्ड क्षेत्रापेक्षया क्षेत्रपिण्ड कालापेक्षया कालपिण्ड उच्यते, यथाऽमुकवसत्यादि क्षेत्रपिण्ड आद्यपौरुषीपिण्ड इत्यादि ॥ ५८ ॥ उक्तो क्षेत्रकालपिण्डो, भावपिण्डमाह—

दुविहो उ नाम पिंडो० ॥ ५९ ॥ भावपिण्ड० प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च, एतयोर्द्वयोरपि प्रत्येकप्ररूपण वक्ष्ये ॥ ५९ ॥ उक्त गाथा-चतुष्केनाह—

एगविहाइ दसविहो ॥ ६० ॥ नाणं दसण तवो० ॥ ६१ ॥ पवयणमाया नव० ॥ ६२ ॥ अपसत्थो य असजम० ॥ ६३ ॥ प्रशस्तोऽप्रशस्तो भावपिण्ड प्रत्येक दशधा, एकविधादि यावद्दशधा, यथा एकधा प्रशस्त संयम , स च ज्ञा × × ×

× × × असंयम –विरत्यभाव , अन्ये दोषा अज्ञानाद्या अत्रैवान्तर्भूता ज्ञेया , द्विधाऽज्ञानाविरती, चान्मिथ्यात्वमादौ कृत्वा

कषायाश्च, त्रिधा–मिथ्यात्वं चाज्ञानाविरती, चतुर्धा कषायाः, पंचधा पंचाश्रवाः प्राणातिपाताद्याः, षोढा षट्कायाऽदेनात्, सप्तधा कर्मणि ज्ञेयः, कर्मबन्धकाऽध्यवसायाः ज्ञेयाः, ते आयुर्वर्जसप्तकर्मबन्धकाः काषायिका परिणामभेदा जात्यपेक्षया सप्तधा, अष्टकर्मणां बन्धकाः परिणामा जात्याऽष्टधाऽप्रशस्तभावपिण्डः, नवधाऽगुप्तयो ब्रह्मणि, दशधाऽधर्मो दशधर्मविपक्षः अप्रशस्तो भावपिण्डः ॥ ६०–६३ ॥ प्रशस्ताप्रशस्तभावपिण्डस्वरूपमिदं—

बज्झइ य जेण कम्मं० ॥ ६४ ॥ इह येन भावपिण्डेनैकधादिना वर्त्तमानेन कर्म बध्यतेऽष्टधा, दीर्घस्थिति च–दीर्घभवो विपाककटुं, स सर्वोऽप्रशस्तो भावपिण्डः, येनैकविधादिना कर्मणा मुच्यते शनैः २ सर्वात्मना स प्रशस्तो भावपिण्डः, ननु पिण्डो बहुमीलनमुच्यते, भावाश्च संयमाद्याः, एकस्मिन्नध्यवसाये एकसमये भावात्, कथं पिण्डः ? ॥ ६४ ॥ अथोत्तरं—

दंसणनाणचरित्ताण० ॥ ६५ ॥

अन्यभागः ।

× × × शशकशिशुरिति वा कृत्वा विरावयेत्–विनाशयेत्, तथाऽऽहारखरण्टितो शुष्को हस्तौ कर्कशो भवतः, ततो भिक्षां दत्त्वा पुनर्दात्र्या हस्ताभ्यां गृह्यमाणस्य बालस्य पीडाभावात् ततो बालवत्सातोऽपि न ग्राह्यम् ॥ ५८६ ॥

× × × दानार्थमाचमनं करोति, आचमनेन क्रियमाणे उदकं विराध्यते, अथ न करोत्याचमनं तर्हि लोके छोटिरितिकृत्वा गर्हा स्यात्, तथा घुसुलंती–दध्यादिमथ्नती यदि तद्दध्यादिसंसक्तं मथ्नाति तर्हि तेन संसक्तदध्यादिना लिप्ते करे तस्या भिक्षां ददत्यास्तेषां रसजीवानां वधो भवति, ततस्तस्या अपि हस्तान्न कल्पते ॥ ५८७ ॥ संप्रति पेषणादिकुर्वत्या दोषानुपदर्शयति—

दगवीए सघट्टण० ॥ ५८८ ॥ पेषणकण्डनदलनानि कुर्वतीनां हस्तादिक्षालनग्रहणे उदकबीजसङ्घट्टनं स्यात्, तथाहि-पिषन्ती यदा भिक्षादानायोत्तिष्ठति तदा पिष्यमाणतिलादिसत्काः काश्चिन्नलिका सचिता अपि हस्तादौ लगिता सम्भवन्ति, ततो भिक्षादानाय हस्तादिप्रस्फोटने भिक्षां वा ददत्या भिक्षासम्पर्केतस्तासां विराधना भवति, भिक्षां च दत्त्वा भिक्षावयवसंस्पृष्टौ हस्तौ जलेन प्रक्षालयेत्, तत्र पेषणे उदकबीजसङ्घट्टनं, एवं कण्डनदलनयोरपि यथायोगं × × ×

× × × सेचकायेन हस्तादिना सम्मर्दनं सङ्घट्टनं, आरभमाणा कुश्यादिना भूम्यादि खनन्ती, अनेन पृथिवीकायारम्भ उक्तः, यद्वा मज्जती शुद्धेन जलेन स्नान्ती, अथवा धावती शुद्धेनोदकेन वस्त्राणि प्रक्षालयन्ती, यदि वा किञ्चिद् वृक्षवस्त्रादि सिञ्चन्ती, एतेनाप्कायारम्भो दर्शित, उपलक्षणमेतत्, उज्ज्वलन्ती वा फूत्कारेण वैश्वानरं वस्त्रादिकं वा सचित्तवायुभृतमितस्ततः प्रक्षिपन्ती, एतेनाग्निवायुसमारम्भ उक्तः, तथा शाकादेश्छेदविसारणे कुर्वती, तत्र च्छेदः—पुष्पफलादेः खण्डनं विसारणं तेषामेव खण्डानां शोषणायातपे मोचनं, आदिशब्दात्तण्डुलमुद्गादीनां शोधनादिपरिग्रहः, तथा छिन्दती षट्पदान्, फुरुफुरुते इति पोल्फुर्वमाणान् पीडयोत्तेजव इत्यर्थः, अनेन त्रसकायारम्भ उक्तः, इत्थं षड्जीवनिकायानारभमाणया हस्ताच्च कल्पते ॥ ५८९–५९० ॥ सम्प्रति षट्कायव्यग्रहस्तेति पदस्य व्याख्याने मतान्तरमुपदर्शयति—

छक्कायवग्गहत्था० ॥५९१ ॥ केचिदाचार्या षट्कायव्यग्रहस्तेति वचनस 'कोलवीनि' बदरादीनि, आदिशब्दात्करीर × × ×

× × × दाव्यादिदोषानाह—

ससज्जिमम्मि देसे० ॥ ५९३ ॥ संसक्तिमति–संसक्तिमद्द्रव्यवति देशे–मण्डले संसक्तिमता द्रव्येण लिप्त करो मात्र वा यस्या

सा तथाविधा दात्री भिक्षां ददती करादिमान् सत्त्वान् हन्ति, तस्मात्सा वर्ज्यते, तथा महत्पिठरं यदा तदा वा नोत्पाट्यते, नापि यथा तथा वा सञ्चार्यते, महत्त्वादेव, किन्तु प्रयोजनविशेषोत्पत्तौ सकृत्, ततस्तदाश्रिताः प्रायः कीटकादयः प्रसराः सम्भवन्ति, ततो यदा तत्पिठरादिकमुद्धर्त्य किञ्चिद्ददाति तदा तदाश्रितजन्तुव्यापादः, एते च दोषा उत्पाट्यमानेऽपि महति पिठरके, तत्रापि हि भूयो निक्षेपणे हस्तसंस्पर्शतो वा सञ्चारिमकीटिकादिसत्त्वव्यापातः, अपि च तथाभूतस्य महत उत्पाटने दात्र्याः पीडा भवति, तस्मान्न तदुत्पाटनेऽपि भिक्षा कल्पते ॥ ५९३ ॥ सम्प्रति साधारणं चोरितं वा दत्त्वा दोषानाह—

साधारणं बहूणं० ॥ ५९४ ॥ बहूनां साधारणं यदि ददाति तर्हि तत्र यथा प्राक् ग्रन्थिबद्धे दोषा उक्तास्तथैव द्रष्टव्याः । तथा चौर्येण भृतके–कर्मकरे स्नुषादौ वा ददति ' भद्दणादओ ' भद्दणबन्धनताडनादयो दोषा इ × × ×

× × × हि स्वयं प्राभृतमिति, तर्हि ग्लानाद्यमपूर्णे तस्य कल्पत इति ॥ ५९५ ॥ सम्प्रत्याभोगानाभोगदायकस्वरूपमाह—

अणुकंपा पडिणीयट्ठया ॥ ५९६ ॥ सर्वेऽप्येते महानुभावा गतयोऽन्नपानाभावमनुभवन्ति तस्मात्करोम्येतेषां शरीरोपष्टम्भाय गुलपुरा-दीनीत्येवमनुकम्पया यदि वा मयैतेषामनेषणीयाप्रदाननियमभङ्गो भद्रका इति प्रत्यनीकतया जानानोऽपि तानाधाकर्मादिकमानेषणादो-पान् करोति, द्वितीयस्तु करोति अज्ञानतो अशठभावः ॥ ५९६ ॥ नवैतं ज्ञातव्यानि चत्वारिंशदपि बालादिद्वाराणि, संप्रति यदुक्तं— " एएसि दायगाणं गहणं केसिंचि होइ भइयव्वं " इत्यादि, तथा निरूप्यामुः प्रथमतो बालमाश्रित्य भजनामाह—

भिक्खामित्ते अवियालणा० ॥ ५९७ ॥ मातुः परोक्षे भिक्षामात्रे बालेन दीयमाने यदि वा पार्श्ववर्तिना मात्रादिना अनिरुद्धे सति तेन बालेन दीयमानेऽविचारणा कल्पते, इदं न वेति विचारणाया अभावः, किन्तु महत्त्वे भिक्षाया भवति, अतिबहुके तु बालेन

दीयमाने किमत्र स्व प्रभूत ददासीति विचारणे × × × ×

× × × अन्धोऽपि यदि देयं वस्तु अन्येन पुत्रादिना धृतं ददाति स्वरूपेण आढ्य, अथवा स एवान्धोऽन्येन विधृत सन् देयं ददाति तर्हि ततो ग्राह्य, मान्यथा, पूर्वोक्तदोषप्रसंगात् ॥ ५९९ ॥ स्वन्दोषादिप्रकविषयां भजनामाह—

मण्डलपसुतिकुट्ठी० ॥ ६०० ॥ मण्डलानि–वृत्ताकारवस्तुविशेषरूपाणि प्रसुप्ति –नखादिविदारणेऽपि चेतनाया असंवित्तिस्तद्रूपो य कुष्ठ'–रोगविशेष सोऽस्यास्तीति मण्डलप्रसुप्तिकुष्ठी स चेद् असागारिके–सागारिकाभावे ददाति तर्हि ततः कल्पते, न शेषकुष्ठिन' सागारिके वा पश्यति, पादुकारूढोऽपि मवलवकस्थानस्थितस्तथा कारणे सति कल्पते, तथा च क्रमयोः–पादयोर्बद्धो यदि सविचार इतश्चेतश्च पीडामन्तरेण गन्तु शक्तस्ततो बद्धावपि तस्मात्कल्पते, इतरस्तु च इतश्चेतश्च गन्तुमशक्त' स चेदुपविष्ट सन् ददाति न च कोऽपि अत्र सागारिको विद्यते ततोऽपि कल्पते, हस्तबद्धस्तु भिक्षां दातुमपि न शक्नोति, तत्र प्रतिषेध एव, न भजना, उपलक्षणमेतत्, तेन छिन्नकरोऽपि यदि सागारिकाभावे ददाति तर्हि कल्पते, छिन्नपादो यद्युपविष्ट सन् सागारिकाऽसम्पाते प्रयच्छति ततस्ततोऽपि कल्पते ॥ ६०० ॥ नपुंसकादिसत्कविषयां × × ×

× × × बालवत्सां च सर्वथा परिहरन्ति, एवं भुञ्जानामर्द्दमानादत्यन्तीष्वपि भजना भावनीया, सा चैव भुञ्जाना अनुच्छिष्टा सती यावदद्यापि न कवलं मुखे प्रक्षिपति तावत्तद्धस्तात्कल्पते, मर्द्दमानाऽपि यस्सचित्तं गोधूमादि कण्डिकके क्षिप्तं तदा भूयोपारितमन्यच्च नाद्यापि हस्तेन गृण्हाति, अत्रान्तरे यदि साधुरागतो भवति सा चेद्ददाति तर्हि कल्पते, तथा दलयन्ती सचित्तमुद्गादिना दलयमानेन गाढ गाढ मुक्तवती, अत्रान्तरे च साधुरायातस्ततो यद्युत्तिष्ठति, अचेतनं वा अद्य मुद्गादिकं दलयति तर्हि तद्धस्तात्कल्पते, कण्डयन्त्या कण्ड-

नायोत्पाटितं मुसलं, न च तस्मिन् मुसले किमपि काञ्च्यां बीजं लग्नमस्ति, अत्रान्तरे च समायातः साधुस्ततो यदि साऽनपाये प्रदेशे मुसलं स्थापयित्वा भिक्षां ददाति, तर्हि कल्पते ॥ ६०१ ॥ पिंषत्यादिविषयां भजनामाह—

पीसंती निप्पिट्ठे० ॥ ६०२ ॥ उव्वट्टणिऽसंसत्तेण० ॥ ६०३ ॥ पिंषन्ती निष्पिष्टे—पेषणपरिसमाप्तौ, प्रासुकं वा पिंषन्ती यदि ददाति तर्हि तस्या हस्तात्कल्पते, तथा घुसुलणे असंसक्तं दध्यादिमथ्नत्याः कल्पते, तथा कर्तने या असङ्खचूर्ण—अखरण्टितहस्तं कृन्तति, इह काचित्सूत्रस्यातिशयेन श्वेतता पाद × × ×

× × × वेचते न सम्भवति, ततः प्रतिपक्षस्याभावे नियमाद् भवति तेष्वग्रहणमिति ॥ ६०४ ॥ उक्तं दायकद्वारम्, अथोन्मिश्रद्वारमाह—

सचित्ते अचित्ते० ॥ ६०५ ॥ इह यत् यत्रोन्मिश्र्यते ते द्वे अपि वस्तुनी त्रिधा, तद्यथा सचित्तेऽचित्ते मिश्रे च, तत् उन्मिश्रके—मिश्रणे चतुर्भङ्गी, अत्र जातवैकवचनं, ततस्तिस्रश्चतुर्भङ्ग्यो भवन्तीति वेदितव्यं, तत्र प्रथमा सचित्तमिश्रपदाभ्यां, द्वितीया सचित्ताचित्तपदाभ्यां, तृतीया मिश्राचित्तपदाभ्यामिति । तत्र सचित्तमिश्रपदाभ्यामियं—सचित्ते सचित्तं मिश्रे सचित्तं सचित्ते मिश्रं मिश्रे मिश्रमिति, द्वितीया त्वियं—सचित्ते सचित्तं अचित्ते सचित्तं सचित्तेऽचित्तं अचित्तेऽचित्तमिति, तृतीयेयं मिश्रे मिश्रं अचित्ते मिश्रं मिश्रेऽचित्तं अचित्ते अचित्तमिति, तत्र गाथापर्यन्ततुशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वादाद्यायां चतुर्भङ्गीकायां सकलायामपि प्रतिषेधः, शेषे तु चतुर्भङ्गी द्वये प्रत्येकं आदीमेषु त्रिषु २ भङ्गेषु प्रतिषेधः चरमे तु भङ्गे भजना वक्ष्यमाणा ॥ ६०५ ॥ अत्रैवातिदेशं × × ×

× × × साधुदानार्हं इतरददातव्यं, तच्च सचित्तं मिश्रं तुषादिर्वा, ते द्वे अपि द्रव्ये मिश्रयित्वा यद्ददाति, यथौदनं कुसनेन दध्या-

दिना मिश्रयित्वा तद्दुन्मिश्र, एवंविधदुन्मिश्रलक्षणमित्यर्थः, संहरण तु मद्यानतस्थमदेय मध्ये तदन्यत्र क्वापि स्वगनिकादौ संहृत्य ददाति, ततोऽयमनयोर्भिद ॥ ६०७ ॥ द्वितीय(तृतीय)चतुर्भङ्गीसत्कचतुर्भङ्गयजनामाह—

अपि य सुक्के सुक० ॥ ६०८ ॥ यद्यपि सेऽचित्त मिश्रयति तथापि शुष्के शुष्क मिश्रितमित्येव भङ्गाश्चत्वारो यथा संहरणे, तद्यथा—शुष्के शुष्कदुन्मिश्र, शुष्के आर्द्र, आर्द्रे शुष्क, आर्द्रे आर्द्रमिति । तत्र एकैकस्मिन् भङ्गे संहरणे इवाल्पबहुत्वे—स्तोके शुष्के स्तोक शुष्क, स्तोके शुष्के बहुक शुष्क, बहुके शुष्के स्तोक शुष्क, बहुके शुष्के बहुक शुष्कमिति, एव शुष्के आर्द्रमित्यादावपि भङ्गत्रिके प्रत्येक चतुर्भङ्गी भावनीया, सर्वसङ्ख्यया भङ्गा षोडश, तथा ' तथैव ' संहरणे इवाऽऽचीर्णानाचीर्णे—कल्प्याकल्प्ये उन्मिश्रे ज्ञेये, तद्यथा—शुष्के शुष्कमित्यादीनां चतुर्भङ्गीनां म × × ×

' दुण्हमाई सामन्ने० ॥ ६११ ॥ ' एव द्विकादिसामान्ये ' भ्रात्रादिद्विकादिसाधारणे देयवस्तुनि यद्येकस्य कस्यचिद्दामीत्येवं भाव परिणमति, न शेषाणां, तद् भावतोऽपरिणत—न भावापेक्षया देयतया परिणतमित्यर्थः । अथ साधारणानिसृष्टस्य दातृभावापरिणतस्य च क परस्परं प्रतिविशेष ?, उच्यते, साधारणानिसृष्ट दायकपरोक्षत्वे, दातृभावापरिणत तु दायकसमक्षत्वे इति ॥ ६११ ॥ संप्रति गृहीतृविषय भावापरिणतमाह—

एगेण वावि एसिं० ॥ ६१२ ॥ एकेनापि केनचिदेतेनेन पाश्चात्येन वा एषणीयमिति मनसि परिणमित, न इतरेण—द्वितीयेन, तदपि भावतोऽपरिणतमितिकृत्वा साधूनामग्राह्य, शङ्कितत्वात्कलहादिदोषसम्भवाच्च, सम्प्रति द्विविधस्यापि भावापरिणतस्य विषयमाह—सज्झिलगेत्यादि, तत्र दातृविषय भावापरिणत भ्रातृविषय स्वामिविषय च, गृहीतृविषय भावापरिणत साधुविषयम् ॥ ६१२ ॥

उत्क्रमपरिणतद्वारं, सम्प्रति लिप्तद्वारं वक्तव्यं, तत्र लिप्तं यत्र दध्यादिद्रव्यलेपो लगति, तच्च न ग्राह्यं, यत आह—

घेत्तव्वमलेवकडं० ॥ ६१३ ॥ × × ×

× × × (अनशन) तपोरूपं क्षपणं कुर्वतः साधोश्चिरकालभावितपोनियमसंयमानां हानिः, तस्मान्न यावज्जीवं क्षपणं कार्यं। पुनरपि परः प्राह—यदि सर्वकालं क्षपणं कर्तुमशक्तस्तर्हि० [करोतु।] भूयः शिष्यः यद्येवं तर्हि षण्मासानुपोष्याचाम्लेन भुङ्क्तां, न क्षमस्तदैकाहादिहान्या तावद्धापयेद्यावच्चतुर्थं कृत्वाचाम्लेन पारयेत्, एवमप्यक्षमो नित्यालेपाशी स्यात् ॥ ६१४ ॥ इदं गाथयाह—

लित्तंति भाणिउणं० ॥ ६१५ ॥ लित्तंति लिप्तं—सदोषमिति भणित्वाऽलेपं भोज्यं अर्हन्गण्यनुज्ञातमिति गुरूक्ते शिष्यः, षण्मासानुपोष्याचाम्लेन भुङ्क्तां, नैव क्षमस्तर्ह्येकाहादिहान्या तावत्तोलयेद्यावच्चतुर्थं कृत्वाऽऽचाम्लेनात्तां, एवमपि न संस्तरणे अल्पलेपं लायात् ॥ ६१५ ॥ एतद्गाथार्थे गाथे।

आयंबिलपारणए० ॥ ६१६ ॥ एवं एक्केक्कदिणं० ॥ ६१७ ॥ नित्यं क्षपणं कर्तुमक्षमः षन्मासान्निरन्तरं क्षपयित्वा पारणे आचाम्लं करोतु, षण्मासानुपवस्तुमक्षम एकदिनोनान् करोतु, एवं षट्मासादेकैकं दिनं त्यक्त्वा × × × ×

तिय सीयं समणाणं० ॥ ६२० ॥ त्रिकं—वक्ष्यमाणं शीतं श्रमणानां, तेन प्रत्यहमाचाम्लकृतौ तक्रायभावेऽन्नापाकेनाजीर्णादिदोषाः स्युः, तदेव त्रयमुष्णं गृहिणां, ततोऽम्लकाहारेऽपि न तेषां दोषा अजीर्णाद्याः स्युः, ततस्तेषां तथा यापयतामपि न कश्चिद्दोषः, साधूनां तूक्तनीत्या दोषः, तेन कारणेन तक्रादिग्रहणं साधूनामनुज्ञातं। इह प्रायो यतिना विकृतिपरिभोगपरित्यागेन सदैवात्मशरीरं यापनीयं, कदाचिदेव च शरीरस्यापाटवे संयमयोगवृद्धिनिमित्तं बलाधनाय विकृतिपरिभोगः, तथा चोक्तं सूत्रे " अभिक्खणं निव्विगइं

गया य" इति, निर्विकृतिपरिभोगे च तक्रादेरुपयोगीति तक्रादिग्रहणं, 'कूरादिषु' घृतघटिकोन्मिश्रतीमनादिषु ग्रहणं भाज्यं- विकल्पनीयं, स्कानस्वादिमयोजनोत्पत्तौ कार्यं, न शेषकालमिति भाव × × × ×

× × × आहारादीनां शीतत्वसम्भवरूपेणोपलभ्यते जनि'—जठरो वह्नि', तस्माच्चोपघाताद्दोषा 'अजीर्णादय'—अजीर्णबुभुक्षा- मान्द्यादयो जायन्ते, ततस्तक्रादिग्रहणं साधूक्तमनुशाय, तक्रादिनापि हि जाठरोऽग्निरुद्दीप्यते, तेषामपि तथा स्वभावत्वात् ॥ ६२२ ॥ सम्प्रत्यल्पलेपानि द्रव्याणि दर्शयति—

ओयण मंडग सत्तुग० ॥ ६२३ ॥ ओदन—तन्दुलादिभक्तं मण्डका कणिक्कमयाः प्रतीता एव सक्तव—यवक्षोदरूपा कुल्माषा उडदा, राजमाषा सामान्यतश्चवला श्वेतचवलिका वा, कणा—धूपचणका', सामान्येन वा चणका', यवाः तुवरी—आढकी मसूरा- द्विदलविशेषा मुद्गा माषाश्च प्रतीता, चकारादन्येऽप्येवंविधाः धान्यविशेषा. शुष्का अनार्द्रा—अक्लेदकृता ॥ ६२३ ॥ सम्प्रत्यल्पलेपान्येव विषद्रव्याणि प्रदर्शयति—

उक्किमक्क पिज्ज कग्गू० ॥ ६२४ ॥ उद्वृपा वस्तुकप्रभृतिशाकभर्जिका यथा—यूवागूः कग्गू'—कोद्रवोदन तक्र—तक्राख्य उडण येनौदनमार्द्रीकृत्योपयुज्यते सूप—राद्धमुद्गरसादिः काञ्जिक—सौवीरं कथित—तीमनादि, आदिशब्दादन्यस्यैवंविधस्य परिग्रहः, एतानि द्रव्याण्यल्पलेपानि । × × ×

× × × यथा सं० हस्तः सं० मात्र' सशेष द्रव्य १, संसृष्टहस्तमात्रे अशेष द्रव्य २, सं० हस्त असं० मात्र शेष द्र० ३, सं० ह० असं० मा०, अशेष द्र० ४, असं० ह० सं० मा० सशे० द्र० ५, असं० ह० सं० मा० अशे० द्र० ६, असं० ह० मात्रे सशे०

परि० १०
माणिक्य-
शेखरीय-
दीपिकायां
अन्यभागः।

द्र० ७, अस० ह० मात्रे अशे० द्र० ८, एषु भङ्गेषु नियमाद् ओजस्सु-विषमेषु ग्रहणं स्यात्, न समेषु, हस्तमात्राभ्यां संसृष्टाभ्यां पश्चात्कर्मणि सशेषद्रव्ये कल्प्यं, यतः साध्वर्थं खरण्टितेऽपि परिवेषणार्थमधाविते कल्प्यं, अशेषद्रव्येषु नियमात्पश्चात्कर्म स्यात्, स्थाल्यादिधावनात् ॥ ६२६ ॥ उक्तं लिप्तद्वारं, अथ छर्दितद्वारं—

सचित्ते अचित्ते० ॥ ६२७ ॥ छर्दितं त्रिधा, सचित्तमचित्तं मिश्रं च, तदपि सचित्ताचित्तमिश्रेषु छर्द्यते, एवं तिस्रश्चतुर्भङ्ग्यः, जाताः वेकत्वं, प्राग्वत् सचित्त [।चित्तयोः सचित्ताचित्तयोः] (मिश्रयोः) सचित्ताचित्तयोः २ मिश्राचित्तयोः ३, सचित्ते सचित्तं छर्दितं, मिश्रे सचित्तं, सचित्ते मिश्रं, मिश्रे मिश्रमितिप्रथमा, सचित्ते सचित्तं अचित्ते सचित्तं सचित्तेऽचित्तं अचित्तेऽचित्तं इति द्वितीया, मिश्रे मिश्रं अचित्ते मिश्रं मिश्रे अचित्तं अचित्ते अचित्तमिति तृतीया, सर्वसंख्यया द्वादशभङ्गाः, सर्वेषु च भङ्गेषु सचित्तः पृथिवीकायः × × × × × × विराध्यन्ते । तत्र पतिते मधुबिंदूदाहरणं—

वारत्तपुरं नाम नगरं, तत्राभयासेनो नाम राजा, तस्यामात्यो वारत्तकः, अन्यदा चात्वरितमचपलमसम्भ्रान्तमेषणासमितिसमेतो धर्मघोषनामा संयतो भिक्षामटंस्तस्य गृहं प्राविक्षत्, तद्भार्या च तस्मै भिक्षादानाय घृतखण्डसम्मिश्रपायसभृतं स्थालमुत्पाटितवती, अत्रान्तरे च कथमपि ततः खण्डसम्मिश्रो घृतबिन्दुर्भूमौ निपततिः, ततो भगवान् धर्मघोषो मुक्तिपदैकनिहितमानसो जलधिरिव गम्भीरो मेरुरिव निष्प्रकम्पो वसुधेव सर्वंसहः शंख इव रागादिभिररञ्जनो महासुभट इव कर्मरिपुविदारणनिबद्धकक्षो भगवदुपदिष्टभिक्षाग्रहणविधिविधानकृतोद्यमो भिक्षेयं छर्दितदोषदुष्टा तस्मान्न मे कल्पते इति परिभाव्य ततो निर्जगाम, वारत्तकेन चामात्येन मत्तवारणस्थितेन दृष्टो भगवान् निर्गच्छन्, चिन्तयति च स्वचेतसि किमनेन भगवता न गृह्यते स्म मे गृहे भिक्षेति, एवं च यावच्चिन्तयति

तावत्त भूमौ निपतितं खण्डयुक्तं घृतबिन्दुं मक्षिकाः समागत्याश्लिक्षियन्, तासां च भक्षणाय प्रधाविता गृहगोधिका, गृहगोधिकाया अपि वधाय प्रधावितः सरटः, सरटस्यापि च भक्षणाय प्रधावति स्म मार्जारी, तस्यापि च वधाय प्रधावितः प्राघूर्णक × × ×

× × × तदुक्तमेवानुष्ठानं मयाऽनुष्ठातव्यमित्यादि विचिन्त्य संसारविमुखपङ्को मुक्तिवनिताश्लेषसुखलम्पटः सिंह इव गिरिकन्दरात् भिक्षाभाजनाद्विनिर्गत्य धर्मघोषस्य साधोरुपकण्ठं प्रव्रज्यामग्रहीत्, स च महात्मा शरीरेऽपि निःस्पृहो यथोक्तभिक्षाग्रहणादिविधिसेवी संयमानुष्ठानपरायणः स्वाध्यायभावितान्तःकरणो दीर्घकालं संयममनुपाल्य आतपनानुकर्मा समुच्छलितदुर्निवार्यवीर्यप्रसरं क्षपकश्रेणिमारुह्य घातिकर्मचतुष्टयं समूलघातं हत्वा केवलज्ञानलक्ष्मीमासादितवान्, ततः कालक्रमेण सिद्ध इति ॥ ६२८ ॥ उक्तमेषणाद्वारं, संप्रति संयोजनादीनि द्वाराणि वक्तव्यानि, तानि च ग्रासैषणारूपाणीति प्रथमतो ग्रासैषणाया निक्षेपमाह—

नाम ठवणा दविए० ॥ ६२९ ॥ ग्रासैषणा चतुर्धा, तद्यथा—नामग्रासैषणा स्थापनाग्रासैषणा द्रव्ये—द्रव्यविषया ग्रासैषणा भावे—भावविषया ग्रासैषणा, तत्र नामग्रासैषणा स्थापनाग्रासैषणा द्रव्यग्रासैषणाऽपि ज्ञशरीरभव्यशरीररूपा गवेषणेव भावनीया, ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तायां तु ग्रासैषणायां मत्स्योदाहरणं—दृष्टान्तः, भावविषया पुनर्ग्रासैषणा द्विधा, तद्यथा—आगमतो नोआगमतश्च, तत्रागमतो ज्ञाता तत्र चोपयुक्तः, नोआगमतो द्विधा, तद्यथा—प्रशस्ताऽप्रशस्ता च. × × ×

× × × मांसगन्धमाघ्राय तद्भक्षणार्थं गलस्य समीपमुपागत्य मत्स्यः पर्यन्ते २ सकलमपि मांसं खादित्वा पुच्छेन च गलमाहत्य दूरतोऽपचक्राम, मत्स्यबन्धी च गृहीतो गलेन मत्स्य इति विचिन्त्य गलमाकृष्टवान्, पश्यति मत्स्यमांसपेशीरहितं गलं, भूयोऽपि गलं प्रचिक्षेप, तथैव च स मत्स्यो मांसं खादित्वा पुच्छेन च गलमाहत्य पलायितवान्, एवं त्रीन् वारान् मत्स्यो मांसं खादितवान्, न च

गृहीतो मत्स्यबंधेन ॥ ६३० ॥

अह मंसंमि पहीणे० ॥ ६३१ ॥ अथ मांसे प्रक्षीणे ध्यायन्तं मात्स्यिकं मत्स्यो भणति, यथा–किं त्वमेवं ध्यायसि–चिन्तयसि !, श्रुणु तावद्यथा–॥ ६३१ ॥ कदाचिदहं बलाकया गृहीतः, ततस्तया मुखे प्रक्षेपार्थमूर्ध्वमुत्क्षिप्तस्ततो मया चिन्तितं–यद्यहमृजुरेवास्या मुखे निपतिष्यामि तर्हि पतितोऽयं मुखे इति न मे प्राणकुशलं, तस्मात्तिर्यग्निपतमी त्येवं विचिन्त्य दक्षतया तथैव कृतं, परिभ्रष्टस्तस्या मुखात्, ततो भूयोऽपि तयोर्ध्वमुत्क्षिप्तस्तथैव च द्वितीयमपि वारं मुखात्परिभ्रष्टः, तृतीयवेलायां तु जाले निपतितस्ततो दूरं पलायितः × × ×

× × × ॥ ६३३ ॥ एतादृशं पूर्वोक्तस्वरूपं मम सत्त्वं शठं–कुटिलं घट्टितस्य–धीवरादिकृतस्योपायस्य घट्टनं–चालकं, ततस्त्वमिच्छसि मां गलेन ग्रहीतुमित्यहो ! ते–तव अह्रीकता–निर्लज्जतेति । तदेवमुक्तो द्रव्यग्रासैषणाया दृष्टान्तः, सम्प्रति भावग्रासैषणाया-मुपनयः क्रियते–मत्स्यस्थानीयः साधुर्मांसस्थानीयं भक्तपानीयं मात्स्यिकस्थानीयो रागादिदोषगणः, यथा न छलितो मत्स्य उपायशतेन तथा साधुरपि भक्तादिकमभ्यवहरन्नात्मानमनुशास्तिप्रदानेन रक्षयेत् ॥ ६३३ ॥ तामेवानुशास्तिं प्रदर्शयति—

बायालीसेसण० ॥ ६३४ ॥ इह एषणाग्रहणेन एषणागता दोषा अभिधीयन्ते ततोऽयमर्थः–द्विचत्वारिंशत्सङ्ख्या ये एषणादोषा गवेषणाग्रहणैषणादोषास्तैः सङ्कटे–विषमे ग्रहणे–भक्तपानादीनामादाने हे जीव ! त्वं नेव छलितः, तत इदानीं–सम्प्रति भुञ्जानो रागद्वेषाभ्यां यथा न छल्यसे तथा कर्त्तव्यम् ॥ ६३४ ॥ सम्प्रति तामेव भावग्रासैषणां प्रतिपादयति—

घासेसणा उ भावे० ॥ ६३५ ॥ भावे–भावविषया ग्रासैषणा द्विविधा, तद्यथा × × ×

× × × स्वादनायानुकूलद्रव्यैः सह संयोजन यत्करोति बहिरेव भिक्षामटन् एषा बाह्या द्रव्यसंयोजना, अभ्यन्तरा पुनर्यद्वसतावागत्य भोजनवेलायां संयोजयति, यथा चाह–' अन्तस्तु ' अभ्यन्तरा पुन संयोजना त्रिधा–त्रिप्रकारा, तद्यथा–पात्रे लम्बने वदने च, नवरं ' लम्बन ' कवलः, ततोऽस्यास्त्रिविधाया अपि विभाषा–व्याख्या कर्त्तव्या, सा चैव यद् द्रव्य यस्य द्रव्यस्य रसविशेषाधायि तदेन सह पात्रे रसगृध्या संयोजयति, यथा सुकुमारिकादिक खण्डादिना सह एषा पात्रेऽभ्यन्तरा संयोजना, यदा तु हस्तगतमेव कवलतयो त्पाटित पूर्वं सुकुमारिकादि खण्डादिना सह संयोजयति तदा कवलेऽभ्यंतरा संयोजना, पुनर्वदने कवल प्रक्षिप्य पश्चा शाकनक प्रक्षिपति, यद्वा मण्डकादिक पूर्वं प्रक्षिप्य पश्चाद् गुडादिक प्रक्षिपति, एषा वदनेऽभ्यन्तरा संयोजना, एषा च द्रव्यसंयोजना समस्ताऽप्यप्रशस्ता, यतोऽनयाऽऽत्मान रागद्वेषाभ्यां संयोजयति ॥ ६३७ ॥ तथा चामुमेव दोष वक्तुकाम आह—

संयोजणाए दोसो० ॥ ६३८ ॥ × × ×

× × × दीर्घतरे संसारे, तस्माच्च भवाद्–दीर्घतरसंसाररूपात् दु स असात संयोजयति, ततो यो द्रव्यसंयोजनां करोति तस्येत्थमनन्तकालवेद्यो दु खनिपात इति ॥ ६३९ ॥ समस्तस्या एव द्रव्यसंयोजनाया अपवादमाह—

पत्तेय पडलभे० ॥ ६४० ॥ प्रत्येक एकैक साधुसङ्घाटक प्रति मधुरलाभे विपुलघृतादिलाभो सत्यां यदि कथमपि भुक्ते सति च–सद्भुपने शेष–उद्धरित भवति, ततस्तस्य शेषस्य निगमनार्थं इह –अनुज्ञातस्तीर्थकृदादिभि सह संयोग , उद्धरितादिपरिष्ठापने स्निग्धत्वात् पश्चादपि कीटिकादिसत्त्वव्यापादसम्भवेन गृहस्थामायश्चित्तसम्भवात्, तत उद्धरितघृतादिनिर्गमनार्थं खण्डादियोजन न दोषाय, एष तावदयमपवाद संयोजनाया । अथाऽन्योऽपि तस्य संयोगस्याय वक्ष्यमाण क्रम परिपाटीरूपो भवति ॥ ६४० ॥ तमेवाह—

रसहेउं पडिसिद्धो० ॥ ६४१ ॥ रसहेतोः—गृद्ध्या रसविशेषोत्पादनाय संयोगो निषिद्धोऽर्ईदाद्यैः, संयोगो ग्लानार्थं—ग्लानभव्यत्वाय कल्पते, यद्वा यस्य अभक्तच्छन्दो न क्षुत्, यश्च सुखोचितो—राजपुत्रादिर्यश्चाद्याप्यभावितः—असञ्जातसम्यक्परिणामः शैक्षकस्तन्निमित्तं कल्पते ॥ ६४१ ॥ उक्तं संयोजनाद्वारं, अथाहारप्रमाण × × × ×

× × × कवलस्य कवलमश्नीयात्, अथवा शरीरमेव कुक्कुटी तन्मुखमण्डकं, तत्राक्षिकपोलभ्रुवां विकृतिमनापाद्य यः कवलो मुखे प्रविशति तत्प्रमाणं। अथवा कुक्कुटी—पक्षिणी तस्या अण्डकं प्रमाणं कवलस्य, भावकुक्कुटी येनाहारेण भक्तेन न न्यूनं नाप्याध्मातमुदरं भवति धृतिं च समुद्वहति ज्ञानदर्शनचारित्राणां च वृद्धिरुपजायते तावत्प्रमाण आहारो भावकुक्कुटी, अत्र भावस्य प्राधान्यविवक्षणाद्, एष प्राक् द्रव्यकुक्कुट्यप्युक्त इह भावकुक्कुट्युक्तः, तस्य द्वात्रिंशत्तमो भागोऽण्डकं, तावान् कवलः ॥ ६४२ ॥

एत्तो किणाइ हीणं० ॥ ६४३ ॥ एतस्मात्—द्वात्रिंशत्कवलप्रमाणादाहारात् किणाइ इति कियन्मात्रया—एकेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा कवलैः साधोर्हीनं हीनतरं यावदर्द्धं अर्द्धस्याप्यर्द्धमाहारं यात्रामात्राहारं धीराः—तीर्थकृदादयो ब्रुवते, न्यूनं च, एष यात्रामात्राहारः, एष एव चावमाहार इति भावः ॥ ६४३ ॥ तदेवमुक्तमाहारप्रमाणं, सम्प्रति प्रमाणदोषानाह—

पगामं निगामं च० ॥ ६४४ ॥ यः प्रकामं निकामं प्रणीतं वा × × × ×

× × × यस्त्रीन् वारान् भुङ्क्ते, त्रिभ्यो वा वारेभ्यः परतस्तद्भोजनमतिबहुशः, तदेव वारत्रयातीतमतिप्रमाणमुच्यते, अइपमाणे-त्यवयवो व्याख्यातः, अत्रैव प्रकारान्तरेण व्याख्यानमाह—भुंक्ते यद्वा अतृप्यन् एष अइप्पमाण इत्यस्य शब्दस्यार्थः अइप्पमाणे इत्यत्र च नङ्प्रत्ययस्ताच्छील्यविवक्षया यद्वा प्राकृतलक्षणवशादिति ॥ ६४७ ॥ सम्प्रति प्रमाणयुक्तहीनतरादिभोजने गुणमाह—

अहो सुसम्भृतं ! अहो स्निग्धं ! सुपक्कं सुरसमित्येवं प्रशंसन्नाहारयति, तत्पुनर्भवति भोजनं सधूमं यत्तद्द्रव्यविरूपरसगन्धास्वादतो जाततद्द्विपयव्यलीकचित्तः सन् अहो ! विरूपं कथितमपकमसंस्कृतमलवणं चेति निन्दन्नाहारयति, अयं चात्र भावार्थः-इह द्विविधा अङ्गाराः, तद्यथा-द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतः कृशानुदग्धाः खदिरादिवनस्पतिविशेषाः, भाव०माह—

अंगारत्तमपत्तं० ॥ ६५६ ॥ अङ्गारत्वमप्राप्तं ज्वलदिंधनं सधूममुच्यते, तदेवेन्धनं दग्धं धूमे गते सति अङ्गार इति, एवमिहापि चरणेन्धनं रागाग्निना निर्दग्धं साङ्गार इत्युच्यते, द्वेषाग्निना तु दह्यमानचरणेन्धनं सधूमं × × ×

× × × भगवच्छासनस्य ॥ ६६० ॥ तदेवमुक्तं साङ्गारं सधूमद्वारं, अधुना कारणद्वारमाह—

छहिं कारणेहिं साहू० ॥ ६६१ ॥

× × × षड्भिरेव च कारणैर्वक्ष्यमाणस्वरूपैः भोजनाकरणनिबन्धनैः निज्जूहितोऽन्निचि परित्यजन्नप्याचरति धर्मं ॥ ६६१ ॥ तत्र यैः षड्भिः कारणैराहारमाहारयति तानि निर्दिशति—

वेयण वेयावच्चे ॥ ६६२ ॥ इह पादैकदेशे पदसमुदायोपचरात् वेयणति क्षुद्वेदनोपशमनाय, तथाऽऽचार्यादीनां वैयावृत्त्यकरणाय, तथा ईर्यापथसंशोधनार्थं, तथा प्रेक्षादिसंयमनिमित्तं, तथा 'प्राणप्रत्ययार्थं' प्राणसन्धारणार्थं, षष्ठं पुनः कारणं धर्मचिन्तार्थं-धर्मचिन्ताऽभिवृद्ध्यर्थं भुञ्जीतेति क्रियासम्बन्धः ॥ ६६२ ॥ एनामेव गाथां विवृण्वन्नाह—

नत्थि छुहाए सरिसा० ॥ ६६३ ॥ नास्ति क्षुधा-बुभुक्षया सदृशी वेदना, उक्तं च-" पंथसमा नत्थि जरा दालिद्दसमो य परिभावो नत्थि । मरणसमं नत्थि भयं छुहासमा वेयणा नत्थि ॥ १ ॥ तं नत्थि जं न बाहइ तिलतुसमित्तंपि एत्थ कायस्स । सन्निज्झं × × ×

× × × समभैरन्यतमेन वा कारणेनाहारमाहारयन्नातिक्रामति धर्ममिति ॥ ६६४ ॥ सम्प्रति भोजनकारणप्रतिपादनार्थं सम्बन्धगाथामाह—

अहव ण कुज्जाहारं० ॥ ६६५ ॥ अथवा एभिः स्थानैर्वक्ष्यमाणस्वरूपे संयत आहारं न कुर्यात्, तत्र विचित्रा सूत्रगतिरिति षष्ठ शरीरव्यवच्छेदलक्षणकारण व्याख्यानयति–पच्छा इत्यादि, पश्चात्–शिष्यनिष्पादनादिसकलकर्तव्यतानन्तरं ' पश्चिमे काले ' पाश्चात्ये वयसि ' अप्पक्खम ' ति संलेखनाकरणेनात्मान क्षपयित्वा यावज्जीवानशनप्रत्याख्यान०

द्वितीये वा वयसि संलेखनामन्तरेण वा शरीरपरित्यागार्थमनशन् (न) प्रत्याख्यानकरणे विनाशाभावमुपदर्शयति ॥ ६६५ ॥ सम्प्रत्यभोजनकारणानि निर्दिशति—

आयके उवसग्गे० ॥ ६६६ ॥ आतङ्के–ज्वरादावुत्पन्ने सति न भुञ्जीत १, तथा ' उपसर्गे–राजस्वजनादिकृते देवमनुष्यतिर्यकृते वा सञ्जाते सति तितिक्षार्थं–उपसर्गसहनार्थं २, तथा ब्रह्मचर्यगुप्तिष्विति, अत्र षष्ठ्यर्थे सप्तमी, ततोऽयमर्थ –ब्रह्मचर्यगुप्तीनां परिपालनाय ३, तथा प्राणिदयार्थं ४, तपोहेतो तप करणनिमित्त ५, × × × ×

× × × × तनु परिहरन् न भुञ्जीत ॥ ६६७ ॥

तवहेउ चउत्थाई० ॥ ६६८ ॥ तपोहेतो –तप करणनिमित्त न भुञ्जीत, तपश्चतुर्थादिक–चतुर्थादारभ्य तावद्भवति यावत्षण्मासप्रमाण, यतो भगवद्वर्द्धमानस्वामितीर्थे तपस प्रतिषेधात्, षष्ठ पुन प्रागुक्तेन विधिना चरमकाले शरीरव्यवच्छेदार्थं भवत्यनाहार ॥ ६६८ ॥ तदेवमुक्त कारणद्वारं, तदुक्तो चोक्ता ग्रासैषणा, तदभिधानाच्च समाप्ता गवेषणाग्रहणैषणाग्रासैषणाभेदत्रिविधाप्येषणा ।

सम्प्रत्यस्या एवैषणायाः सकलदोषसङ्कलनमाह—

सोलस उग्गमदोसा० ॥ ६६९ ॥ सुगमा, सर्वसङ्ख्यया सप्तचत्वारिंशदेषणादोषाः, एतान् विशोधयन् पिण्डं विशोधयति, पिण्डविशुद्धौ च चारित्रशुद्धिः, चारित्रशुद्धौ मुक्तिसम्प्राप्तिः, उक्तं च "एए विसोहयंतो पिण्डं सोहेइ संसओ नत्थि । एए अविसोहिंते चरित्तभेयं वियाणाहि ॥ १ ॥ समणत्तणस्स सारो भिक्खायरिया जिणेहिं पन्नत्ता । एत्थ परितप्पमाणं तं जाणसु मंदसंवेगं ॥ २ ॥ नाणचरणस्स मूलं भिक्खायरिया जिणेहिं पन्नत्ता । एत्थ उ उज्जममाणं तं जाणसु तिव्वसंवेगं ॥ ३ ॥ पिण्डं असोहेयंतो × × × × ×

जा जयमाणस्स भवे० ॥ ६७१ ॥ यतमानस्य–सूत्रोक्तविधिसमग्रस्य सूत्रोक्तविधिपरिपालनपूर्णस्य अध्यात्मविशोधियुक्तस्य, रागद्वेषाभ्यां रहितस्येति भावः, या भवेत् विराधना–अपवादप्रत्यया सा भवति निर्जरा फला, इयमत्र भावना–कृतयोगिनो गीतार्थस्य कारणवसेन यतनयाऽपवादमासेवमानस्य या विराधना सा सिद्धिफला भवतीति तदेवं निक्षिप्तं पिण्डपदमेषणापदं च, तन्निक्षेपकरणाच्चाभिहितो नामनिक्षेपः, तदभिधानात् समासा–परिपूर्णा पिण्डनिर्युक्तिरिति ॥ ६७१ ॥

येनैषा पिण्डनिर्युक्तिर्युक्तिरम्या विनिर्मिता । द्वादशांगविदे तस्मै, नमः श्रीभद्रबाहवे ॥ १ ॥ विषमा पिण्डनिर्युक्तिर्विवृता येन सूरिणा । तस्मै श्रीमलयगिरिगुरवे प्रणमाम्यहं ॥ २ ॥ शिक्षया तस्य संक्षिप्य विषमार्थविवेचनं । चक्रे श्रीपिण्डनिर्युक्तेः सूरिमाणिक्यशेखरः ॥ ३ ॥ श्रीअंचलगच्छनाथाः, श्रीमेरुतुंगसूरयः । शिष्यस्तेषामिमां तेने, संशयध्वान्तदीपिकां ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीमेरुतुङ्गसूरिशिष्यश्रीमाणिक्यशेखरसूरिविनिर्मिता श्रीपिण्डनिर्युक्तिदीपिका ॥